

यही है जिन्दगी

श्री प्रियदर्शन



यही है जिन्दगी

कभी कांटों में भी ताजगी
कभी फूलों से नाराजगी
कभी पतझरों सी सादगी
कभी है बहारों की बंदगी
यही है जिन्दगी, यही है जिन्दगी

श्री प्रियदर्शन

[आचार्य श्री विजयभद्रगुप्तसूरिजी महाराज]

युनः संपादन

ज्ञानतीर्थ-कोबा

द्वितीय आयुति

वि.सं.२०६५, ३१ अगस्त-२००९

मंगल प्रसंग

राष्ट्रसंत श्रुतोद्धारक आचार्यदेवश्री पद्मसागरसूरिजी
का ७५वाँ जन्मदिवस

तिथि : भाद्र. सुद-११ दि. ३१-८-२००९, सांताक्रूज, मुंबई

मूल्य

पक्की जिल्द : रु. १७५-०० कच्ची जिल्द : रु. ८०-००

आर्थिक सौजन्य

शेठ श्री निरंजन नरोत्तमभाई के स्मरणार्थ
ह. शेठ श्री नरोत्तमभाई लालभाई परिवार

प्रकाशक

श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र
आचार्यश्री कैलाससागरसूरि ज्ञानमंदिर
कोबा, ता. जि. गांधीनगर - ३८२००७
फोन नं. (०७९) २३२७६२०४, २३२७६२५२

email : gyanmandir@kobatirth.org

website : www.kobatirth.org

मुद्रक : नवप्रभात प्रिन्टर्स, अमदावाद - ९८२५५९८८५५

टाईटल डीजाइन : आर्य ग्राफीक्स - ९९२५८०९९१०



पूज्य आचार्य भगवंत श्री विजयभद्रगुप्तसूरीश्वरजी

श्रावण शुक्ला १२, वि.सं. १९८९ के दिन पुदगाम महेसाणा (गुजरात) में मणीभाई एवं हीराबहन के कुलदीपक के रूप में जन्मे मूलचन्दभाई, जुही की कली की भांति खिलती-खुलती जवानी में १८ बरस की उम्र में वि.सं. २००७, महावद ५ के दिन राणपुर (सौराष्ट्र) में आचार्य श्रीमद विजयप्रेमसूरीश्वरजी महाराजा के करमकमलों द्वारा दीक्षित होकर पू. भुवनभानुसूरीश्वरजी के शिष्य बने. मुनि श्री भद्रगुप्तविजयजी की दीक्षाजीवन के प्रारंभ काल से ही अध्ययन-अध्यापन की सुदीर्घ यात्रा प्रारंभ हो चुकी थी. ४५ आगमों के सटीक अध्ययनोपरांत दार्शनिक, भारतीय एवं पाश्चात्य तत्वज्ञान, काव्य-साहित्य वगैरह के 'मिलस्टोन' पार करती हुई वह यात्रा सर्जनात्मक क्षितिज की तरफ मुड़ गई. 'महापंथनो यात्री' से २० साल की उम्र में शुरू हुई लेखनयात्रा अंत समय तक अथक एवं अनवरत चली. तरह-तरह का मौलिक साहित्य, तत्वज्ञान, विवेचना, दीर्घ कथाएँ, लघु कथाएँ, काव्यगीत, पत्रों के जरिये स्वच्छ व स्वस्थ मार्गदर्शन परक साहित्य सर्जन द्वारा उनका जीवन सफर दिन-ब-दिन भरापूरा बना रहता था. प्रेममरा हँसमुख स्वभाव, प्रसन्न व मृदु आंतर-बाह्य व्यक्तित्व एवं बहुजन-हिताय बहुजन-सुखाय प्रवृत्तियाँ उनके जीवन के महत्त्वपूर्ण अंगरूप थी. संघ-शासन विशेष करके युवा पीढ़ी, तरुण पीढ़ी एवं शिशु-संसार के जीवन निर्माण की प्रक्रिया में उन्हें रुचि थी... और इसी से उन्हें संतुष्टि मिलती थी. प्रवचन, वार्तालाप, संस्कार शिबिर, जाप-ध्यान, अनुष्ठान एवं परमात्म भक्ति के विशिष्ट आयोजनों के माध्यम से उनका सहिष्णु व्यक्तित्व भी उतना ही उन्नत एवं उज्ज्वल बना रहा. पूज्यश्री जानने योग्य व्यक्तित्व व महसूस करने योग्य अस्तित्व से सराबोर थे. कोल्हापुर में ता. ४-५-१९८७ के दिन गुरुदेव ने उन्हें आचार्य पद से विभूषित किया. जीवन के अंत समय में लम्बे अरसे तक वे अनेक व्याधियों का सामना करते हुए और ऐसे में भी सतत साहित्य सर्जन करते हुए दिनांक १९-११-१९९९ को श्यामल, अहमदाबाद में कालधर्म को प्राप्त हुए.

प्रकाशकीय

पूज्य आचार्य श्री विजयभद्रगुप्तसूरिजी महाराज (श्री प्रियदर्शन) द्वारा लिखित और विश्वकल्याण प्रकाशन, महेसाणा से प्रकाशित साहित्य, जैन समाज में ही नहीं अपितु जैनतर समाज में भी बड़ी उत्सुकता और मनोयोग से पढ़ा जाने वाला लोकप्रिय साहित्य है.

पूज्यश्री ने १९ नवम्बर, १९९९ के दिन अहमदाबाद में कालधर्म प्राप्त किया. इसके बाद विश्वकल्याण प्रकाशन ट्रस्ट को विसर्जित कर उनके प्रकाशनों का पुनः प्रकाशन बन्द करने के निर्णय की बात सुनकर हमारे ट्रस्टियों की भावना हुई कि पूज्य आचार्य श्री का उत्कृष्ट साहित्य जनसमुदाय को हमेशा प्राप्त होता रहे, इसके लिये कुछ करना चाहिए.

पूज्य राष्ट्रसंत आचार्य श्री पद्मसागरसूरिजी महाराज को विश्वकल्याण प्रकाशन ट्रस्टमंडल के सदस्यों के निर्णय से अवगत कराया गया. दोनों पूज्य आचार्यश्रीयों की घनिष्ठ मित्रता थी. अन्तिम दिनों में दिवंगत आचार्यश्री ने राष्ट्रसंत आचार्यश्री से मिलने की हार्दिक इच्छा भी व्यक्त की थी. पूज्य आचार्यश्री ने इस कार्य हेतु व्यक्ति, व्यक्तित्व और कृतित्व के आधार पर सहर्ष अपनी सहमती प्रदान की. उनका आशीर्वाद प्राप्त कर कोबातीर्थ के ट्रस्टियों ने इस कार्य को आगे चालू रखने हेतु विश्वकल्याण प्रकाशन ट्रस्ट के सामने प्रस्ताव रखा.

विश्वकल्याण प्रकाशन ट्रस्ट के ट्रस्टियों ने भी कोबातीर्थ के ट्रस्टियों की दिवंगत आचार्यश्री प्रियदर्शन के साहित्य के प्रचार-प्रसार की उत्कृष्ट भावना को ध्यान में लेकर **श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र, कोबातीर्थ** को अपने ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित साहित्य के पुनः प्रकाशन का सर्वाधिकार सहर्ष सौंप दिया.

इसके बाद **श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र, कोबा** ने संस्था द्वारा संचालित **श्रुतसरिता** (जैन बुक स्टॉल) के माध्यम से श्री प्रियदर्शनजी के लोकप्रिय साहित्य के वितरण का कार्य समाज के हित में प्रारम्भ कर दिया.

श्री प्रियदर्शन के अनुपलब्ध साहित्य के पुनः प्रकाशन करने की शृंखला में **यही है जिंदगी** ग्रंथ को प्रकाशित कर आपके कर कमलों में प्रस्तुत किया जा रहा है.

शेठ श्री संवेगभाई लालभाई के सौजन्य से इस प्रकाशन के लिये **श्री निरंजन नरोत्तमभाई के स्मरणार्थ, हस्ते शेठ श्री नरोत्तमभाई लालभाई परिवार** की ओर से उदारता पूर्वक आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ है, इसलिये हम **शेठ श्री नरोत्तमभाई लालभाई परिवार** के ऋणी हैं तथा उनका हार्दिक आभार मानते हैं. आशा है कि भविष्य में भी उनकी ओर से सदैव उदारता पूर्ण सहयोग प्राप्त होता रहेगा.

इस आवृत्ति का प्रूफरिडिंग करने वाले **डॉ. हेमन्त कुमार** तथा अंतिम प्रूफ करने हेतु **पंडितवर्य श्री मनोजभाई जैन** का हम हृदय से आभार मानते हैं. संस्था के कम्प्यूटर विभाग में कार्यरत **श्री केतनभाई शाह, श्री संजयभाई गुर्जर व श्री बालसंग ठाकोर** के हम हृदय से आभारी हैं, जिन्होंने इस पुस्तक का सुंदर कम्पोजिंग कर छपाई हेतु बटर प्रिंट निकाला.

आपसे हमारा विनम्र अनुरोध है कि आप अपने मित्रों व स्वजनों में इस प्रेरणादायक सत्साहित्य को वितरित करें. श्रुतज्ञान के प्रचार-प्रसार में आपका लघु योगदान भी आपके लिये लाभदायक सिद्ध होगा.

पुनः प्रकाशन के समय ग्रंथकारश्री के आशय व जिनाज्ञा के विरुद्ध कोई बात रह गयी हो तो मिच्छामि दुक्कडम्. विद्वान पाठकों से निवेदन है कि वे इस ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करें.

अन्त में नये आवरण तथा साज-सज्जा के साथ प्रस्तुत ग्रंथ आपकी जीवनयात्रा का मार्ग प्रशस्त करने में निमित्त बने और विषमताओं में भी समरसता का लाभ कराये ऐसी शुभकामनाओं के साथ...

ट्रस्टीगण

श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र, कोबा

चिन्ता : आग - एक जिन्दा जलाए

चिंतन : चिराग - एक जिन्दगी को रास्ता बताए

चिन्तन!

बड़ा भारी एवं बोझिल शब्द लगता है, आजकल चिंता के चौराहे पर भटकने वाले हम लोगों को! पर जीवन को संतुलित एवं सामंजस्यपूर्ण बनाये रखने के लिए चिंता नहीं वरन् चिंतन की पगडंडी पर चलना जरूरी होता है! चिंतन की बरसती चाँदनी में ही निरंतर चिदानन्द की अनुभूति प्राप्य होती है!

बिखराव, तनाव एवं टकराव के साये में सिमटी-सिमटी जिन्दगी कहीं कुंठा, हताशा एवं संत्रास का शिकार न बन जाए, इसके लिए अत्यंत आवश्यक है कि चिंतन का नन्हा सा भी दिया भीतर में जलता रहे!

काफी वैविध्य भरा है, प्रस्तुत पुस्तक के पन्नों पर बिखरे चिंतन में!

हालांकि यह चिंतन सर्जक का स्व का है... निजी है... पर उन्होंने जीवन के हर एख पहलू को भिन्न-भिन्न अंदाज में जानने-परखने का सार्थक प्रयास किया है... शायद उनके चिंतन की कोई एकाध चिनगारी भी हमारे भीतर में चिंतन की मशाल जला दे! और हमारा विचार-व्योम उस प्रकाश से आलोकित हो उठे!

वैसे जिन्दगी और कुछ भी नहीं है... जन्म से मौत तक का फासला! पर वह दूरी भी तय करने में आदमी हाँफ जाता है... कितने भी रुप रचाए... कितने भी नाच दिखाए... या कोई भी अंदाज सिखाए... आखिर जिन्दगी का मुकाम है मौत के नाम! इसी बात को बड़ी खूबसूरती के साथ पुस्तक के आवरण में पेश किया गया है!

'A journey from Credal to Crematirium' or from 'Womb to Tomb' का सत्य जिसने समझा, जिसने पाया है, वह तो भीतर से मालामाल हो गया... वरना दिल की दुनिया तो सदियों से कंगाल है हमारी...!

माटी, माटी में मिल जाए या खाक हो जाए इससे पहले उसे महकाएँ चिंतन की सदाबहार खुशबू से ताकि मौत के बाद का सफर भी बरकरार रहे कुदरत के कारोबार में!

- भद्रगुप्तविजय

धर्म कला व श्रुत-साधना का आह्लादक धाम **श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र, कोबा तीर्थ**

अहमदाबाद-गांधीनगर राजमार्ग पर स्थित साबरमती नदी के समीप सुरम्य वृक्षों की घटाओं से घिरा हुआ यह कोबा तीर्थ प्राकृतिक शान्तिपूर्ण वातावरण का अनुभव कराता है। गच्छाधिपति, महान जैनाचार्य श्रीमत् कैलाससागरसूरीश्वरजी म. सा. की दिव्य कृपा व युगद्रष्टा राष्ट्रसंत आचार्य प्रवर श्रीमत् पद्मसागरसूरीश्वरजी के शुभाशीर्वाद से श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र की स्थापना २६ दिसम्बर १९८० के दिन की गई थी। आचार्यश्री की यह इच्छा थी कि यहाँ पर धर्म, आराधना और ज्ञान-साधना की कोई एकाध प्रवृत्ति ही नहीं वरन् अनेकविध ज्ञान और धर्म-प्रवृत्तियों का महासंगम हो। एतदर्थ आचार्य श्री कैलाससागरसूरीश्वरजी की महान भावनारूप आचार्य श्री कैलाससागरसूरी ज्ञानमंदिर का खास तौर पर निर्माण किया गया।

श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र अनेकविध प्रवृत्तियों में अपनी निम्नलिखित शाखाओं के सत्प्रयासों के साथ धर्मशासन की सेवा में तत्पर है।

(१) महावीरालय : हृदय में अलौकिक धर्मोल्लास जगाने वाला चरम तीर्थकर श्री महावीरस्वामी का शिल्पकला युक्त भव्य प्रासाद 'महावीरालय' दर्शनीय है। प्रथम तल पर गर्भगृह में मूलनायक महावीरस्वामी आदि १३ प्रतिमाओं के दर्शन अलग-अलग देरियों में होते हैं तथा भूमि तल पर आदीश्वर भगवान की भव्य प्रतिमा, माणिभद्रवीर तथा भगवती पद्मावती सहित पाँच प्रतिमाओं के दर्शन होते हैं। सभी प्रतिमाएँ इतनी मोहक एवं चुम्बकीय आकर्षण रखती हैं कि लगता है सामने ही बैठे रहें।

मंदिर को परंपरागत शैली में शिल्पांकनों द्वारा रोचक पद्धति से अलंकृत किया गया है, जिससे सीढ़ियों से लेकर शिखर के गुंबज तक तथा रंगमंडप से गर्भगृह तक का हर प्रदेश जैन शिल्प कला को आधुनिक युग में पुनः जागृत करता दृष्टिगोचर होता है। द्वारों पर उत्कीर्ण भगवान महावीर देव के प्रसंग २४ यक्ष, २४ यक्षिणियों, १६ महाविद्याओं, विविध स्वरूपों में अप्सरा, देव, किन्नर, पशु-पक्षी सहित वेल-वल्लरी आदि इस मंदिर को जैन शिल्प एवं स्थापत्य के क्षेत्र में एक अप्रतिम उदाहरण के रूप में सफलतापूर्वक प्रस्तुत करते हैं।

महावीरालय की विशिष्टता यह है कि आचार्य श्री कैलाससागरसूरीश्वरजी

म.सा. के अन्तिम संस्कार के समय प्रतिवर्ष २२ मई को दुपहर २ बजकर ७ मिनट पर महावीरालय के शिखर में से होकर सूर्य किरणें श्री महावीरस्वामी के ललाट को सूर्यतिलक से देदीप्यमान करे ऐसी अनुपम एवं अद्वितीय व्यवस्था की गई है। प्रति वर्ष इस आह्लादक घटना का दर्शन बड़ी संख्या में जनमेदनी भावविभोर होकर करती है।

(२) आचार्य श्री कैलाससागरसूरि स्मृति मंदिर (गुरु मंदिर) : पूज्य गच्छाधिपति आचार्यदेव प्रशान्तमूर्ति श्रीमत् कैलाससागरसूरीश्वरजी के पुण्य देह के अन्तिम संस्कार स्थल पर पूज्यश्री की पुण्य-स्मृति में संगमरमर का नयनरम्य कलात्मक गुरु मंदिर निर्मित किया गया है। स्फटिक रत्न से निर्मित अनन्तलब्धिनिधान श्री गौतमस्वामीजी की मनोहर मूर्ति तथा स्फटिक से ही निर्मित गुरु चरण-पादुका वास्तव में दर्शनीय हैं।

(३) आचार्य श्री कैलाससागरसूरि ज्ञानमन्दिर (ज्ञानतीर्थ) : विश्व में जैनधर्म एवं भारतीय संस्कृति के विशालतम अद्यतन साधनों से सुसज्ज शोध संस्थान के रूप में अपना स्थान बना चुका यह ज्ञानतीर्थ श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र की आत्मा है। ज्ञानतीर्थ स्वयं अपने आप में एक लब्धप्रतिष्ठ संस्था है। आचार्य श्री कैलाससागरसूरि ज्ञानमंदिर के अन्तर्गत निम्नलिखित विभाग कार्यरत हैं : **(i) देवद्विगणि क्षमाश्रमण हस्तप्रत भांडागार (ii) आर्य सुधर्मास्वामी श्रुतागार** (मुद्रित पुस्तकों का ग्रंथालय) **(iii) आर्यरक्षितसूरि शोधसागर** (कम्प्यूटर केन्द्र सहित) **(iv) सम्राट सम्प्रति संग्रहालय** : इस कलादीर्घा-म्यूजीयम में पुरातत्त्व-अध्येताओं और जिज्ञासु दर्शकों के लिए प्राचीन भारतीय शिल्प कला परम्परा के गौरवमय दर्शन इस स्थल पर होते हैं। पाषाण व धातु मूर्तियों, ताड़पत्र व कागज पर चित्रित पाण्डुलिपियों, लघुचित्र, पट्ट, विज्ञप्तिपत्र, काष्ठ तथा हस्तिदंत से बनी प्राचीन एवं अर्वाचीन अद्वितीय कलाकृतियों तथा अन्यान्य पुरावस्तुओं को बहुत ही आकर्षक एवं प्रभावोत्पादक ढंग से धार्मिक व सांस्कृतिक गौरव के अनुरूप प्रदर्शित की गई है। **(v) शहर शाखा** : पूज्य साधु-साध्वीजी भगवंत एवं श्रावक-श्राविकाओं को स्वाध्याय, चिंतन और मनन हेतु जैनधर्म कि पुस्तकें समीप में ही उपलब्ध हो सके इसलिए बहुसंख्य जैन बस्तीवाले अहमदाबाद (पालडी-टोलकनगर) विस्तार में आचार्य श्री कैलाससागरसूरि ज्ञानमंदिर की एक शहर शाखा का ई. सं. १९९९ में प्रारंभ किया गया था। जो आज चतुर्विध संघ के श्रुतज्ञान के अध्ययन हेतु निरंतर अपनी सेवाएँ दे रही है।

(४) **आराधना भवन** : आराधक यहाँ धर्माराधना कर सके इसके लिए आराधना भवन का निर्माण किया गया है. प्राकृतिक हवा एवं रोशनी से भरपूर इस आराधना भवन में मुनि भगवंत स्थिरता कर अपनी संयम आराधना के साथ-साथ विशिष्ट ज्ञानाभ्यास, ध्यान, स्वाध्याय आदि का योग प्राप्त करते हैं.

(५) **धर्मशाला** : इस तीर्थ में आनेवाले यात्रियों एवं महेमानों को ठहरने के लिए आधुनिक सुविधा संपन्न यात्रिकभवन एवं अतिथिभवन का निर्माण किया गया है. धर्मशाला में वातानुकूलित एवं सामान्य मिलकर ४६ कमरे उपलब्ध है.

प्रकृति की गोद में शांत और सुरम्य वातावरण में इस तीर्थ का वर्ष भर में हजारों यात्री लाभ लेते हैं.

(६) **भोजनशाला व अल्पाहार गृह** : तीर्थ में पधारनेवाले श्रावकों, दर्शनार्थियों, मुमुक्षुओं, विद्वानों एवं यात्रियों की सुविधा हेतु जैन सिद्धान्तों के अनुरूप सात्त्विक उपहार उपलब्ध कराने की विशाल भोजनशाला व अल्पाहार गृह में सुन्दर व्यवस्था है.

(७) **श्रुत सरिता** : इस बुक स्टाल में उचित मूल्य पर उत्कृष्ट जैन साहित्य, आराधना सामग्री, धार्मिक उपकरण, कैसेट्स एवं सी.डी. आदि उपलब्ध किये जाते हैं. यहीं पर एस.टी.डी टेलीफोन बूथ भी है.

विश्वमैत्री धाम - बोरीजतीर्थ, गांधीनगर : योगनिष्ठ आचार्य श्रीमद् बुद्धिसागरसूरिजी महाराज की साधनास्थली बोरीजतीर्थ का पुनरुद्धार परम पूज्य आचार्यदेव श्री पद्मसागरसूरीश्वरजी म.सा. की प्रेरणा एवं शुभाशीर्वाद से श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र संलग्न विश्वमैत्री धाम के तत्त्वावधान में नवनिर्मित १०८ फीट उँचे विशालतम महालय में ८१.२५ ईंच के पद्मासनस्थ श्री वर्द्धमान स्वामी प्रभु प्रतिष्ठित किये गये हैं. ज्ञातव्य हो कि वर्तमान मन्दिर में इसी स्थान पर जमीन में से निकली भगवान महावीरस्वामी आदि प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा योगनिष्ठ आचार्य श्रीमद् बुद्धिसागरसूरीश्वरजी महाराज द्वारा हुई थी. नवीन मन्दिर स्थापत्य एवं शिल्प दोनों ही दृष्टि से दर्शनीय है. यहाँ पर महिमापुर (पश्चिमबंगाल) में जगत्शेठ श्री माणिकचंदजी द्वारा १८वीं सदी में कसौटी पथर से निर्मित भव्य और ऐतिहासिक जिनालय का पुनरुद्धार किया गया है. वर्तमान में इसे जैनसंघ की ऐतिहासिक धरोहर माना जाता है. निस्संदेह इससे इस तीर्थ परिसर में पूर्व व पश्चिम भारत के जैनशिल्प का अभूतपूर्व संगम हुआ है.

आचार्य श्री भद्रगुप्तसूरि (प्रियदर्शन) रचित व सर्जित साहित्य और विश्वकल्याण प्रकाशन, महेसाणा द्वारा प्रकाशित उपलब्ध पुस्तकें (अब श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र, कोबातीर्थ से उपलब्ध व प्रकाश्यमान)

हिन्दी पुस्तकें

प्रवचन

१.	पर्व प्रवचनमाला	२५.००
२-४.	श्रावकजीवन (भाग २, ३, ४)	१५०.००
५.	शांतसुधारस (भाग १)	५०.००

कथा-कहानियाँ

१.	शोध-प्रतिशोध (समरादित्य : भव-१)	३०.००
२.	द्वेष-अद्वेष (समरादित्य : भव-२)	३०.००
३.	विश्वासघात (समरादित्य : भव-३)	३०.००
४.	वैर विकार (समरादित्य : भव-४)	५०.००
५.	स्नेह संदेह (समरादित्य : भव-६)	५०.००
६.	संसार सागर है	३०.००
७.	*प्रीत किये दुःख होय	डी.-१९५.००/ज.-९०.००
८.	व्रतकथा	१५.००
९.	कथादीप	१०.००
१०.	फूलपत्ती	८.००
११.	छोटी सी बात	८.००
१२.	*कलिकाल सर्वज्ञ	डी.-१२०.००/ज.-५५.००
१३.	हिसाब किताब	१५.००
१४.	नैन बहे दिन रैन	३०.००
१५.	सबसे ऊँची प्रेम सगाई	३०.००

तत्त्वज्ञान

१.	ज्ञानसार (संपूर्ण)	५०.००
२.	*समाधान	५०.००
३.	मारग साचा कौन बतावे	३०.००
४.	*पीओ अनुभव रस प्याला	डी.-१०१.००/ज.-४२.००
५.	शान्त सुधारस (अर्थ सहित)	१२.००
६.	मोती की खेती	५.००
७.	प्रशमरति (भाग - २)	२५.००

निबंध : मौलिक चिंतन

१.	स्वाध्याय	३०.००
२.	चिंतन की चाँदनी	३०.००

૩.	જિનદર્શન	૧૦.૦૦
૪.	શુભરાત્રિ	૫.૦૦
૫.	સુપ્રભાતમ્	૫.૦૦
૪.	*યહી હૈ જિંદગી	ડી.-૧૭૫.૦૦/જ.-૮૦.૦૦
૫.	*જિંદગી ઇમ્તિહાન લેતી હૈ	ડી.-૧૪૨.૦૦/જ.-૬૫.૦૦
૬.	*માયાવી રાની	ડી.-૧૨૦.૦૦/જ.-૫૦.૦૦

बच्चों के लिए (सचित्र)

૧-૩.	વિજ્ઞાન સેટ (૩ પુસ્તક)	૨૦.૦૦
------	------------------------	-------

ગુજરાતી પુસ્તકો

પ્રવચનો

૧-૪.	ધમ્મં સરણં પવજ્જામિ ભાગ ૧ થી ૪	૨૦૦.૦૦
૫-૭.	શ્રાવક જીવન ભાગ ૨, ૩, ૪	૧૫૦.૦૦
૮-૧૦.	શાંત સુધારસ ભાગ ૧ થી ૩	૧૫૦.૦૦
૧૧.	પર્વ પ્રવચનમાળા	૫૦.૦૦
૧૨.	મનને બચાવો	૧૫.૦૦

કથા-વાર્તા સાહિત્ય

૧૩-૧૫.	*સમરાહિત્ય મહાકથા ભાગ ૧ થી ૩	૪૦૦.૦૦
૧૬.	*પાંપણે બાંધ્યું પાણિયારું	ડી.-૧૨૫-૦૦/જ.-૫૦.૦૦
૧૭.	*પ્રીત કિયે દુઃખ હોય	ડી.-૧૬૫-૦૦/જ.-૬૦.૦૦
૧૮.	*એક રાત અનેક વાત	ડી.-૧૪૧-૦૦/જ.-૬૧.૦૦
૧૯.	નીલ ગગનનાં પંખેરુ	૩૦.૦૦
૨૦.	મને તારી યાદ સતાવે	૩૦.૦૦
૨૧.	દોસ્તી	૨૫.૦૦
૨૨.	સર્વજ્ઞ જેવા સૂરિદેવ	૩૦.૦૦
૨૩.	અંજના	૨૦.૦૦
૨૪.	ફૂલ પાંદડી	૮.૦૦
૨૫.	વ્રત ધરે ભવ તરે	૧૫.૦૦
૨૬.	શ્રદ્ધાની સરગમ	૩૦.૦૦
૨૭.	શોધ પ્રતિશોધ	૩૦.૦૦
૨૮.	નિરાંતની વેળા	૨૦.૦૦
૨૯.	વાર્તાની વાટે	૨૦.૦૦
૩૦.	વાર્તાના ઘાટે	૨૦.૦૦
૩૧.	હિસાબ કિતાબ	૨૦.૦૦
૩૨.	રીસાયેલો રાજકુમાર	૨૦.૦૦

૩૩.	*સુલસા	ડી.-૧૬૫-૦૦/જ.-૬૦.૦૦
૩૪-૩૬	*જૈન રામાયણ ભાગ-૧ થી ૩	ડી.-૪૬૫-૦૦/જ.-૧૮૫.૦૦
૩૭.	*મયણા	ડી.-૧૭૦-૦૦/જ.-૬૫.૦૦
તત્ત્વજ્ઞાન-વિવેચન		
૩૮.	મારગ સાચા કૌન બતાવે	૩૦.૦૦
૩૯.	સમાધાન	૪૦.૦૦
૪૦.	*પીઝો અનુભવ રસ પ્યાલા	ડી.-૧૦૧-૦૦/જ.-૪૨.૦૦
૪૧.	*જ્ઞાનસાર	ડી.-૨૨૦-૦૦/જ.-૧૧૫.૦૦
૪૨.	*પ્રશમરતિ	ડી.-૩૦૧-૦૦/જ.-૧૧૫.૦૦
મૌલિક ચિંતન / નિબંધ		
૪૩.	હું તો પલ પલમાં મુંઝાઉં	૩૦.૦૦
૪૪.	તારા દુઃખને ખંખેરી નાંખ	૪૦.૦૦
૪૫.	ન મિથતે	૧૦.૦૦
૪૬.	ભવના કેરા	૧૫.૦૦
૪૭.	જિનદર્શન (દર્શન વિધિ)	૧૦.૦૦
૪૮.	માંગલિક (નિત્ય સ્વાધ્યાય)	૮.૦૦
૪૯.	સ્વાધ્યાય	૩૦.૦૦
૫૦.	તીર્થયાત્રા	૮.૦૦
૫૧.	ત્રિલોકદર્શન	૨૫.૦૦
૫૨.	*લય-વિલય-પ્રલય	ડી.-૧૬૮-૦૦/જ.-૭૫.૦૦
૫૩.	સંવાદ	૪૦.૦૦
૫૪.	હું મને શોધી રહ્યો છું	૪૦.૦૦
૫૫.	હું તને શોધી રહ્યો છું	૪૦.૦૦
બાળકો માટે રંગીન સચિત્ર		
૫૬.	વિજ્ઞાન સેટ (૩ પુસ્તકો)	૨૦.૦૦
વિવિધ		
૫૭.	ગીતગંગા (ગીતો)	૨૦.૦૦
૫૮.	સમતા સમાધિ	૫.૦૦
૫૯.	*વિચાર પંખી	ડી.-૧૨૦-૦૦/જ.-૫૦.૦૦

English Books

1.	The Way Of Life [Part 1 to 4]	160.00
2.	Jain Ramayana [Part 1 to 3]	130.00
3.	Bury Your Worry	30.00
4.	Children's 3 Books Set	20.00
5.	A Code of Conduct	6.00
6.	The Treasure of mind	5.00
7.	*The Guide Lines Of Jainism	60.00

* શ્રી મહાવીર જૈન આરાધના કેન્દ્ર, કોબા દ્વારા પુનઃ પ્રકાશિત

अनुक्रम

१. किसी को समझाने से पहले उसे समझो	१
२. आँसूभरी अभ्यर्थना	३
३. तुम्हीं तुम्हारे निर्माता	५
४. सबके साथ दोस्ती	७
५. शुक्लध्यान का रास्ता : धर्मध्यान के महल में	९
६. मिलन और जुदाई, रहे सदा नहीं भाई!	१२
७. स्वयं को जगाने का पर्व	१४
८. जीवन की परिभाषा	१६
९. केवल देखना है... केवल जानना है!	१८
१०. दृश्य एक... दृष्टि अनेक... द्रष्टा अनेक...	२०
११. तृप्ति के तीर पर	२२
१२. राग की आग बड़ी खतरनाक	२४
१३. श्रद्धा का सहयोग	२६
१४. अपेक्षा तैरा भी दे... गिरा भी दे	२८
१५. बाहर भोगी : भीतर योगी बाहर योगी : भीतर भोगी	३०
१६. होना मुझ को निर्बधन	३२
१७. अविनाशी के अनुरागी होना	३४
१८. देखो... मगर परदा उठाकर	३६
१९. सब कुछ 'स्व' में है	३८
२०. श्रमण जीवन की सार्थकता	४०
२१. सिद्धशिला पर जाना है	४२
२२. खिला दो कमल, कृपासिंधु!	४४
२३. जन्म-मरण मिटेंगे कब?	४६
२४. सुखों की याद नहीं, दुःखों की फरियाद नहीं	४८
२५. संवादिता की शहनाई	५०
२६. यौवन को उजियारा दो!	५२
२७. स्वमान सम्हालिए	५४
२८. प्रीत, एक परमात्मा के साथ	५६

२९. सेवा भी सद्भाव पूर्ण!	५८
३०. विरति पर विरक्तिभरी... ..	६०
३१. शब्द सहना भी साधना है!	६२
३२. पसंद-नापसंद में से मुक्ति चाहिए	६४
३३. मोक्ष : यहीं पर... अभी!	६६
३४. नये वर्ष की प्यास	६८
३५. क्या है पसंद? क्षमा या सजा?	७०
३६. एकांत : अंगारा भी... अमृतधारा भी... ..	७२
३७. आनंद की आम्रडाली	७४
३८. सहने की शक्ति देना मेरे देव!	७६
३९. आनंद की अनुभूति का राजमार्ग	७८
४०. आवरण उतार दो आग्रह के	८०
४१. पसंदगी की 'रामायण'	८२
४२. होनी तो होकर रहे	८४
४३. अलग हो अतृप्ति से	८६
४४. पर की आशा... सदा निराशा... ..	८८
४५. कोशिश... पर किसलिए?	९०
४६. कुछ भी नहीं चाहिए : सिवा तुम्हारे!	९२
४७. पल-पल बदलते रिश्ते	९४
४८. इच्छाओं से मुक्त बनें	९६
४९. अपने को केवल माध्यम समझें	९८
५०. अभिनय जब जीवित हो उठता है।	१००
५१. सिद्धि चाहिए या प्रसिद्धि?	१०२
५२. जीने का तरीका	१०४
५३. चल अकेला... चल अकेला... ..	१०६
५४. पाप तुम्हारे खोल दो	१०८
५५. पहले स्थिर बनिए	११०
५६. चलें सूक्ष्म विश्व की यात्रा पर	११२
५७. अकेलापन अखरने न लगे	११४
५८. बाहर नहीं... भीतर देखो	११६

५९. भक्ति की शक्ति	११८
६०. 'अहं' का वहम छोड़ें	१२०
६१. खुदा को खुद ही रूबरू देखना है	१२२
६२. लगाव नहीं अलगाव रखें	१२४
६३. सपने देखो... मगर सच्चे-सच्चे	१२६
६४. रूप-अनुरूप की धूप	१२८
६५. दाँव पर सब कुछ लगा दो	१३०
६६. करुणाभरी कामना	१३३
६७. अध्यात्म यानी क्या?	१३५
६८. भीतर का सिंगार करो	१३७
६९. झगड़ा देखने का	१३९
७०. याद करो... फरियाद मत करो	१४१
७१. अब पछताए क्या होय?	१४३
७२. दुःख की जड़ आसक्ति	१४५
७३. दंभ एक ग्रंथि है	१४७
७४. करुणा माँगें... परमात्मा की	१४९
७५. मुझको निर्भय होना है	१५२
७६. निर्दंभ बनने के लिए निरपेक्ष बनना जरूरी	१५५
७७. संबंध जब शोषण करते हैं	१५८
७८. वीतरागी की लगन लगाएँ	१६१
७९. अनजान क्या आत्मीय नहीं हो सकते?	१६४
८०. वर्तमान में जीना सीखो	१६७
८१. जीवन तेरे रूप अनेक	१७०
८२. आसक्ति से बचते रहना	१७३
८३. मोक्ष कहाँ है? क्या है?	१७६
८४. ओप्फोह! ये क्या हो रहा है?	१७९
८५. वहाँ नहीं, यहाँ देखें!	१८२
८६. आनंदमय जीवन हो	१८५
८७. अपने को ऊँचाइयों पर पहुँचना है	१८८
८८. जीवन-सफर आनंद से परिपूर्ण हो	१९१

८९. समय को सम्हाल कर रखें	१९४
९०. प्यारभरी चाहना	१९७
९१. परमात्मा का प्रभाव	२००
९२. परमात्मा की जीवनयात्रा	२०२
९३. परमात्मा की साधना	२०४
९४. परमात्मा की धर्म-प्रभावना	२०६
९५. परमात्मा का विरह	२०८
९६. तुम ही तुम्हारे साथ हो	२१०
९७. नमन में श्रद्धा का जनम	२१२
९८. आज के दिन इतना करो!	२१४
९९. खुद हो सोने जैसे	२१६
१००. 'अल्फा' से 'ओमेगा' तक	२१९
१०१. समझदारी की माँग	२२२
१०२. तुलना करें, पर किससे?	२२५
१०३. कोई तुम्हें देख रहा है!	२२८
१०४. विरक्ति विशिष्ट शक्ति है	२३०
१०५. तुम खुद महान हो	२३२
१०६. बोली से पहचानिए	२३५
१०७. सबसे बड़ी समस्या - 'मैं!'	२३७
१०८. अहंकार अप्रस्तुत है	२३९
१०९. भेदभरी दुनिया में खेद	२४१
११०. धारणा पर धीरज के साथ	२४४
१११. दुःख के कारण जान लो	२४७
११२. भाव का प्रभाव	२५०
११३. बचपन चाहता है तुम्हें	२५२
११४. संबंधों की बुनियाद : विश्वास	२५४
११५. नहीं किसी से नाराजगी	२५६
११६. अपराधी को क्षमा	२५९
११७. आक्रामक पर औदार्यसहित	२६१
११८. खुदी को जरा बुलंद करो	२६३

११९. बोलो, पर सोच-समझकर	२६५
१२०. देकर के लीजिए	२६७
१२१. अभी आगे और मुकाम है	२६९
१२२. बदला लेने की रीत	२७१
१२३. कहाँ से कहाँ तक?	२७३
१२४. 'यह भी चला जायेगा'	२७५
१२५. प्रेम 'प्लस पाइंट' देखता है	२७७
१२६. तुलना को भूलना होगा...!	२७९



9. किसी को समझाने से पहले उसे समझो

मध्यरात्रि का समय था। धर्मस्थान में नीरव शांति थी। पासवाले वृक्ष पर कभी-कभी पक्षियों का कलरव सुनाई देता था और दूर से कुछ यंत्रालयों की तालबद्ध ध्वनि आ रही थी... बाह्य वातावरण शांत-प्रशांत और आह्लादक था... परंतु निद्रा नहीं आ रही थी। क्योंकि मन कुछ मंथन कर रहा था... मन में प्रश्न था, उत्तर नहीं मिल रहा था! समस्या थी, समाधान नहीं मिल रहा था!

‘बात अच्छी और सच्ची होने पर भी वह क्यों नहीं मान रहा है?’ मन का ऐसा आग्रह प्रबल हो रहा था। ‘मेरी बात अच्छी और सच्ची है - फिर भी वह क्यों स्वीकार नहीं करता? उसे स्वीकार करनी चाहिए।’

क्या मेरा मन ऐसे आग्रह से अशांत था? जहाँ आग्रह वहाँ अशांति। तत्क्षण मेरी विचार सृष्टि में श्रमण भगवान महावीर स्वामी की करुणामय मूर्ति उभर आयी... उन्होंने क्या जमाली मुनि को... जो उनके जामाता थे... जो उनके शिष्य थे... सच्ची बात समझाने का प्रयत्न नहीं किया था? जमाली मुनि नहीं मान रहे थे ‘कडेमाणे कडे’ का सिद्धांत। भगवान ने कई दिनों तक जमाली को सिद्धांत समझाया... सिद्धांत अच्छा था, सच्चा था, फिर भी जमाली ने नहीं माना।

ऐसा कोई नियम (Rule) नहीं कि हर मनुष्य सच्चा और अच्छा माने ही। सत्य सबको अच्छा नहीं लगता! जो अच्छा लगता है... वह सब सच्चा ही हो - ऐसा भी नियम नहीं है। वे तो सर्वज्ञ वीतराग परमात्मा थे... न था उनको राग, न था उनको द्वेष! थी एक परम करुणा! जब अपने शिष्य ने सत्य को स्वीकार नहीं किया, कह दिया : ‘जहा सुक्खं देवाणुप्पिया! - हे देवानुप्रिय! तुझे जैसे सुख हो, वैसा कर!’

मन के प्रश्न का उत्तर मिल गया! समस्या का समाधान मिल गया!

आनंद-आनंद हो गया... चित्त की अस्वस्थता दूर हो गयी... मन में संवादिता प्रवाहित होने लगी।

मुझे आग्रह छोड़ देना चाहिए, मन में भी आग्रह नहीं रखना चाहिए। दूसरों के लिए सत्य का आग्रह नहीं, स्वयं के लिए अवश्य! सत्य को प्रत्येक जीवात्मा स्वीकार नहीं कर सकता। सत्य-स्वीकार के लिए आत्मा की विशिष्ट योग्यता चाहिए। ऐसी योग्यता कुछ ‘कर्मों के क्षयोपशम’ से प्रकट होती है, कुछ ‘कालपरिपाक’ से प्राप्त होती है...।

यही है जिंदगी**२**

‘आज भले ही वह सत्य को स्वीकार नहीं करे, भविष्य में करेगा... समय-काल पर छोड़ दो उसे... जब उसकी आत्मा योग्यता संपादन करेगी, सत्य को स्वीकार कर लेगी।’

दूसरी बात : जो बात भगवान महावीर स्वामी अपनी शिष्या को... अपनी पुत्री प्रियदर्शना को नहीं समझा पाए, महान श्रावक सद्दालपुत्र ने उस सिद्धांत को समझा दिया! आज मैं उसको सच्ची बात नहीं समझा सकता हूँ, कोई चिंता नहीं, सत्य समझाने में दूसरा कोई निमित्त बनेगा! अब मैं ऐसा आग्रह नहीं रखूँगा कि मेरी बात उसको माननी ही चाहिए। किसी दूसरे से भी वह सच्ची बात मानेगा तो भी मुझे प्रसन्नता होगी।

मन का समाधान हो गया! व्यवधान दूर हो गया!

सत्य का संविधान मिल गया! धर्मध्यान लग गया!



२. आँसूभरी अभ्यर्थना

संध्या का समय है। पश्चिम दिशा के वातायन में अकेला बैठा हूँ। इन दिनों क्या पता... अकेलापन अच्छा लग रहा है। क्षितिज की ओर देखता हूँ। लाल-पीला-काला ये सारे रंग क्षितिज को रंग रहे हैं। समय व्यतीत होता है... मनमोहक रंगलीला धीरे-धीरे समाप्त होने जा रही है। मन में एक विचार आ जाता है: 'ठीक इसी तरह जीवन के रंग भी अदृश्य हो जाएँगे? मृत्यु का अंधकार छा जाएगा? कब? नहीं जानता हूँ।'

अनंत-अनंत जन्मों से नितांत पराभूत, असहाय, निरुपाय... अनाथ सा भटक रहा हूँ इस अंत, हीन संसार में! कितनी आकांक्षाएँ, कामनाएँ, कल्पनाएँ और संकल्प-विकल्प उभर रहे हैं, इस मन में! कहता हूँ कि 'मुझे मुक्ति चाहिए' चाहता हूँ बंधनों को! प्यारे लगते हैं राग-द्वेष के असंख्य बंधन! मुक्ति कब और कहाँ होगी, नहीं जानता हूँ।

मेरे अपराधों का अंत नहीं। जब मेरे असंख्य अपराधों की दुःखद स्मृति हो आती है, मुझे लगता है, मैं दीन और दयनीय हो गया हूँ। मैं अनंत काल से अनंत जीवों का अपराधी हूँ। अपने ही क्षुद्र स्वार्थों से मैंने कितनी जीवहिंसा की है? कितनी निर्दयता और निर्ममता से जीवों को कष्ट दिये हैं? न कोई ग्लानि... न कोई विरक्ति...। अपनी दिन-दिन गहरी होती इस आत्मव्यथा में मैं अपने आपको अरक्षित... अशरण पा रहा हूँ... कहाँ-कैसे रक्षा होगी... शरण मिलेगी - नहीं जानता हूँ।

बार-बार आत्मा बेचैन हो उठती है...। चित्त का उद्वेग बढ़ता ही जाता है। क्या मैं स्वयं बेचैनी और उद्वेग में अपने आपको उलझाए नहीं रखता हूँ? दूर से एक मरीचिका पूर्ण आवेग से खींच रही है। आहा... मैं अपने आपसे ही छल कर रहा हूँ, अपने से ही आँख मिचौली खेल रहा हूँ। जीवन नीरस, जड़ और चेतनाहीन बन गया है। नहीं है नवीन ताजगी, नया उत्साह और अभिनव चेतना। महायात्रा - मुक्तियात्रा का नक्शा बनते-बनते उलझ जाता है... यात्रा-पथ अवरुद्ध हो गया है। विफलताओं के शून्य काले धब्बों से आँखें मुरझा गई हैं। महायात्रा के पथ पर से अवरोध कब दूर होंगे - नहीं जानता हूँ।

फिर एक नया आवेग नस-नस में लहरा जाता है। असंख्य काल से चली आई तीर्थकरों की अलभ्य... महामूल्यवान ज्ञानसंपत्ति के रत्न-भंडार देखता

यही है जिंदगी

४

हूँ... अचिन्त्य और अकल्पित रत्न यहाँ संग्रहीत हैं। देखकर क्षणभर मुख पर मुस्कान खिल जाती है... आनंद का उन्मुक्त प्रवाह आँखों से बह जाता है। यह ज्ञानागार... यह अक्षय संपत्ति... सबके लिए लभ्य है। मन आह्लादित हो जाता है... परंतु विकल्प उठता है : इस अमूल्य ज्ञानसंपत्ति को पाने में कोई मर्यादा, कोई शर्त, कोई अंतराय, कोई व्यक्तिभेद, कोई विधि-निषेध...? अरे, ऐसे क्षुद्र विकल्पों से मेरा छुटकारा कब होगा? नहीं जानता हूँ।

निर्द्वन्द्व और निरुद्वेग बन जाऊँ... परंतु कैसे? यह प्रश्न बार-बार हृदय को बिंध रहा है... पागल मन का समाधान नहीं हो रहा है... आँखों में से आँसू बहने लगते हैं... साश्रु-नयन मैं परमात्मा से प्रार्थना करता हूँ :

‘हे शरण्य! हे कारुण्य! बोलो, तुम्हीं बताओ, मेरा इस संसार से कब छुटकारा होगा? मुझे कब मुक्ति मिलेगी? मैं नहीं जानता हूँ।’



३. तुम्हीं तुम्हारे निर्माता

कोई भी प्रसंग हो, कोई भी घटना हो, हम उस प्रसंग को या घटना को देखकर, सुनकर अथवा पढ़कर क्या सोचते हैं - उत्थान और पतन की... वह विचारधारा, वह चिंतन ही आधारशिला है।

प्रसंग कैसा भी हो - पापमय हो या धर्ममय, घटना कैसी भी हो - पापयुक्त या धर्मयुक्त, कोई महत्वपूर्ण बात नहीं है। महत्वपूर्ण है हमारा चिंतन, हमारी विचारधारा! कोई जरूरी नहीं कि प्रसंग हमारे साथ बना हो, घटना हमारे साथ घटी हो। हमने देखा, हमने सुना, हमने पढ़ा - बस, वह प्रसंग हमारा हो गया! क्योंकि हमारा मन तुरंत उस पर विचार करने लगता है।

श्मशान था, राजर्षि प्रसन्नचंद्र सूर्य की तरफ अनिमेष दृष्टि सँजोए हुए एक पैर पर खड़े थे। चित्त में शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मा का ध्यान था... राजर्षि आन्तर-बाह्य उग्र धर्मसाधना कर रहे थे। मगधेश्वर श्रेणिक उस रास्ते से गुजर रहे थे, उन्होंने राजर्षि प्रसन्नचंद्र के दर्शन किए, राजर्षि की अति भव्य आराधना देखकर गद्गद हो गए। वे पहुँचे परमात्मा महावीर स्वामी के चरणों में।

मगधेश्वर के गुजरने के बाद उसी रास्ते से दो घुड़सवार गुजरे। राजर्षि के दर्शन कर एक घुड़सवार ने खूब प्रशंसा की, दूसरे ने निन्दा की! राजर्षि के कानों ने निन्दा-प्रशंसा दोनों सुनी। आत्मध्यान भग्न हो गया, दूसरी विचारधारा प्रवाहित हुई। हाँ, दृष्टि सूर्य के सामने ही थी और एक पैर पर ही खड़े थे। उसमें कोई परिवर्तन नहीं आया था। बाह्य स्थिति वही थी जो पहले थी। आन्तर स्थिति - विचारधारा बदल गई, ध्यान का विषय - Subject बदल गया। निन्दा करने वाले घुड़सवार की बात सुनकर वे मन से ही युद्धमैदान में पहुँच गए... अपने पुत्र के साथ धोखा करनेवाले अपने भाई के साथ घोर संग्राम खेलने लगे।

उधर समवसरण में भगवान महावीर स्वामी ने, मगधेश्वर के प्रश्न के प्रत्युत्तर में बताया कि अभी यदि राजर्षि की मृत्यु हो जाय तो सातवीं नर्क में जाएँगे!

दूसरी बात इससे बिल्कुल विपरीत बनी थी विनीता नगरी में! आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव के पुत्र भरत चक्रवर्ती, स्नानविधि से निवृत्त होकर, सुंदर वस्त्र और मूल्यवान आभूषण शरीर पर परिधान कर - 'मैं कैसा सुंदर

यही है जिदगी

६

लगता हूँ, देखने के लिए 'आईना भवन' में गए। वहाँ बड़े-बड़े काँच लगे हुए थे... चक्रवर्ती ने अपनी शरीर-शोभा देखी, अपनी असाधारण सुंदरता देखकर मन ही मन खूब प्रसन्न हुए। परंतु वहाँ एक घटना बनी... साधारण घटना... जिसका कोई विशेष महत्त्व नहीं... वैसी घटना बनी... उनकी एक अंगुलि में से मुद्रिका निकल गई, जमीन पर गिर गई...! क्या यह कोई घटना है? क्या यह कोई प्रसंग है? यही बात है - अज्ञानी की दृष्टि में जो बात अर्थहीन होती है, ज्ञानी की दृष्टि में वही बात अर्थपूर्ण होती है! अज्ञानी की दृष्टि में जो बात महत्त्वपूर्ण होती है, ज्ञानी की दृष्टि में वही बात महत्त्वहीन होती है।

अंगुलि में से मुद्रिका निकल गई... मुद्रिकारहित अंगुलि को देखा... उस पर विचारधारा प्रवाहित हुई... ऐसी विचारधारा प्रस्फुरित हुई कि चक्रवर्ती अजर-अमर शाश्वत और पूर्ण आनंदमय आत्मा की अगम-अगोचर सृष्टि में पहुँच गए। बाह्य कोई परिवर्तन नहीं था, वही वैभवशाली वेशभूषा थी... वही ठाठबाट था। परिवर्तन था भीतर में। ध्यानमार्ग ही आत्मा को अगम-अगोचर भूमि पर पहुँचाता है। ध्यानमार्ग मिलता है ज्ञानदृष्टि से। भरत चक्रवर्ती ने ऐसा चिंतन किया - मुद्रिकारहित अंगुलि को देखकर। परिणामस्वरूप वे वीतराग बन गए, सर्वज्ञ बन गए!

राजर्षि ने एक बात सुनी - उस पर ऐसा चिंतन किया कि जो चिंतन सातवीं नर्क में ले जाय! चक्रवर्ती भरत ने एक घटना देखी - उस पर ऐसा चिंतन किया कि जो चिंतन आत्मा को वीतराग-सर्वज्ञ बना दे! आत्मा को पूर्णानन्दी बना दे!



४. सबके साथ दोस्ती

कितना मार्मिक सूत्र दिया है महर्षि ने - 'मिति मे सव्वभूएसु'। सर्व जीवों के प्रति मेरी मैत्री है। सब जीव मेरे मित्र हैं।

'यदि मैं इस सूत्र का आदर करता हूँ, स्वीकार करता हूँ, तो मुझे सब जीवों के प्रति स्नेह से देखना होगा। सब जीवों के साथ मित्रतापूर्ण व्यवहार करना होगा। सब जीवों के साथ मैत्री का संबंध स्थापित करना होगा।' जब मैं इस विचार की गहराई में गया, बड़ी अजीब सी लगी यह बात! सब जीवों के साथ मैत्री कैसे हो सकती है? अच्छे व्यक्ति के साथ तो मित्रता हो सकती है, बुरे व्यक्ति के साथ कैसे मित्रता हो सकती है? हमारे साथ सद्व्यवहार करने वालों के साथ तो मैत्री संबंध हो सकता है, परंतु दुर्व्यवहार करने वालों के साथ मैत्री कैसे? अच्छे धार्मिक आचारवालों के साथ मित्रता का नाता बाँधें तो उचित कहा जाये, परंतु पापाचारों में प्रवृत्त जीवों के साथ मित्रता का नाता कैसे बाँधा जाये? साधु के साथ मैत्री और डाकू के साथ भी मैत्री? हमें सुख देने वालों के साथ मैत्री और हमें बरबाद करने वालों के साथ भी मैत्री?

तो क्या 'मिति मे सव्वभूएसु' का सूत्र देनेवाले महर्षि ने असंभव बात कह दी? अशक्य बात कह दी? अशक्य और असंभव बातें करने का महर्षि को क्या प्रयोजन? लोभ-तृष्णाओं से मुक्त महर्षि अशक्य और असंभव बात क्यों करें?

दुविधा में फँस गया! कहते हैं कि सीताजी के पापोदय से रामचन्द्रजी का उनके प्रति स्नेह नहीं रहा। अंजनासुंदरी के पापोदय से पवनंजय के हृदय में अंजना के प्रति स्नेहभाव नहीं रहा और शत्रुतापूर्ण व्यवहार हुआ। इसका अर्थ क्या? जिस जीव का ऐसा पापोदय होगा उसके साथ हमारी मैत्री नहीं हो सकेगी। तो फिर सर्व जीवों के साथ मैत्री कैसे हो सकती है?

जब दूसरे जीवों के पापकर्म हमें उन जीवों से मैत्री करने से रोक सकते हों तब तो... सर्वजीवमैत्री असंभव ही हो गई। अब बुद्धि आगे नहीं बढ़ सकती। सोचना बंद हो गया... आँखें बंद हो गईं, विचारों से मन मुक्त हो गया... भीतर प्रकाश ही प्रकाश दिखने लगा... और एक भव्य देहाकृति प्रकट होने लगी... करुणामयी नेत्र और प्रसन्न मुखाकृति... अद्भुत रूप... अपूर्व सौन्दर्य! कोई परम योगी थे वे। मैं नतमस्तक हो गया। उनके आशीर्वाद मिले... मेरा हृदय दिव्य आनंद से भर गया। उन्होंने कहा :

यही है जिदगी

८

‘वत्स! समष्टि के प्रति मैत्री धारण कर, व्यक्ति के प्रति निर्वैरभाव!’ मेरे नेत्र खुले। धर्मस्थान में नीरव शांति थी। रात्रि के चार बजे थे... भित्ति के घटिकायंत्र में चार टकोरे बजे। मेरा मन प्रफुल्लित था। मेरे प्राण प्रसन्न थे। मेरी दुविधा मिट गई थी। समष्टि के प्रति मैत्री, व्यक्ति के प्रति निर्वैरभाव!

‘सब जीव मेरे मित्र हैं।’ इस विचार में किसी व्यक्ति का विचार नहीं है। इस विचार से मुझे अपने चित्त को, अपने हृदय को प्रभावित करना है। केवल समग्रता से संबंध। किसी के व्यक्तिगत गुणदोष का विचार नहीं। जब व्यक्ति का विचार आ जाय, निर्वैरभाव से विचार करने का। मुझे किसी जीव के साथ वैर नहीं है। सब जीवों को जब मैंने मेरे मित्र मान लिए, तब उनसे शत्रुता कैसे हो सकती है?

मन प्रश्न करता है : तेरा उसने बिगाड़ा है, तेरा नुकसान किया है... फिर काहे का तेरा मित्र?

भीतर से समाधान मिलता है : कोई जीव किसी का नहीं बिगाड़ता। तुझे बाह्यदृष्टि से, अज्ञानदृष्टि से दिखता है अपराधी के रूप में जीव। परंतु जीव अपराधी नहीं होता, अपराधी होते हैं अपने ही बाँधे हुए पापकर्म। अपने ही पापकर्मों से अपना कार्य बिगड़ता है, नुकसान होता है। जीव तो निमित्तमात्र बनते हैं। मित्र को परिस्थितिवश... संयोगवश... नहीं चाहते हुए भी कभी निमित्त बनना पड़ता है।

मैंने निर्णय कर लिया : सब जीव मेरे मित्र हैं, मैं किसी जीव से शत्रुता नहीं रखूँगा... किसी का कुछ भी नहीं बिगाड़ूँगा.. सब जीवों के सुख का ही विचार करूँगा...।



५. शुक्लध्यान का रास्ता : धर्मध्यान के महल में

जब उस महात्मा चिलातीपुत्र का विचार आता है, तब मन में एक तूफान सा उठता है। कैसा था वह चिलातीपुत्र? एक श्रेष्ठि के वहाँ नौकर था बचपन से। सेठ की ही लड़की सुषमा से प्यार करने लगा था। सेठ को चिलातीपुत्र के बदइरादों का शायद ख्याल भी नहीं होगा। सेठ ने चिलातीपुत्र को अपने घर से निकाल दिया। चिलातीपुत्र चला गया, परंतु अपने हृदय में वह सुषमा को साथ ले गया।

दिन-रात सुषमा के विचारों में खोया-खोया चिलातीपुत्र जंगलों में भटकता है। उसका चित्त 'आर्तध्यान' और 'रौद्रध्यान' से जल रहा है। वह डाकू बन गया। डाकूओं का गिरोह बनाया, चिलाती उस गिरोह का सरदार बन गया। उसने सोचा... 'माँगने से सुषमा मिलनेवाली नहीं, सुषमा के बिना मुझे चैन नहीं... किसी भी प्रकार से सुषमा को उठा लाऊँ...' एक दिन उसने अपने डाकू-साथियों के साथ सेठ के घर पर डाका डाल दिया... चिलातीपुत्र ने सुषमा को उठाया और उसके साथियों ने धन-दौलत की गठरियाँ उठाई.. जंगल की तरफ सब भागने लगे।

सुषमा को अपने कंधे पर उठाकर चिलातीपुत्र भागा जा रहा था। सुषमा के पिता और सुषमा के चार भाइयों को सुषमा का अपहरण ज्ञात होते ही, घोड़े पर बैठकर, नंगी तलवारों के साथ वे डाकूओं के पीछे दौड़ पड़े। चिलातीपुत्र पैदल दौड़ रहा था... डाकू-साथीदारों को दूसरे रास्ते से भेजकर, वह दूसरे रास्ते... अकेला ही, सुषमा को उठाकर दौड़ रहा था। उसने घुड़सवारों की पदचाप सुनी। वह घबराया। सुषमा को उठाकर वह तीव्र गति से दौड़ नहीं सकता था... सुषमा को छोड़ भी नहीं सकता था... क्योंकि सुषमा के लिए तो उसने यह साहस किया था। बेचारी सुषमा... कितनी कोमल... कितनी मुग्ध थी वह... बिना विरोध किए.. बहती जा रही थी चिलातीपुत्र के साथ! चिलाती ने सुषमा की ओर देखा... उसकी आँखों में आँसू भर आए.. क्योंकि उसने अपने मन में एक भयानक विचार किया था... 'मुझे सुषमा का मुख प्यारा है... मैं सुषमा को उठाकर अब भाग नहीं सकता... पीछे घुड़सवार आ रहे हैं... मारा जाऊँगा... नहीं, मैं सुषमा का सिर ले जाऊँगा... उसका शरीर यहाँ रास्ते में छोड़ दूँगा...'

यही है जिंदगी

१०

कितना घोर पापविचार करता है वह डाकू? अपनी वासना को तृप्त करने के लिए दूसरे जीव की हत्या! जिसको वह चाहता है... जिससे वह खूब प्यार करता है... उसकी हत्या! हाँ, कर दी उसने सुषमा की हत्या! सुषमा का सिर बाँध लिया अपने गले से...! खून से उसके कपड़े रंग गए.. वह तीव्र गति से भागा... नदी का किनारा आया, किनारे पर वृक्षों की घटा में जाकर बैठा। सुषमा के प्राणहीन... चेतनाहीन चेहरे को देखता है... हँसता है... रोता है...।

वृक्षघटा में से बाहर निकला और नदी के तट पर चलने लगा। तट पर एक जगह उसने एक महात्मा को ध्यानस्थ अवस्था में खड़े हुए देखा। चिलातीपुत्र उनके पास गया... महात्मा की शांत, प्रशांत और प्रशमरसनिमग्न मुखमुद्रा को देखा... वह देखता ही रहा। खड़ा रहा... हाथ में खून से सनी हुई तलवार और गले में लटकता हुआ सुषमा का सिर... वह खड़ा रहा। महात्मा ने ध्यान पूर्ण किया... कमल से नेत्रों से चिलातीपुत्र को देखा...। चिलाती ने प्रश्न किया: 'कौन हो तुम? यहाँ क्यों खड़े हो?'

मुनि के मुख पर थोड़ी-सी मुस्कराहट... और मुख से 'धर्मलाभ' के आशीर्वाद! मुनि ने चिलाती के प्रश्न का प्रत्युत्तर नहीं दिया... चिलाती के मन की उलझनों का... समस्याओं का वे प्रत्युत्तर देना चाहते थे... उन्होंने कहा : 'चिलातीपुत्र! उपशम... विवेक... संवर!'

इतना ही कहकर वे महामुनि आकाशमार्ग से चले गए.. चिलातीपुत्र आकाश की ओर देखता ही रहा... जब तक मुनि दिखते रहे... देखता ही रहा... जब मुनिराज अदृश्य बन गए, चिलातीपुत्र मुनिराज की मधुर स्मृति में डूब गया। उनकी प्रशांत मुखमुद्रा... करुणामय लोचन और मधु से भी ज्यादा मधुर उनके तीन शब्द : उपशम, विवेक, संवर! मुनि और मुनि के वचनों में वह डाकू खो गया। बाह्य दुनिया से मुक्त हो गया...

रौद्रध्यान चला गया, आर्तध्यान चला गया... धर्मध्यान आ गया। जो गया, स्वाभाविक गया... जो आया, स्वाभाविक आया... सुषमा की सूरत विस्मृत हो गई, मुनि की मूरत मन पर छा गई। मन से अशांति और उद्वेग दूर होते गए, रोष और विषाद विलीन होते गए... मन शांत बनता जाता है, हल्का बनता जाता है, प्रसन्न और निरुद्वेग बनता जाता है...। प्रकृति भी प्रशांत थी। नदियों का कलकल बहता नीर और मलयाचल से आता मंदमंद सुगंध समीर... चिलातीपुत्र की धर्मध्यान की धारा में सहायक बन रहे थे।

यही है जिंदगी

११

मन के क्रोध और लोभ उपशान्त होने लगे। मन में उपशम-रस प्रवाहित हो गया। किसी भी जीवात्मा के प्रति रोष नहीं, रिस नहीं। किसी जड़ पदार्थ का लोभ नहीं, तृष्णा नहीं। चिलातीपुत्र विवेकी बन गया... विवेक-ज्ञान का प्रदीप प्रज्वलित हो गया। देह-आत्मा का भेदज्ञान हो गया... 'मैं आत्मा हूँ... अजर... अमर... शाश्वत! यह देह मैं नहीं। आत्मभूमि के आस्रव-द्वार बंद हो गए, जिन द्वारों से अनंत-अनंत कर्मों का पानी आत्मभूमि में आता था। कर्मों का प्रवाह रुक गया। 'संवर' हो गया। शुद्ध आत्मस्वरूप का ध्यान केवल धर्मध्यान बनकर मिट नहीं गया, वह ध्यान 'शुक्ल' बन गया। ध्यान शुक्ल बना, आत्मा उज्ज्वल बनी।

गले में लटक रहा था सुषमा का सिर, हाथ में थी खून से सनी हुई तलवार... और चिलातीपुत्र को हो गया केवलज्ञान! वे सर्वज्ञ बन गए, वीतराग बन गए। जिस दिन चोरी... अपहरण और हत्या जैसे घोर पाप किए... उसी दिन वीतरागता और सर्वज्ञता प्राप्त कर ली! एक ही 'टेक्निक' थी वहाँ। धर्मध्यान में से शुक्लध्यान में प्रवेश हो गया! यदि धर्मध्यान के महल में छिपा हुआ वह शुक्लध्यान का गुप्त मार्ग मिल जाय... तो सर्वज्ञता दूर नहीं, वीतरागता अप्राप्य नहीं।



६. मिलन और जुदाई, रहे सदा नहीं भाई!

जड़ या चेतन, जो भी मुझे प्रिय लगता है, इष्ट लगता है, अनुकूल होता है, मैं उनका संयोग चाहता हूँ। क्योंकि उनके संयोग से मैं अपने आपको सुखी मानता हूँ, सुख का अनुभव करता हूँ। कुछ जड़-चेतन पदार्थ ऐसे हैं मेरे पास, जो मुझे प्रिय लगते हैं, अच्छे लगते हैं - मैं चाहता हूँ कि इनका संयोग सदैव बना रहे! कुछ जड़-चेतन पदार्थ ऐसे हैं, जो मेरे पास नहीं हैं। हालाँकि मुझे पसंद हैं, इष्ट हैं। उनके अभाव में मैं कभी-कभी बेचैन हो जाता हूँ। उन पदार्थों को पाने की वृत्ति और प्रवृत्ति बनी रहती है... इससे चिंता और संताप भी बना रहता है।

मेरे जीवन में मैंने ऐसा अनुभव किया है कि मेरे प्रियजनों का मुझसे वियोग हो गया! मैं नहीं चाहता था कि उनका वियोग हो - फिर भी हो गया... मेरे प्रयत्न विफल हो गये... मैंने गहरा दुःख अनुभव किया। जिस व्यक्ति के प्रति हमें स्नेह हो, राग हो, गहरा प्रेम हो, उसके साथ हमारा संबंध क्यों विच्छेद हो जाता है? मेरे मन में प्रश्न उठा। मैं किसी के बदलते हुए मन को नहीं रोक सकता... किसी के तन से निकलते प्राणों को नहीं रोक सकता... मेरी विवशता पर मुझे नफरत-सी हो गई। मन में हजारों विकल्प उठे... शांत हो गए। विकल्पों में से चिंतन में प्रवेश हो गया।

मैंने स्वयं से पूछा : जिस व्यक्ति का तेरे प्रति स्नेह है, तेरे साथ घनिष्ठ संबंध है, क्या उनके प्रति तेरा मन कभी नहीं बदला है? क्या उनको छोड़कर तेरे प्राण नहीं जा सकते? यदि यह संभव है, तो वह संभव क्यों नहीं?

वहाँ जिनवाणी सुनाई दी : प्रियजनों का संयोग अनित्य है, चंचल है, अस्थिर है। तू क्यों अस्थिर को स्थिर मान लेता है? तू क्यों चंचल को स्थिर और अनित्य को नित्य मान लेता है? हाँ, प्रियजनों का शारीरिक संयोग जैसे अनित्य है वैसे मानसिक संयोग भी चंचल है। मनुष्य के मनोभाव भी स्थिर नहीं होते। क्षण में राग, क्षण में द्वेष! क्षण में राजी, क्षण में नाराज!

प्रियजनों का सदैव साथ-सहयोग और सहानुभूति चाहने वाला मन इस परम सत्य से प्रभावित हो गया। संसार के दैहिक स्थूल संबंधों की यथार्थता दृष्टिपथ में आयी। संयोग और वियोग की अकाट्य शृंखला दिखाई दी। संयोग-वियोग की अभेद्य शृंखला को कोई नहीं तोड़ सकता। संयोग-वियोग

यही है जिंदगी

१३

संसार की अनादि-अनंत रीति है, स्थिति है, परिस्थिति है। तो फिर क्या किया जाये? प्रियजनों का संयोग तो रहेगा ही, उनके साथ स्नेह का संबंध तो रहेगा ही! संयोग का सुख और वियोग का दुःख रहेगा ही!

भले प्रियजनों से संबंध रहे। उस संबंध को 'अनित्य', 'अस्थायी', 'विनाशी' माना जाय, तो वियोग इतना अखरेगा नहीं। संयोग के स्वरूप का ज्ञान मन को प्रबल राग-द्वेष से बचा लेता है। संयोग और वियोग का स्वरूप-ज्ञान राग-द्वेष की ग्रंथि को भेदता है, आत्मा पूर्ण ज्ञानी बन जाती है।

जब चिंतन की इस धारा में बहता रहा, कल्पना-सृष्टि में करुणामूर्ति परमात्मा महावीर उभर आये। उनके साथ उनके प्रथम शिष्य इन्द्रभूति गौतम भी उपस्थित हुए। गौतम को भगवान महावीर के प्रति कितना अपूर्व प्रेम था! महान ज्ञानी गौतम ने महावीर के साथ अपने प्रगाढ़ स्नेह-संबंध के बारे में सोचा ही नहीं था! संयोग को सोचा ही नहीं था। परंतु एक दिन जब महावीर का वियोग हुआ, गौतम जैसे ज्ञानी पुरुष - सन्त पुरुष फूट-फूट कर रो पड़े... वियोग में रुदन-क्रन्दन करते-करते 'संयोग-वियोग' पर चिन्तनशील बने। चिंतन की धारा में बहते-बहते वे पूर्णता के महोदधि में पहुँच गए। स्नेह के सारे बंधन टूट गए।

'अनित्यः खलु परसङ्गमः' जड़ हो या चेतन हो, परद्रव्य का संयोग अनित्य है। कभी न कभी वियोग होगा ही। फिर क्यों संयोग में रागी बनूँ? मुझे जब अयोगी बनना है, तो संयोग-वियोग के विषयक में क्यों उलझ जाऊँ?



७. स्वयं को जगाने का पर्व

अहंकार ने मुझे क्षमा माँगने से रोका है।

तिरस्कार ने मुझे क्षमा देने से रोका है।

मैं नहीं समझ पाता हूँ कि मेरी कई वर्षों की धर्म-आराधना से मेरा अहंकार क्यों अदृश्य नहीं हुआ? तिरस्कार तिरोहित क्यों नहीं हुआ? आज जब मैं अपने आपको देखता हूँ - मेरा रूप मुझे अच्छा नहीं लगता है।

अपराध किए हैं, अपराधी हूँ... फिर भी मैं क्षमा नहीं माँग सकता। मुझे कोई रोकता है...। हाँ, भीतर से कोई धीमी-धीमी आवाज में मुझसे कह रहा है जरूर - 'तेरे अपराधों की तू क्षमा माँग ले...।' परंतु मैं उस बात को सुनी-अनसुनी कर देता हूँ। क्षमा न माँगने की मेरी जिद बनी रहती है।

अलबत्ता, मेरा शास्त्रज्ञान मुझे क्षमाधर्म की महिमा बताता है। मैं अपने आपको शास्त्रज्ञ और शास्त्रानुसारी मानता हूँ। 'क्षमा धर्म है' ऐसा कहता भी हूँ...। परंतु मैं क्षमा नहीं माँगता। अपराधी होने पर भी क्षमा नहीं माँगता। यह मेरा अहंकार नहीं तो क्या है? दिल खोलकर बताता हूँ कि मैंने अपने अहंकार को उन शास्त्रों से ही पोसा है। अहंकार को शास्त्रज्ञान से सुरक्षित किया है। मैंने हमेशा दूसरे जीवों को ही अपराधी सिद्ध किया है। मैं अपनी तीव्र बुद्धि से और अकाट्य तर्कों से दूसरे निरपराधी मनुष्यों को भी अपराधी सिद्ध करता आया हूँ। कहिए, मैं क्यों क्षमा माँगूँ? मेरे बाह्य-आन्तर अपराधों की सीमा नहीं है। फिर भी अपने आपको मैं निरपराधी सिद्ध कर सकता हूँ और मेरी बात दुनिया के कुछ लोग मान भी लेते हैं - ऐसे लोगों ने मेरे अहंकार को पुष्ट किया है।

केवल अहंकार होता, तब तो कभी न कभी मेरा उद्धार हो ही जाता। परंतु अहंकार के साथ तिरस्कार का गठबंधन हो गया है। दूसरे जीवों के प्रति मैं घोर तिरस्कार की भावना रखता हूँ। जिनका मैं अपराधी हूँ - उनके प्रति तिरस्कार! भूल गया, मैं अपने आपको अपराधी ही कहाँ मानता हूँ? दूसरों को ही अपराधी मानता हूँ और अपराधियों के प्रति तिरस्कार करने का अधिकार भी मानता हूँ। शास्त्रीय ढंग से तिरस्कार की उपादेयता सिद्ध कर सकता हूँ।

जो मेरे विचारों के खिलाफ हैं, जो लोग मेरी खिलाफत करते हैं, जो लोग मेरी महत्वाकांक्षाओं में पूरक नहीं बनते हैं... जो लोग मेरे स्वार्थों को परमार्थ

यही है जिदगी

१५

समझ कर पूर्ण नहीं करते हैं, जो लोग मेरी दृष्टि से धर्मविरुद्ध आचरण करते हैं... उन सब के प्रति तिरस्कार, घृणा इत्यादि मैं कर सकता हूँ... फिर भी मैं निष्पाप हूँ... मैंने पुण्यबंध किया, मैंने धर्मरक्षा की... ऐसा मैं आपको भी कबूल करवाता हूँ। ऐसे लोगों को क्षमा नहीं देनी चाहिए, दंड ही देना चाहिए - ऐसा प्रतिपादन कर सकता हूँ - शास्त्रों के नाम पर।

जिस मनुष्य के प्रति तिरस्कार पैदा हो गया है, वह मनुष्य क्षमा माँगने आएगा तो भी मैं क्षमादान नहीं दूँगा। तिरस्कार क्षमादान करने ही नहीं देता।

प्रति वर्ष संवत्सरी पर्व आता है - हृदय में अहंकार और तिरस्कार सुरक्षित रखते हुए, क्षमा की लेन-देन का ड्रामा (नाटक) करता आया हूँ... व्यवहारधर्म के पालन में आत्मवंचना का पाप करता आया हूँ।

कौन बतायेगा - अहंकार और तिरस्कार की इन दुष्ट वासनाओं से मुक्त होने के उपाय? हाँ, आपको उपाय जानने हैं तो मैं बताऊँगा... परंतु मुझे कौन बतायेगा? इन दो वासनाओं से मुक्त हुए बिना क्षमाधर्म के आदान-प्रदान का यह महापर्व मेरे लिए आत्मशुद्धि का पर्व नहीं बन सकता - भले मैं चौथ की संवत्सरी करूँ या पंचमी की करूँ!



८. जीवन की परिभाषा

मानव जीवन का अनुरोध है अनंत और अखंड की ओर आगे बढ़ना। जबकि वर्तमान जीवन की परिभाषा हो गई है केवल संघर्ष! स्वार्थों के लिए संघर्ष! मान और तृष्णा के लिए संघर्ष! उसमें उद्देश्य है केवल अपने तुच्छ पार्थिव स्वार्थ और अहंकार की तुष्टि!

वर्षा होने के पश्चात् रात्रि की नीरवता चिंतन को गहन बना रही थी। संसार के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों पर दृष्टि दौड़ रही थी। खोज रही थी मेरी दृष्टि धर्म का शासन। कहाँ है धर्म का शासन? सर्वत्र आतंक का शासन है। स्वार्थों और अहंकारों का संगठन है। कहाँ है आत्महित और आत्मरक्षा की भावना? कहाँ है जीवमात्र के प्रति मैत्री और करुणा की पवित्र कामना? लुप्त हो गए हैं न्याय-अन्याय, नीति-अनीति और पुण्य-पाप के भेद। गुप्त पड़े हैं धर्म, योग और अध्यात्म के गहन रहस्य।

हृदय में एक तीव्र वेदना और गहरी व्यथा-सी होने लगी। जब धर्मक्षेत्र में भी... देखता हूँ - ओह! क्या यह भी हो सकता है साधु का रूप? संत का रूप? क्यों निर्दयतापूर्वक अपने ही भावप्राणों की हत्या कर रहा है? क्या है इसका प्रयोजन? कुछ सबल पुरुषों की महत्त्वाकांक्षाओं और मान-तृष्णा की तृप्ति के लिए अज्ञानी और विवश जीवों का इतना निर्मम प्रपीड़न क्यों? मनुष्य के ज्ञान-विज्ञान, पुण्य-वैभव... तप-जप, उसकी साधना-आराधना का क्या यही श्रेष्ठ रूप है? जब वर्तमान धर्मक्षेत्र में प्रवर्तमान गतिविधियों को देखता हूँ तो अपनी आँखों में लज्जा, मन में करुणा, आत्मा में ग्लानि और सन्ताप उभर आते हैं।

चाहे धर्मशास्त्रों का पाण्डित्य क्यों न हो, भले ही वाचस्पति को पराजित करनेवाली वाक्पटुता हो, भले ही काया को जर्जरित करनेवाली उग्र तपश्चर्या हो... परंतु करना क्या है? भौतिक शक्तियों और विभूतियों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना है। वे नहीं जानते हैं कि स्वयं ही उन जड़ शक्तियों के दास हो गए हैं। अपने ही आत्मनाश को वे अपना आत्मविकास समझने की भ्रान्ति में पड़े हैं।

इस अपराध का उन्मूलन करना होगा। क्या यह छोटा अपराध है? धर्मक्षेत्र में क्लेश, संताप, अशांति और कोलाहल कैसे निभाया जा सकता है?

यही है जिंदगी

१७

मन क्षुब्ध और चंचल बन गया। नहीं, आवेश और चुनौती को झलकने नहीं देना है! तो क्या बाहर की छेड़छाड़ अथवा कटुता की अवज्ञा कर उसके सम्मुख सर्वथा मौन रहना है? मानवजीवन... अति अल्पकालीन मानवजीवन का चरम उद्देश्य क्या है? शिव, अचल, अनंत... अव्याबाध सिद्धिगति को प्राप्त करना, यही न?

तब तो मुझे भीतर में ही देखना होगा। भीतर में जो शाश्वत बिराजमान है - उसका लगातार सन्निधान करना होगा। वहाँ नहीं है निर्बलता, नहीं है शोषण! वहाँ नहीं है आपाधापी, नहीं है छीना-झपटी! वहाँ है बाह्य जगत से मुक्त परमानन्द का अनंत अनुभव!

रात की गहन और गम्भीर शांति में एक प्रच्छन्न परंतु मृदु... कोमल स्वर हवा में गूँजता हुआ सुनायी देता है: 'आत्मन्! अमिट उल्लास अपने हृदय में भरकर आगे चलो। संसार ऐसा ही है... दुःखरूप! अनादि और अनंत है। संसार का कभी भी अंत नहीं, तुम्हारा खुद का अंत करो! तुम्हारे सांसारिक विरूप का अंत करो। तुम्हारे विशुद्ध स्वरूप का प्रारंभ करो... वह अनंत होगा। मोक्षमार्ग की साधना व्यक्तिनिष्ठ साधना है, समष्टिगत साधना नहीं। तुम्हें अपना शुद्ध आत्मस्वरूप पाना है? तो बाह्य-आन्तर विसंवादों से मुक्त रहो। जीवन में संवादिता स्थापित करो। संघर्ष नहीं, शांति को जीवन की परिभाषा बनाओ।'

कैसी दिव्य ध्वनि!! आनंद की एक अप्रतिहत धारा में मेरा सारा वैषम्य बह गया। हृदय आश्वस्त हो गया... और न जाने कब मैं गहरी नींद में सो गया।



९. केवल देखना है... केवल जानना है!

सिर्फ ज्ञाता, सिर्फ दृष्टा कब बूँगा? जानने में राग-द्वेष न हों, देखने में राग-द्वेष न हों, ऐसी आत्मदशा कब प्राप्त होगी? यह असंभव बात तो नहीं है! क्योंकि ऐसा जानने को मिला है कि अनंत आत्माएँ ऐसी हो गई हैं कि जो केवल ज्ञाता और दृष्टा थी। वर्तमान में भी एक प्रदेश ऐसा है - 'महाविदेह' उसका नाम है। शास्त्रों में, प्राचीनतम ग्रंथों में 'महाविदेह' क्षेत्र का नाम और वहाँ की भौगोलिक, शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक परिस्थितियों का वर्णन भी पढ़ने को मिला है। वहाँ उस 'महाविदेह' के प्रदेश में भी ऐसे लाखों पुरुष हैं जो केवल ज्ञाता और दृष्टा हैं। उनके ज्ञान में, उनके दर्शन में नहीं होता है राग, नहीं होता है द्वेष।

यह जानता हूँ कि मेरी आत्मा अनंत-अनंत जन्मों से राग और द्वेष करती आयी है। राग करना, द्वेष करना मेरे लिए सहज और स्वाभाविक सा हो गया है। कभी ऐसा विचार आ जाता है - राग भी न करूँ और द्वेष भी न करूँ, तो करूँ क्या? मन के लिए तीसरा भाव कौन-सा है? परंतु इसका समाधान तो कभी का मिल गया है। बिना राग किए, मैंने कुछ क्षणों के लिए देखा है - जाना भी है। वैसे बिना द्वेष किए भी मैंने देखने का और जानने का अनुभव किया है। परंतु कुछ क्षणों के लिए ही! ऐसा अनुभव दीर्घकाल तक नहीं टिकता है। राग-द्वेष आ ही जाते हैं।

'केवल ज्ञाता और दृष्टा बनने में नीरसता नहीं है, निरानन्द नहीं है, बल्कि पूर्णानन्द की अनुभूति वहाँ होती है। संपूर्ण रसानुभूति वहाँ होती है। उस सर्वोच्च आत्मस्थिति में ही यह अनुभूति संभव है।' मैंने जब इस परम सत्य को जाना, मेरा मन तड़प उठा - 'मैं कब ऐसे पूर्णानंद की अनुभूति करूँगा? मुझे पूर्णानंद ही चाहिए। ऐसा आनंद जो कभी अपूर्ण न हो! कभी खाली न हो! मुझे ऐसी रसानुभूति चाहिए जो कभी नीरसता को मेरे पास आने भी न दे, मैं स्वयं रसमय बन जाऊँ।'

अतीत में भी ऐसे पूर्ण ज्ञाता, पूर्ण दृष्टा उत्तम पुरुष हो गए हैं, जिन्होंने अतीत और वर्तमान के साथ अनागत काल को भी देखा था, जाना था। उनका जो अनागत का दर्शन था, अनागत का ज्ञान था, वही आज हमारा वर्तमान है! वर्तमान में जो कुछ हो रहा है, हमारे लिए भले वह नया हो, उनकी ज्ञानदृष्टि

यही है जिंदगी

१९

में सब कुछ दिख चुका है। अनंत काल पूर्व आज का हमारा वर्तमान दिखा हुआ है। उन्होंने पूर्ण ज्ञान में जो देखा था, जो जाना था, वही आज हम कर रहे हैं!

तब मुझे ज्ञात हुआ कि मैं जो आज लिख रहा हूँ, जो कुछ बोल रहा हूँ - कुछ भी नया नहीं है! अनंत काल पूर्व उस पूर्ण ज्ञान में यह दिखा हुआ है! यह बोला हुआ है! एक अक्षर भी नया नहीं... एक शब्द भी नया नहीं! अरे हाँ, मेरा चिंतन-मनन भी नया नहीं! आज मैं जो कुछ सोचता हूँ, मनन करता हूँ, वह भी अनंतकाल पूर्व उस पूर्ण ज्ञान में सोचा हुआ ही है, मनन किया हुआ ही है।

पूर्ण ज्ञान... अनंत ज्ञान... सिर्फ ज्ञातृत्व-सिर्फ दृष्टत्व! न कोई राग, न कोई द्वेष, न कोई मोह! चराचर विश्व को देखना व जानना! विश्व के सभी द्रव्य, द्रव्यों के सभी अतीत-अनागत और वर्तमान के पर्याय... एक-एक द्रव्य के अनंत-अनंत पर्याय! जानो और देखो! अनंतकाल तक जानते रहो, देखते रहो... कोई उद्वेग नहीं, कोई विषाद नहीं! संपूर्ण आनंद की सतत अनुभूति!

कब ऐसी आत्मदशा प्राप्त होगी?

रागयुक्त दर्शन, रागयुक्त ज्ञान कब मिटेगा?

समग्र विश्व को जानना है, सभी द्रव्य और द्रव्यों के सभी पर्याय जानने हैं, देखने हैं... प्रत्यक्ष! कब ऐसी दुर्लभ... अद्भुत... अनुपम क्षण आएगी, नहीं जानता हूँ। कैसे जानूँ? रागदशा, द्वेषदशा जानने ही नहीं देती।

ऐसे पूर्ण ज्ञाता और पूर्ण दृष्टा परम पुरुषों को पुनः-पुनः नमस्कार हो मेरे! नत मस्तक होकर, उनकी पूर्णानंदी आत्मा को नमन करता हूँ।



१०. दृश्य एक... दृष्टि अनेक... द्रष्टा अनेक...

‘दृश्य जगत वही है जो अनंत अतीत में था और अनंत अनागत में रहेगा। बंधन और मुक्ति का आधार दृश्य नहीं है, परंतु दृष्टा है। दृष्टा की जैसी दृष्टि होगी, वैसा कर्मबंध होगा अथवा कर्मक्षय होगा। एक ही दृश्य होता है - उस दृश्य से एक दृष्टा पापकर्म बाँधता है, दूसरा कर्मक्षय करता है।

दृश्य अच्छा हो या बुरा, विवेकी दृष्टा बुरे दृश्य को देखकर भी कर्मक्षय करता है और अविवेकी दृष्टा अच्छा दृश्य देखकर भी पापकर्म बाँधता है।’

जब मैं सोचता चला... मैं उन केवलज्ञानी बने हुए इलाचीकुमार के पास पहुँच गया! उनकी दृष्टि में वीतरागता थी, उनकी वाणी में केवलज्ञान की अभिव्यक्ति थी। उन परमर्षि के चरणकमल में नतमस्तक हो गया... हृदय हर्ष से गद्गद् हो गया था, आँखें हर्ष के आँसू से भर गई थीं। दर्शन और स्पर्शन से अपूर्व... अद्भुत आनंद की दिव्य अनुभूति हो रही थी। ऐसे कितने पावन क्षण व्यतीत हो गये... मुझे ज्ञात नहीं हुआ। धीरे-धीरे मेरे मन में एक जिज्ञासा जाग्रत हुई, मैंने पूछ लिया :

‘भगवंत, मुझ पर कृपा कर बताइये कि बांस पर नाचते-नाचते आपको केवलज्ञान कैसे हो गया? राग से भरा हृदय वीतरागता से कैसे भर गया?’

केवलज्ञानी महर्षि ने मेरे सामने देखा। उनकी दृष्टि से कृपारस की वृष्टि हो रही थी! उन्होंने कहा :

‘अज्ञानता और मोहान्धता से घिरा हुआ मैं रस्सी पर नाच रहा था। मुझे पाना था उस रूपवती नटपुत्री को, परंतु जब तक राजा प्रसन्न होकर खूब धन न दे तब नट अपनी पुत्री देनेवाला नहीं था, इसलिए मैं नाच रहा था...! प्रातःकाल तक नाचता रहा... राजा प्रसन्न नहीं हो रहा था... वह तो चाहता था कि मैं रस्सी पर से नीचे गिर जाऊँ और मेरी मृत्यु हो जाय!’

‘ऐसा क्यों चाहता था प्रभो!’ मैंने बीच में ही पूछ लिया।

‘क्योंकि राजा भी उसी नटपुत्री पर मोहित हो गया था। मेरी मृत्यु हो जाय तो नटपुत्री को राजा पा सके! नाचते-नाचते मैं थक तो गया ही था... प्रभात के समय मैंने पास वाली हवेली में एक दृश्य देखा और मेरी दृष्टि खुल गई। रंभा जैसी रूपवती सेठानी हाथ में मिष्टान्न का थाल लेकर महामुनि के सामने

यही है जिदगी

२१

खड़ी थी... मुनिवर को मिष्टान्न लेने का आग्रह कर रही थी, परंतु मुनिराज की आँखें जमीन पर ही स्थिर थीं। सेठानी के सामने भी उन्होंने नहीं देखा... मिठाई तो ली ही नहीं। मुझे शुरू में तो आश्चर्य हुआ कि ऐसी रूपवती नारी सामने होते हुए भी यह मुनि उसको देखते क्यों नहीं? परंतु तुरंत ही उन महात्मा के प्रति मेरे हृदय में प्रमोद जाग्रत हुआ। मुनि की श्रेष्ठता और मेरी अधमता का विचार आया। मैं एक नटपुत्री के पीछे पागल बनकर भटक रहा हूँ... मैंने माता-पिता का त्याग किया, कुलमर्यादा का भंग किया, सुख-वैभव को छोड़ दिया... एक रूपवती के लिए! और ये महात्मा... यौवन होते हुए भी उनमें उन्माद नहीं, रूप होते हुए भी गर्व नहीं... कैसा संयम!

मेरे पैर नृत्य कर रहे थे, घुँघरू बज रहे थे... परंतु मैं देख रहा था उस दृश्य को। मेरा राग मंद होता गया, अज्ञानता के बादल हट गए... मैं आत्मसौंदर्य के विचार में चढ़ गया। वह दृश्य हट गया... आत्मा ही आत्मा की दृष्टा बन गई। मैं अंतर्मुखी बन गया। मेरी आत्मचेतना जाग्रत होने लगी... मैंने अपूर्व समतासुख का अनुभव किया...। रागदशा विलीन हो गई, वीतरागता प्रकट हो गई। अज्ञानता का घोर अंधकार दूर हो गया, केवलज्ञान का पूर्ण प्रकाश प्रकट हो गया।'

नट को नाचते-नाचते केवलज्ञान हो गया! राग का पात्र सामने होते हुए भी इलाचीकुमार वीतराग हो गए! दृश्य को देखने की दिव्य दृष्टि की यह करामात थी। क्षणभर मुझे ग्लानि हो आयी... 'नट को नाचते-नाचते केवलज्ञान, मुझे नहीं? मैं तो साधक हूँ... मोक्षमार्ग का आराधक हूँ... मैंने भी ऐसे कई दृश्य देखे हैं... परंतु मुझे केवलज्ञान क्यों नहीं?'

समाधान हो गया! 'दृश्य है परंतु दिव्य दृष्टि नहीं है। दृष्टा हूँ परंतु दर्शन की कला नहीं पाई है। फिर कैसे वीतराग बनूँ? कैसे केवलज्ञानी बनूँ?'

जब तक दृश्य का दर्शन करने की दिव्य दृष्टि नहीं खुलेगी तब तक वीतरागता नहीं मिलेगी, पूर्ण ज्ञान प्रकट नहीं होगा।' चिंतन के आलोक में महर्षि इलाचीकुमार से हुए संपर्क ने दृश्य, दृष्टा और दृष्टि का दिव्य ज्ञान प्रदान किया।



११. तृप्ति के तीर पर

मन का कैसा स्वभाव है! कभी मन को अकेलापन अखरता है, कभी अकेलापन बहुत अच्छा लगता है! बहुत दिनों के बाद कुछ घंटों के लिए एकांत मिला। अकेला ही था... सब साथी सो गए थे। लोगों का आना-जाना भी बंद था। मन प्रसन्न हुआ। पासवाले वातायन से अनंत आकाश की ओर देखा... एक महर्षि का वचन सहसा मन में साकार बना: **‘भव तृप्तो अंतरात्मना ।’**

उन्होंने तृप्त बनने के लिए कहा है। अंतरात्मा से तृप्त बनने के लिए कहा है। कितनी गंभीर और गहन बात कही है उन्होंने! अतृप्ति ही तो अशांति की जड़ है! आसक्ति और अतृप्ति! जड़ पौद्गलिक विषयों में घोर आसक्ति-अतृप्ति ही बनाए रखती है। आसक्ति से अतृप्ति पैदा होती है।

विषयासक्ति का कारण है बहिरात्मदशा। जब तक आत्मा बहिरात्मा बनी रहेगी तब तक विषयासक्ति अखंड बनी रहेगी। ज्यों ही आत्मा अंतरात्मा बनी, विषयासक्ति दूर होगी और अनासक्ति जाग्रत होगी। अनासक्ति में से तृप्ति का अमृत प्रकट होता है। उस अमृत से आत्मा अमर बन जाती है। **‘कैवल्य-उपनिषद्’** का वह प्रसिद्ध सूत्र याद आ जाता है :

**‘न कर्मणा न प्रजया धनेन,
त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः ।’**

आसक्ति के मुख्य पात्र हैं काया, कंचन और कामिनी। इन तीनों की कितनी भी प्राप्ति हो, कितना भी उपभोग हो, तृप्ति होती ही नहीं। अधिकाधिक प्राप्त करने की, अधिकाधिक उपभोग करने की प्यास बनी ही रहती है। यह अतृप्ति ही अशांति की जननी है। अतृप्त मन सदैव अशांत बना रहता है। तृप्त मन ही परम शांति का अनुभव करता है।

तृप्ति में शांति है, अतृप्ति में अशांति है।

थोड़े क्षणों के लिए आत्मा अंतरात्मा बन गई! अनासक्ति का अपूर्व अनुभव हुआ... मन तृप्त हो गया... अहा! कैसा आनंद पाया मैंने! कैसे बताऊँ शब्दों में? परंतु दुर्भाग्य है... यह अंतरात्मदशा दीर्घकाल तक स्थाई नहीं रहती है। अंतरात्मदशा चली जाती है और बहिरात्मदशा आ जाती है।

मन क्षुब्ध हो जाता है। आसक्ति... किसी भी विषय की आसक्ति मन को

यही है जिदगी**२३**

क्षुब्ध कर ही देती है। परंतु हाँ, अभी मेरी क्षुब्धता उस आसक्ति के कारण नहीं है, अभी तो बहिरात्मदशा की विवशता के कारण क्षुब्धता है। अंतरात्मदशा टिकती नहीं है - इस कारण से क्षुब्धता है। सदैव अंतरात्मामय कैसे बना रहूँ? सर्वकाल अनासक्त योगी कैसे बना रहूँ? सर्वदा तृप्त कैसे बना रहूँ? यदि इस साधना में सफल बन जाऊँ तो कितनी परम शांति पा लूँ! परम शांति ही तो मेरा अंतिम लक्ष्य है। इसी लक्ष्य से तो मैंने मोक्षमार्ग पर चलना शुरू किया है। वर्षों से चल रहा हूँ... चलता ही जा रहा हूँ...। परंतु...

‘अतृप्ति की अकुलाहट अब सहन नहीं होती है। अतृप्ति की घबराहट अब नहीं चाहिए। अतृप्ति की विवशता अब मिटानी ही है।’

कब तक यह विचारधारा बहती रही... पता नहीं! चिंतन की मधुरता रह गई! ऐसा अकेलापन मिलता ही रहे तो कितना मजा आ जाय! तत्त्वचिंतन का अमृतपान ऐसे एकांत में, अकेले-अकेले करने में ही मजा आता है। तत्त्वचिंतन करने में भले ही मन अतृप्त रहा करे! ऐसी अतृप्ति में ही तो परम तृप्ति के बीज पड़े हुए हैं!



१२. राग की आग बड़ी खतरनाक

आत्मा पर राग का कितना प्रबल प्रभाव है, कितना गहरा असर है - इस विषय पर सोच रहा था। प्रभात का समय था। पूर्व दिशा लाल-लाल हो गई थी। हरियाली से हराभरा वन था। सर्पाकार रास्ता वन में से गुजर रहा था। हमारी पदयात्रा चल रही थी। हम सब मौन चल रहे थे।

मेरा मन रागदशा पर सोच रहा था। ऐसे ही बीहड़ जंगल में महासती सीता का श्रीराम ने त्याग कर दिया था। निर्दोष सीताजी का, लोकापवाद से भयभीत श्रीराम ने त्याग कर दिया था। सीताजी के चित्त में फिर भी श्रीराम के प्रति वैसा ही राग था! इतना ही नहीं, सीता के सतीत्व की अयोध्या को प्रतीति कराने हेतु अग्निपरीक्षा की गई, सीताजी को अग्नि-खाई में प्रवेश करवाया गया। सतीत्व के प्रभाव से अग्नि-खाई पानी से भरा सरोवर बन गई। श्रीराम ने सीताजी को अयोध्या में पदार्पण करने के लिए कहा... उस समय सीताजी ने स्वयं केशलुंचन कर चारित्र-जीवन स्वीकार कर लिया! सीताजी साध्वी बन गई... त्यागी-वैरागी बन कर चल दी। लेकिन हाँ, तब भी सीताजी के हृदय में... गहराई तक श्रीराम के प्रति राग छुपकर बैठा ही था!

साध्वी सीता की आत्मा मृत्यु के पश्चात् बारहवें देवलोक की इंद्र बनी। श्रीराम के प्रति जो राग था, कम नहीं हुआ था। इधर श्रीराम लक्ष्मणजी की मृत्यु से विरक्त बन गए थे। राज्य का त्याग कर वे त्यागी श्रमण बन गए थे। उनके हृदय में नहीं था राग, नहीं था द्वेष। एक जंगल में पत्थर की चट्टान पर बैठकर उन्होंने ध्यान लगाया था। उस सीतेंद्र ने अवधिज्ञान से श्रीराम को ध्यानस्थ अवस्था में देखा...। श्रीराम के विरक्त हृदय को देखा। उनके हृदय में सीतेंद्र ने सीता को नहीं देखा... सीतेंद्र के हृदय में श्रीराम बिराजमान थे, महामुनि श्रीराम के हृदय में सीता नहीं थी!

सीतेंद्र ने ध्यानमग्न श्रीराम को ध्यान से विचलित करने को सोचा : 'यदि श्रीराम शुक्लध्यान में चले गए तो वे वीतराग बन जायेंगे, सर्वज्ञ बन जायेंगे, वे सिद्ध-बुद्ध और मुक्त हो जायेंगे... तब फिर उनका और मेरा संबंध इस संसार में कभी भी नहीं हो सकेगा...।'

राग संबंध की कामना करवाता है। सीतेंद्र का रागी हृदय श्रीराम के साथ पुनः संसार में संबंध चाहता है! साध्वी-जीवन में उस राग की आग पर राख,

यही है जिदगी**२५**

संयम की राख डाल दी गयी थी, आग बुझी नहीं थी। कैसे बुझती वह आग? राग की आग सामान्य आग नहीं होती, दावानल होता है! दावानल को बुझाना सरल काम नहीं है।

स्त्रीराग या पुरुषराग ही प्रबल होता है, ऐसा नहीं है। पितृराग, भ्रातृराग इत्यादि भी उतने ही प्रबल होते हैं। श्रीराम को लक्ष्मण के प्रति कितना प्रगाढ़ राग था! लक्ष्मणजी के मृतदेह को अपने कंधे पर लेकर छः महीने तक अयोध्या में श्रीराम भटके थे! ऐसे प्रबल राग-दावानल को जो बुझाते हैं, इस आग से जो विरक्त बनते हैं... वे ही महात्मा हैं, वे ही महावीर हैं, वे ही महापुरुष हैं। श्रीराम वैसे ही महावीर-महात्मा पुरुष थे। सीतेंद्र उनको ध्यानभ्रष्ट नहीं कर सका। श्रीराम वीतराग बन गए, सर्वज्ञ बन गए। सीतेंद्र ने वीतराग श्रीरामचन्द्र महामुनि के चरणों में विरक्त हृदय से वंदना की।

पूरा प्रसंग मेरे चिंतन का प्रदेश बन गया। सीतेंद्र के प्रति कुछ सहानुभूति जहाँ हुई, श्रीरामचन्द्रजी की वीतरागता के प्रति हृदय गद्गद हो गया, उनको अनंत-अनंत भाववंदना कर ली।



१३. श्रद्धा का सहयोग

‘जिस दुःख की कल्पना भी न हो, जिस आघात का आसार भी न मिला हो, वह दुःख, वह आघात अचानक आ जाए... उस समय मन अशान्त न हो, बेचैन न हो, व्यथित न हो - ऐसी मनःस्थिति का निर्माण कैसे हो? ऐसा निश्चल आत्मभाव कैसे प्राप्त हो?’

पैर वर्तमान पर चल रहे थे, मन अतीत की पगडंडियों पर चल रहा था। वन नीरव था, पवन शीतल था, नीलाकाश के नीचे पंख फैलाये पंखी निराबाध उड़ रहे थे। चिंतन का मार्ग साफ था। ऐसे वातावरण में मजा आता है उस चिंतन में, अगम-अगोचर आनंद की दिव्य अनुभूतियाँ होती हैं उस चिंतन में!

मेरा मन पहुँच गया उन सुदर्शन श्रेष्ठि के पास, उनकी धर्मपत्नी मनोरमा के पास। अभी-अभी ही सुदर्शन उस सूली के सिंहासन से उतरकर घर पर आए थे। घर के बाहर हजारों स्त्री-पुरुषों की भीड़ थी... वे सब सुदर्शन की जयजयकार कर रहे थे। मैं बड़ी मुश्किल से उस भीड़ को चीरता सुदर्शन की हवेली में पहुँचा। मैंने सुदर्शन के चरणों में बैठी उस सुशीला, सुप्रसन्ना, सन्नारी मनोरमा को देखा। दोनों ने मेरा सत्कार किया, आसन प्रदान किया। मैंने मनोरमा से प्रश्न किया :

‘मैं आपसे कुछ पूछना चाहता हूँ।’

‘अवश्य निःसंकोच पूछें।’ मनोरमा ने अपने पति के सामने देखते हुए मुझे प्रत्युत्तर दिया। मुझे देखकर हवेली में से ३-४ देवकुमार जैसे लड़के भी वहाँ आ गए और मनोरमा के आसपास बैठ गए। मैं समझ गया कि ये सुदर्शन के ही पुत्र हैं। मैंने प्रश्न किया :

‘देवी, सुदर्शन श्रेष्ठि पर कल्पनातीत कलंक आया, कल्पनातीत सजा हुई... आपके परिवार पर घोर संकट आया, उस समय आपके मन की स्थिति कैसी रही थी? उस समय आपने क्या किया था? मनोरमा की दृष्टि जमीन पर स्थिर थी। वह मेरा प्रश्न ध्यान से सुन रही थी। उसने प्रत्युत्तर दिया :

‘प्रातःकाल जब मैंने उनके ऊपर लगाये गए इल्जाम के विषय में बात सुनी, मैं क्षणभर स्तब्ध रह गई थी। परंतु मुझे उन पर, उनके अकलंकित चरित्र पर पूर्ण विश्वास था। ऐसा अकार्य उनके जीवन में कभी भी नहीं हो सकता। अवश्य किसी पूर्वकृत पापकर्म के उदय से घटना बनी है। बाद में जब

यही है जिंदगी

२७

मैंने सुना कि उनको सूली पर चढ़ाने की सजा हुई है, मैंने अरिहंत परमात्मा की शरण ले ली। संसार में ऐसा सब कुछ घट सकता है, मैं जानती थी। मुझे जिनवचन पर पूर्ण आस्था थी। मैंने उनकी (सुदर्शन की) समता-समाधि के लिए परमात्मा से प्रार्थना की और मैं अरिहंत परमात्मा के ध्यान में लीन हो गई।'

मैंने बीच में ही पूछ लिया : 'ऐसे संकट में मन ध्यानमग्न कैसे हो सका? ऐसी स्थिति में तो मन चंचल हो जाता है।'

'अश्रद्धा में से चंचलता पैदा होती है। अज्ञानता में से अस्थिरता जन्म लेती है। मुझे जिनवचन पर ज्ञानमूलक श्रद्धा है। इनके (सुदर्शन के) सहवास से मेरी वह श्रद्धा पुष्ट हुई है। अब तो... वह श्रद्धा सुदृढ़ हो गई! अरिहंत परमात्मा के अचिन्त्य प्रभाव से हमारे सारे संकट दूर हो गए, सारे नगर के लोगों को धर्म पर, धर्म के प्रभाव पर श्रद्धा हो गई... और क्या चाहिए?' मनोरमा के मुख पर साक्षात् धर्म-तेज चमक रहा था। धर्म की अचिन्त्य-अनंत शक्ति पर अखंड श्रद्धा मनुष्य को कल्पनातीत आपत्ति में भी धीरता और स्थिरता प्रदान करती है, यह परम सत्य मैंने पाया और मन से उस दंपती को अभिवादन कर वापस लौट आया।



१४. अपेक्षा तैरा भी दे... गिरा भी दे...

‘सावेक्खो बुड्ढई’ - सापेक्ष जीव डूबता है। यह आर्षवाणी है। बात निःसंदेह सत्य है। परंतु यह बात जितनी व्यवहार में सत्य है, विचारों में विपरीत है। निरपेक्ष विचारों वाला जीव डूबता है! इसका अर्थ यही कि :

- व्यवहार में निरपेक्ष रहो।
- विचार में सापेक्ष रहो।

समग्र जीवन व्यवहार में निरपेक्ष भाव से जीना ही सुख और शांति का सही मार्ग है। किसी व्यक्ति से, किसी पदार्थ से, किसी स्थान से, किसी काल से बंधना नहीं! निर्बंधन जीवन जीना। यदि इसमें से किसी से भी बंध गए तो अशांति की आग लगी समझो। इस व्यक्ति के बिना नहीं चल सकता...’ इस प्रकार के मानसिक बंधन नहीं चाहिए। निर्बंधन रहते हुए भी सबके साथ व्यवहार चल सकता है। सभी प्रकार के संबंध निभाये जा सकते हैं। खाना, पीना, रहना... सब कुछ हो सकता है।

वैसे, दूसरे मनुष्यों के अच्छे-बुरे भावों की भी अपेक्षा नहीं चाहिए। ‘उसका मेरे प्रति प्रेम होना चाहिए।’ यह भी एक अपेक्षा है। ‘उसका मेरे प्रति द्वेषभाव नहीं होना चाहिए।’ यह भी एक अपेक्षा है। ऐसी असंख्य अपेक्षाओं में मनुष्य खो गया है। अपनी शांति, अपनी प्रसन्नता सब कुछ उसने खो दिया है। वैसे, अपेक्षाओं का अंत नहीं है। अनंत अपेक्षाओं के सागर में डूबा हुआ मनुष्य घोर मानसिक पीड़ाओं का अनुभव करता है। अनेक प्रकार के हिंसा, असत्य, चोरी आदि पापों का आचरण करता है। इसलिए अपेक्षाओं का मूल से उच्छेद करने का भगवान महावीरस्वामी ने उपदेश दिया था।

हमारी विचारधारा सापेक्ष चाहिए। जिनवचन की अपेक्षा से होनी चाहिए। हमारा एक-एक विचार जिनवचन के अनुरूप होना चाहिए। इसके लिए हमें जिनवचन का यथार्थ अवबोध होना चाहिए। सत्य सदैव सापेक्ष होता है। निरपेक्ष बात कभी सत्य नहीं हो सकती।

जैन दर्शन ने जो ‘सापेक्षवाद’-‘अनेकान्तवाद’-‘स्याद्वाद’ का सिद्धांत प्रतिपादित किया है, उस सिद्धांत का हमें यथार्थ अवबोध होना चाहिए। इस सिद्धांत का यथार्थ ज्ञान हुए बिना हमारी विचारधारा सत्य और सुन्दर नहीं हो सकती।

यही है जिंदगी

२९

सात अन्ध पुरुष और हाथी का उदाहरण देकर भगवान महावीर ने वस्तु को समझने की दिव्य दृष्टि दी है। सात अन्धों के सामने प्रश्न था : 'हाथी कैसा है?' सबने हाथी को स्पर्श कर अपनी-अपनी धारणा के अनुसार उत्तर दिया। एक दूसरे की... सबकी धारणाएँ भिन्न-भिन्न थीं। परन्तु विषमता वहाँ पैदा हुई कि 'मेरी ही धारणा सही, दूसरों की गलत!' बस झगड़ने लगे सब आपस में।

वैचारिक संघर्ष इस प्रकार पैदा होते हैं। दूसरों के विचारों की अपेक्षाओं का चिंतन कर सत्यासत्य का निर्णय करना चाहिए। जिनवचन यह बताता है कि किस अपेक्षा से कौन-सी बात सत्य हो सकती है!

निष्कर्ष यह है कि जीवन-व्यवहार में अपेक्षारहित बने रहने का प्रयत्न करें। विचारों में सापेक्ष-अपेक्षा सहित बने रहने का अभ्यास करें। विचार और व्यवहार में इस प्रकार संवादिता स्थापित हो जाय तो मानवजीवन सफल हो जाय!



१५. बाहर भोगी : भीतर योगी बाहर योगी : भीतर भोगी

करोड़ों रुपयों की संपत्ति चोर उठाकर ले जाते हों, संपत्ति का मालिक स्वयं देखता हो... फिर भी वह चोर को रोकता नहीं है... शोर नहीं मचाता है! उसके मन में कोई चिंता नहीं होती है...! कैसा होगा वह आदमी! हाँ, वह साधु नहीं था, त्यागी या संन्यासी नहीं था... वह था एक सद्गृहस्थ! ग्यारह करोड़ रुपयों का मालिक और ग्यारह पत्नियों का पतिदेव। उसका नाम था श्रेष्ठि सुव्रत।

इस विचार ने मेरी निद्रा छीन ली। 'यह कैसे संभव हुआ होगा? क्या ऐसा संभव हो सकता है? मेरे जीवन में यह कैसे संभव हो सकता है? मेरे वस्त्र, पात्र, पुस्तक मेरे देखते हुए कोई उठा ले जाये... फिर भी मेरे मन में कोई ग्लानि न हो! उठा ले जाने वाले के प्रति रोष न हो! हाँ, आज तो मैं कैसी मनःस्थिति में जी रहा हूँ? श्रमण होते हुए भी रमण करता हूँ पुद्गलभावों में। कोई मेरा पात्र ले जाता है, मुझे पूछे बिना ले जाता है, तो भी मुखमुद्रा और मन बिगड़ जाते हैं! कोई चोर नहीं, कोई दूसरा श्रमण ही ले जाता हो, मैं रोक देता हूँ...। मेरी इस मनोदशा पर आज मुझे घोर घृणा हो आई.. और मैं उस महामना साधुहृदय सुव्रत श्रेष्ठि के पास दौड़ गया।

'श्रेष्ठिवर्य! तुम संसारी होते हुए भी साधुहृदय, विरक्त महात्मा हो। करोड़ों की संपत्ति के बीच रहते हुए भी मूर्च्छारहित अपरिग्रही सन्त पुरुष हो! तुम्हारी कितनी उच्चतम आत्मस्थिति? संपत्ति पर राग नहीं, चोरों पर द्वेष नहीं! चोरों पर कितनी करुणा बरसायी आपने? अपराधी के प्रति भी करुणा? कैसे की आपने करुणा? मुझे तो अपने अपराधी के प्रति तिरस्कार हो आता है। अपराधी को दूसरा कोई सजा करता हो तो मेरा मन नाचने लगता है। जबकि आप तो दौड़े राजा के पास और माँग लिया अभयदान उन चोरों के लिए।

सचमुच, तुम्हारी कहानी मेरे लिए आज पहेली बन गई है। मैं अन्तःकरण से कहता हूँ, मुझे तुम जैसी निर्लेप आत्मदशा ही पसंद है। वैसी आत्मदशा प्राप्त करने के लिए तो मैंने यह साधनामार्ग लिया है। मुझे जिनवचन पर श्रद्धा है - ऐसा मैं मानता हूँ। मेरे पास शास्त्रज्ञान है, इसमें संदेह नहीं। मैं अनेक

यही है जिंदगी**३१**

सदाचारों का पालन करता हूँ। इस बात के अनेक गवाह हैं... फिर भी हृदय आप जैसा विरक्त नहीं बना है। विरक्ति प्रिय है, वैराग्य इष्ट है... फिर भी राग और रति को मैं छोड़ नहीं सकता... यह मेरी करुणापूर्ण विवशता है।

आपके पास विपुल वैभव-संपत्ति होने पर भी आपने 'यह मेरा वैभव है, मेरी संपत्ति है,' ऐसा भाव दृढ़ नहीं किया होगा। मैं 'इस संपत्ति से, स्वजनों से, परिजनों से और इस देह से भिन्न हूँ, न्यारा हूँ...' इस दिव्य विचार से अनेक बार अपनी आत्मा को भावित की होगी...। अहो! तुम भोगी दिखते थे, किंतु थे तुम योगी! मैं दिखता हूँ योगी, परंतु हूँ भोगी...। सही है न? अन्यथा इतने वर्षों की धर्म आराधना के बाद भी मेरा हृदय निर्लेप क्यों नहीं बना? करुणा से भरपूर सागर सा क्यों नहीं बना?

हे आत्मनिष्ठ महात्मन्! आपकी दृष्टि स्थिर, शाश्वत और अविनाशी तत्त्वों के प्रति खुल गई थी। अस्थिर, नाशवंत और क्षणभंगुर तत्त्वों से आपका मन ऊब गया था...। यही रहस्य है न आपकी निर्लेप आत्मदशा का? विरक्ति और करुणा का सुभग मिलन हुआ था आपके जीवन में... मैं अपने जीवन में इन्हीं दो तत्त्वों को पाने के लिए अति आतुर हूँ।



१६. होना मुझ को निर्बंधन

बंधन, बंधन ही रहेगा! भले वह बंधन द्रव्य का हो, क्षेत्र का हो, काल का हो या भाव का हो। भले बंधनों में अल्प समय के लिए मजा आता तो, आनंद मिलता हो... फिर भी वे बंधन हैं... बंधन में करुण क्रन्दन छुपा हुआ पड़ा है।

राग प्रबल बंधन है! द्वेष इतना प्रबल बंधन नहीं है। आन्तर-प्रतिबंध ही बंधन है, बाह्य बंधन उस आन्तर-प्रतिबंध पर अवलंबित है। परंतु बाह्य बंधनों में व्यथित मनुष्य को आन्तरिक बन्धनों के विषय में विचार ही नहीं आता।

‘मुझे ऐसे वस्त्र ही चाहिए’, - मिल गए वैसे वस्त्र, मुझे आनंद हुआ। परंतु जब एक दिन मुझे मनचाहे वस्त्र नहीं मिले, मुझे कितना दुःख हुआ था! कैसी घोर व्यथा अनुभव की थी मैंने! ‘मुझे तो इस नगर में ही रहना पसंद है,’ मुझे उस नगर में निवास मिल गया, मैं बहुत प्रसन्न हुआ, उस नगर से मुझे प्यार हो गया! परंतु एक दिन मुझे जब वह नगर छोड़कर जाना पड़ा था... मुझे कितनी वेदना हुई थी? मैं कैसा मोहमूढ़ हो गया था? ‘मुझे सर्दी के दिन ही अच्छे लगते हैं... गर्मी में तो मर जाता हूँ...’ मेरे मन में ऐसी ग्रंथि बंध गई थी? जब-जब सर्दी के दिन आते थे, मैं खुश होता था और जब गर्मी के दिन आते थे, मैं नाराज हो जाता था, मुरझा जाता था। ‘मेरे प्रति मेरे सहवासियों का प्रेम होना चाहिए, सद्भाव होना चाहिए... मुझे उनके स्नेह-भरपूर शब्द सुनने मिलने चाहिए...’ जब-जब मुझे उनका प्रेम, स्नेह और सद्भाव मिला, मैंने निरवधि आनंद पाया। परंतु जब मुझे उन लोगों से स्नेह और सद्भाव मिलना बंद हो गया, मैंने घोर वेदना अनुभव की।

बन्धनों में आनंद क्षणों का, उद्वेग दिनों का। आनंद दिनों का, उद्वेग महीनों का। बन्धनों में निरन्तर आनंद कहाँ से मिले? बन्धनों में सदैव सुख कहाँ से मिले? जब तक हृदय निर्बंधन न बने तब तक लगातार आन्तर आनंद की अनुभूति नहीं हो सकती। इसलिए मैं चाहता हूँ कि मेरा हृदय निर्बंधन बने। राग के बंधन से मुक्त बने।

विराग... विरक्ति की महिमा अब मैं समझा। उस श्लोक का पाठ तो वर्षों से कर रहा था।

**इष्टवियोगाप्रियसंप्रयोगकांक्षासमुद्भवं दुःखम् ।
प्राप्नोति यत्सरागो न संस्पृशति तद् विगतरागः ॥**

‘प्रिय के वियोग की और अप्रिय के संयोग की आकांक्षा से उत्पन्न जो दुःख रागी पाता है, रागरहित व्यक्ति को उस दुःख का स्पर्श भी नहीं होता।’ मैं पढ़ता था इस श्लोक को... परन्तु इसका भाव मेरे हृदय को स्पर्श भी नहीं करता था... कैसे करे? रागी हृदय को जिनवाणी कैसे स्पर्श करे? परंतु मेरे रागी हृदय ने प्रिय के वियोग की कल्पना से जो दुःख अनुभव किया, जो वेदना अनुभव की... मुझे यह श्लोक याद आया। मैंने अपने हृदय को कहा : ‘हृदय, तू रागरहित बन जा। तू रागी बना है इसलिए दुःखी होता है।’ मैंने जब अपने हृदय को रागरहित बनाने में अपनी असमर्थता समझी, मैं वीतराग परमात्मा की शरण में गया। मैंने परमात्मा से प्रार्थना की : ‘हे वीतराग! मेरे हृदय को रागरहित बना दो, राग की जड़ों को उखाड़ कर फेंक दो। मुझे अब रागजन्य सुख नहीं चाहिए, रागजन्य आनंद नहीं चाहिए। रागरहित हृदय का परमानन्द चाहिए। मुझ पर बस, इतनी कृपा कर दो। मुझे विश्वास है कि आपकी अचिन्त्य कृपा से मेरा हृदय विरक्त बनेगा ही।’

मेरा राग का बंधन टूट जाये, मैं निर्बंधन बनूँ... ओह, मेरा वह दिन कितना धन्य होगा! मैं निस्सीम आनंद का अनुभव करूँगा। मेरे हृदयमन्दिर में विराग का दिव्य दीपक जगमगायेगा। मेरा वह दीपक कभी बुझ न पाये... उसकी ज्योति अमर ज्योति बन जाये...।



१७. अविनाशी के अनुरागी होना

अस्थिर को स्थिर माना, विनाशी को अविनाशी माना, क्षणिक को शाश्वत माना... असंख्य जन्मों से मेरी यह मान्यता चली आ रही है। इस वर्तमान जन्म में भी इसी मान्यता को लेकर जीवन जी रहा हूँ... ज्ञान हो गया है मुझे कि क्या अस्थिर है और क्या स्थिर है? क्या विनाशी है और क्या अविनाशी है? क्या क्षणिक है और क्या शाश्वत है? शास्त्रों में से मुझे जानकारी मिली है। महापुरुषों से मुझे ज्ञान मिला है। परन्तु क्या पता... मेरा हृदय क्यों अस्थिर, विनाशी और क्षणिक सुखों का अनुरागी बन रहा है? क्यों स्थिर, शाश्वत और अविनाशी आत्मसुख के प्रति अभिमुख नहीं होता?

अस्थिर यौवन के अनुराग ने मुझे बेचैन किया है। विनाशी वैभव ने मुझे विषादग्रस्त किया है। क्षणिक स्नेह-संवेदनों ने मुझे अत्यंत व्यथित किया है... जानता हूँ मैं, फिर भी मैं नहीं समझता हूँ कि जन्म-जन्म के इस अनुराग को कैसे मिटाऊँ?

आन्तर निरीक्षण में से बस, व्यथा ही व्यथा प्रगट होती है। इस व्यथा की कथा किसको सुनाऊँ? सुनाने से भी क्या? सुनने वाला क्या करेगा? आश्वासन के दो शब्द कहेगा... उपदेश के पाँच-दस वचन सुना देगा... परन्तु इससे मेरी व्यथा मिट नहीं सकती। मैं खोजता हूँ ऐसे किसी योगी पुरुष को! जो स्थिर, शाश्वत और अविनाशी परम तत्त्व के अनुरागी हों... वास्तविक अनुरागी हों। जिनके दर्शन से, जिनके सत्संग से मैं भी स्थिर, शाश्वत और अविनाशी तत्त्व का अनुरागी बन जाऊँ! ऐसे महापुरुष की छाया बनकर जीवन कृतार्थ कर दूँ। भले वे महापुरुष न बोलें मेरे साथ, उनका मौन भी मेरे लिए प्रेरणास्रोत बन जायेगा। उनका एक इशारा ही मेरे लिए पथप्रदीप बन जायेगा। परन्तु ऐसे महापुरुष कहाँ मिलेंगे? कब मिलेंगे? पता नहीं! कहते हैं कि योगीपुरुषों के दर्शन भी पुण्यकर्म के उदय से मिलते हैं।

ऐसे पुण्यकर्म का उदय कब होगा? नहीं जानता हूँ!

अस्थिर, विनाशी और क्षणिक द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव में जीना पड़ता है, यह मैं जानता हूँ। परन्तु उनसे अनुराग होना, सब दुःखों की जड़ है - यह जानते हुए भी मैं अनुरागी बन जाता हूँ... यह मेरी विवशता है। जब-जब मेरा मन अशान्त हुआ... मेरा हृदय विषादपूर्ण हो गया, बेचैनी ने मुझे घेर लिया...

यही है जिंदगी

३५

मैंने सोचा कि 'मुझे ऐसा क्यों हुआ?' मैंने पाया कि मेरी अशांति का कारण मेरा अस्थिर विषयों का राग था। मेरे विषाद का कारण मेरी क्षणिक पदार्थों की आसक्ति थी। मेरी बेचैनी का कारण विनाशी स्नेहबंधन थे!

दूसरों के जीवन में भी मैंने देखा है। कई आस्तिक-नास्तिक स्त्री-पुरुष मेरे पास आते हैं, कई धार्मिक-अधार्मिक व्यक्ति मेरे पास आते हैं। वे लोग ज्यादातर अशांति और बेचैनी की शिकायत करते रहते हैं। मैंने जब उनका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया, मुझे लगा कि वे लोग अस्थिर, विनाशी और क्षणिक भावों के अनुरागी थे! इस अनुराग से ही वे अशान्त थे! बेचैन थे!

मैंने अनुभव किया है कि अस्थिर, विनाशी और क्षणिक भावों में हृदय सदैव अतृप्त रहता है। कभी-कभी तृप्ति की डकार आती है, परन्तु वह तृप्ति क्षणिक ही होती है। अस्थिर और विनाशी होती है। थोड़े समय के पश्चात् वही की वह अतृप्ति!

हाँ, मुझे थोड़े क्षणों के लिए स्थिर, शाश्वत और अविनाशी परमात्मतत्त्व का आस्वाद मिला है, इसलिए मैं उसका अनुरागी बना रहना चाहता हूँ, अन्यथा वैसी चाह होना संभव ही न होता। मैं नहीं जानता कि मेरी यह तीव्र चाह कब पूर्ण होगी? मुझे वह आस्वाद स्थिर, याद आता है... मैं अपूर्व आनंद का अनुभव करता हूँ। मेरा यह आनंद शाश्वत और अविनाशी हो जाय तो!



१८. देखो... मगर परदा उठाकर

‘द्रव्य’ और ‘पर्याय’ के तत्त्वज्ञान पर चिन्तन करता हूँ, तो नया प्रकाश पाता हूँ। असंख्य विकल्पों के बबूल-वृक्षों के निबिड़ जंगल में से बाहर निकलने का मार्ग दिखाई दिया। मेरा मन नाच उठा। अभिनव उत्साह से मेरा हृदय भर गया। जिनवचन का यह अत्यंत रहस्यभूत तत्त्वज्ञान है।

द्रव्यदृष्टि और पर्यायदृष्टि! ये दो दृष्टि खुल जाए तो बस, मुझे दूसरा कुछ नहीं चाहिए। चर्मचक्षु के बिना चल सकेगा, दिव्यचक्षु के बिना नहीं चलेगा। द्रव्यदृष्टि और पर्यायदृष्टि दिव्य चक्षु हैं।

जितने मानसिक विचार हैं, विकल्प हैं, सारे के सारे पर्यायदर्शन में से पैदा होते हैं। केवल पर्यायदर्शन! द्रव्यदर्शन के बिना केवल पर्यायदर्शन से राग-द्वेषयुक्त असंख्य विकल्प पैदा होते हैं। पर्यायों का भी यथार्थ बोध नहीं! मैंने कितने राग-द्वेष किये? कितने-कितने पापकर्मों के बंधन मोल लिए? यदि मुझे द्रव्य और पर्याय का तत्त्वज्ञान बाल्यकाल से मिल जाता तो...?

समग्र विश्व क्या है? जीवद्रव्य और पुद्गलद्रव्य का संयोग। इस अनादि संयोग का वियोग हो जाए तो आत्मा परमात्मा बन जाए! परन्तु जीवद्रव्य का यथार्थ बोध चाहिए, जीवद्रव्य के अनंत पर्यायों का बोध चाहिए। पुद्गलद्रव्य का और उसके अनंत पर्यायों का ज्ञान चाहिए। इस ज्ञान से ही प्रगाढ़ मोहवासनाओं का विनाश हो सकता है। द्रव्य की भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ ही तो पर्याय हैं। मैं उन अवस्थाओं को ही देखता हूँ और उन पर विचार करता हूँ। मुझे ज्ञान ही नहीं था कि अवस्था हमेशा परिवर्तनशील होती है। अवस्था शाश्वत नहीं हो सकती, अविनाशी नहीं हो सकती। द्रव्य की अच्छी अवस्था देखकर मैंने अनुराग किया, बुरी अवस्था देखकर विद्वेष किया।

मनुष्यत्व क्या है? आत्मा की एक अवस्था! देवत्व क्या है? आत्मा की एक अवस्था! नारकत्व और तिर्यचपन भी अवस्थाएँ ही हैं। मानवजीवन के अवान्तर पर्याय हैं - बाल्यकाल, यौवनकाल... वृद्धत्व आदि। अवस्थाएँ बदलती रहती हैं, द्रव्य स्थिर रहता है - एक-सा रहता है।

स्वर्णहार क्या है? सोने का एक पर्याय! स्वर्णकुंडल... स्वर्णकंगन... इत्यादि क्या है? पर्याय! जो कुछ हमें आँखों से दिखता है, कानों से सुनाई देता है, जिह्वा रसास्वाद करती है, चमड़ी स्पर्श का अनुभव करती है और नासिका

यही है जिदगी**३७**

गन्ध ग्रहण करती है, ये सब पर्याय हैं। दृश्य जगत पर्यायों का जगत है। हम दृश्य जगत को ही देखते हैं... परन्तु दृश्य जगत का आधार अदृश्य द्रव्यों का जगत नहीं देखते, समझते भी नहीं... यही हमारी करुणता है।

पर्यायों से क्या प्रेम करना? और क्या द्वेष करना? परिवर्तनशील अवस्थाओं के प्रति राग या द्वेष करने का परिणाम दुःख और अशांति ही है। मैंने कई बार सोचा : 'मुझे अशांति क्यों हुई? मुझे उद्वेग क्यों हुआ?' मुझे अपनी अंतरात्मा में से प्रत्युत्तर मिला : 'तू पर्यायों के प्रति राग-द्वेष करता रहेगा, तब तक तुझे अशांति और उद्वेग ही मिलेगा। तू यदि अशांति नहीं चाहता है, क्लेश और संताप से मुक्त होना चाहता है तो पर्यायों के प्रति राग-द्वेष करना छोड़ दे। शुद्ध आत्मद्रव्य का अनुरागी बन। जो सदैव शिव है, अचल है, अमर है, अनंत है, अव्याबाध है, ऐसे आत्मद्रव्य का प्रेमी बन। सब जीवात्माओं के प्रति आत्मदृष्टि से देख। जीवों के रूप, रंग, देह, इन्द्रियाँ आदि पर्यायों को मत देख। देख भी ले तो उन पर राग-द्वेष मत कर। देह में रहे हुए परन्तु देह से भिन्न आत्मद्रव्य को देख।

द्रव्यदर्शन का पुनः-पुनः अभ्यास पर्यायदर्शन की अनादि आदत से मुक्त करता है। इसलिए मैं चाहता हूँ कि मैं पर्यायों का सिर्फ ज्ञाता और दृष्टा ही बना रहूँ... न राग, न द्वेष! कब ऐसा धन्यातिधन्य अवसर आएगा... नहीं जानता हूँ!



१९. सब कुछ 'स्व' में है

आशा ही संसार है। अपेक्षा ही संसार है। सिर्फ आशा और अपेक्षा! कोई आशा पूर्ण नहीं होती, कोई अपेक्षा पूर्ण नहीं होती इस संसार में! आशा पूर्ण होती हुई दिखती है... जैसे दूर क्षितिज पर पृथ्वी को आकाश मिलता हुआ दिखता है... परन्तु वह केवल दिखावा ही होता है... वास्तविकता कुछ नहीं! संसार में ऐसा ही होता है न! केवल दिखावा है... दूर से सब सुन्दर दिखता है... पास जाने पर सब कुरूप लगता है। दूर से जो नन्दनवन दिखता है, निकट जाने पर वही बीहड़ वन दिखता है। संसार का यह स्वरूप उन महाकवि की समझ में आ गया होगा, इसलिए उन्होंने गाया है :

‘आशा औरन की क्या कीजे... ज्ञानसुधारस पीजे...’

अपनी आत्मा से भिन्न दूसरे किसी भी पदार्थ की आशा करने जैसी नहीं है। आशा ही संसार है, जिसने करोड़ों... असंख्य... अनंत जीवों को धोखा दिया है। सांसारिक जीवन ही एक धोखा है। क्या पाना है ऐसे संसार से? कुछ नहीं।

मृगजल! दूर से पानी दिखता है... पास जाने पर धूल! दूर से संसार में सुख दिखते हैं... पास जाने पर दुःख! तब तक आकर्षण बना रहता है संसार के सुखों का, जब तक वे सुख हमें मिल नहीं जाये। जो सुख हमारे पास हैं, हम उन सुखों का मूल्यांकन नहीं करते। जो सुख हमारे पास नहीं हैं, उन सुखों के प्रति हमें आकर्षण होता है। इसी प्रकार हमारा जीवन व्यतीत होता जा रहा है।

कब दृष्टि खुलेगी? कब यह वास्तविकता आत्मसात् होगी? कब इस वास्तविकता को स्वीकार करेगा मन? इसको स्वीकार किये बिना मन शांति का अनुभव नहीं कर सकता। स्थिरता के बिना शांति नहीं टिक सकती। संसार की हर परिस्थिति को स्वीकार करके ही जीवन जीना होगा।

संसार की वास्तविकता का प्रतिदिन चिंतन करने का जिनेश्वरों का उपदेश कितना यथार्थ है! परन्तु संसार के अवास्तविक सुख-दुःखों की कल्पना-जाल में हम उलझे हुए हैं। इस उलझन में हमारी धर्म आराधना भी उलझ गयी है। धर्म आराधना का वास्तविक परिणाम हम नहीं पा रहे हैं।

यही है जिदगी**३९**

अब मुझे इस संसार से कुछ भी नहीं पाना है। पाने जैसा है भी क्या? किसी ने कुछ नहीं पाया संसार से। मृगजल से जल किसने पाया? अब तो पाना है आत्मा में से। पाना है परमात्मा से। अक्षय और अविनाशी को पाना है। शाश्वत और अनंत को पाना है। यह पाने के लिए जो भी त्याग करना है, करूँगा। जो स्वीकार करना है, करूँगा।

जानता हूँ, यह मार्ग दुर्गम है। परन्तु इस मार्ग पर चलना ही है। तीव्र गति से न सही, मंद गति से चलूँगा। जानता हूँ कि यह मार्ग भी संसार में से ही गुजरता है। आशा और कामनाओं के आन्तरिक आक्रमण आयेंगे... परन्तु फिर भी चलना है। आक्रमणों से डरना नहीं है, उनसे लड़ूँगा। जय हो या पराजय, लड़ते-लड़ते मरूँगा।

यह तो अंतरात्मा का दृढ़ निर्णय है कि आत्मा में से ही परम आनंद और अनंत समृद्धियाँ मिल सकती हैं। कलिकालकेवली श्री उपाध्याय यशोविजयजी ने सच ही कहा है :

अंतरेवावभासन्ते स्फुटाः सर्वाः समृद्धयः।

सर्व शाश्वत समृद्धियाँ अंतरात्मा में से ही प्रकट होगी। संसार से कुछ नहीं। संसार मिथ्या है। आत्मा ही सत् है, परम सत् है, पारमार्थिक सत् है।



२०. श्रमण जीवन की सार्थकता

मैं संसार के सर्व जीवों को क्षमा देता हूँ, निर्वैर बनता हूँ, संसार के सब जीव, मुझे क्षमादान दो! मैं आप सबसे क्षमायाचना करता हूँ। आप सब मेरे मित्र हैं, मुझे किसी से भी शत्रुता नहीं है।

आप सब जीवात्माएँ! भूल जाओ कि आपने मेरे प्रति अपराध किए हैं। अपराध आपने नहीं किए हैं, कर्मों ने आपसे अपराध करवाए हैं। आप निर्दोष हैं। आपके स्वभाव में ही नहीं है अपराध करना।

दूसरी बात : मेरे पापकर्मों के उदय के बिना मेरा कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता। किसी से यदि मेरा कुछ बिगड़ता है तो वह मेरे ही पापकर्मों की वजह से! जब मैं इन जिनवचन को नहीं जानता था उस समय मैंने दुनिया के जीवों को ही अपराधी माने, उनके प्रति शत्रुता की, वैर-विरोध किया। मैंने भी उन जीवों का अहित सोचा, अहित किया। इसका परिणाम भी मैंने देख लिया। परिणाम विपरीत ही आया है। मेरा ही अहित हुआ... मेरे ही तन-मन संतप्त बने, जो पापकर्मों का बंधन हुआ होगा वह तो सर्वज्ञ जाने। क्या पाया मैंने? बदला लेने की वृत्ति का क्षणिक संतोष!

अज्ञानदशा में मैंने, जो जीव क्षमा माँगने आए, उन्हें क्षमा नहीं दी। मैंने घृणा की, तिरस्कार किया। अब मैं उस शत्रुता को हृदय से निकाल देता हूँ। सब जीवों को क्षमा प्रदान करता हूँ। इतना ही नहीं, सब जीवों से विनम्र बनकर क्षमायाचना करता हूँ। क्षमा की भिक्षा माँगता हूँ। मैं मेरी तरफ से सर्वजीवमैत्री घोषित करता हूँ। इसलिए सर्व जीवों के प्रति स्नेह करने लगा हूँ। मैं किसी का भी अहित नहीं करूँगा। जो सबके लिए हितकारी होगा, वही करूँगा। स्नेही का, मित्र का अहित कैसे हो सकता है?

आहो! मेरा परम सौभाग्य है कि मुझे सर्व जीवों के साथ मैत्रीपूर्ण जीवन जीने का पुण्य अवसर मिल गया है! मुझे श्रमण जीवन मिला है। सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवों की भी रक्षा करने का जीवन! पृथ्वी-पानी के जीव, अग्नि-वायु के जीव और वनस्पति के जीव, सब जीवों को मैं अभयदान दे सका हूँ। मेरे सुख-स्वार्थ के लिए किसी भी जीव की न तो हिंसा करनी है, न ही किसी जीव को पीड़ा पहुँचानी है!

मेरे ख्याल से श्रमण जीवन के अलावा किसी भी जीवन में सर्व जीवों के

यही है जिदगी

४१

साथ मैत्री नहीं हो सकती है। एकेन्द्रिय, द्विन्द्रिय... आदि जीवों की बात छोड़ दें, मनुष्यों के साथ भी संसार में मैत्री करना और निभाना असंभव-सा लगता है। श्रमण जीवन में, केवल मनुष्य ही नहीं चार गति के और चौरासी लाख योनि के सर्व जीवों के साथ मैत्री स्थापित हो सकती है और निभाई जा सकती है।

परम उपकारी सर्वज्ञ परमात्मा ने, सर्वजीवमैत्री की महत्ता अपने दिल और दिमागों में बनी रहे, इसलिए प्रतिदिन चिंतन करने का सरल सूत्र दिया :

**खामेमि सव्व जीवे, सव्वे जीवा खमंतु मे,
मिति मे सव्व भूएसु वेरं मज्झं न केणई ।।**

‘हे परमात्मन्! सदैव मेरा मन निर्वैर बना रहे। सभी जीवों के मन निर्वैर बने रहें। सबके हृदय मैत्री से, स्नेह से भरपूर बने रहें। सब जीव परस्पर का हित ही सोचें और हित करने वाले ही बनें।’

आज मेरा निर्वैर मन कितना प्रसन्न है! कितना प्रशांत है! आज मैंने दिव्य सुख का अनुभव किया! क्षमा का आदान-प्रदान मोक्ष-सुख का आस्वाद करा सकता है। जयतु क्षमाधर्मः।



२१. सिद्धशिला पर जाना है

प्रतिदिन बोलता हूँ: 'अरिहंते सरणं पवज्जामि, सिद्धे सरणं पवज्जामि, साहू सरणं पवज्जामि, केवलिपन्नत्तं धम्म सरणं पवज्जामि...' परंतु कल रात जब निद्रा नहीं आ रही थी, सहसा एक विचार ने मुझे हिला दिया : 'क्या मैंने अरिहंतों की शरणागति स्वीकार की है? क्या मैंने सिद्धों की, साधकों की और धर्म की शरणागति स्वीकार की है? मैं कितने वर्षों से शरणागति का सूत्र बोल रहा हूँ? शरणागति के परिणाम-स्वरूप जो समर्पण का दिव्य भाव जाग्रत होना चाहिए था, अभी तक जाग्रत हुआ क्या? क्यों नहीं?'

बहुत देरी से सोया था। चाहता था कि निद्रा आ जाय, परंतु इस वैचारिक आक्रमण ने निद्रा को भगा दिया! 'शरण' तत्त्व पर मंथन शुरू हो गया। शरण की पूर्वभूमिका पाई श्रद्धा में। श्रद्धा ही शरणागति को स्वीकार करवाती है। श्रद्धा में शरणभाव स्वतः जाग्रत होता है। शरणभाव आगे बढ़कर समर्पण में परिणत हो जाता है! इस वास्तविकता से मैं परिचित हूँ, फिर भी परिणत नहीं हो पाया हूँ!

जिन-जिन परम तत्त्वों को शरणागति स्वीकारने का 'कर्तव्य' अदा करता हूँ, उन-उन परम तत्त्वों का श्रद्धापूर्ण भावों से स्मरण करता हूँ क्या? 'अरिहंत' का स्मरण हो आता है या करना पड़ता है? लगता है कि स्मरण करना पड़ता है। अरे, स्मरण करने - ध्यान करने बैठता हूँ तब मन उस स्मरण में कहाँ आनंद पाता है? चला जाता है दूसरे पदार्थों के पास... जहाँ उसको आनंद आता है। पाँच इन्द्रियों के प्रिय विषयों में दौड़ जाता है। इष्ट-अनिष्ट का विचार करने लग जाता है। समझ में नहीं आता कि श्रद्धा का दीपक हृदय में जल रहा है या नहीं! जब श्रद्धा ही न हो तो फिर शरणागति का भाव तो जाग्रत ही कैसे होगा? 'अरिहंते सरणं पवज्जामि' क्या सिर्फ रात्रि के लिए ही है? सुप्तावस्था ही अरिहंत की शरण में? जाग्रत अवस्था में अरिहंत की शरणागति आवश्यक नहीं?

ज्यों-ज्यों सोचता चला, हृदय में उत्पात हो गया। निद्रा तो जा चुकी थी, मैं उठ खड़ा हुआ। वातायन के पास जा कर खड़ा हुआ। नीरव शांति थी, अशोक-वृक्ष पर बैठे हुए पक्षियों के पंखों का कंपन सुनाई दे रहा था। बहुत ऊँचे आकाश में घनघोर बादल दौड़ रहे थे। क्या पता उनको कहाँ बरसना होगा...?

यही है जिदगी**४३**

अनंत आकाश में कोई वीथी नहीं है, कोई जनपथ नहीं है... कि जिस पर दौड़ता हुआ... सिद्धशिला पर पहुँच जाऊँ। जो-जो आत्माएँ वहाँ गई, उन्होंने अपने पदचिह्न भी नहीं छोड़े... अन्यथा उन पदचिह्नों के सहारे धीरे-धीरे भी चलता हुआ... वहाँ मैं पहुँच जाता! मैं अम्राकुल आकाश की ओर देखता ही रहा... बादल हट जाए और ऊपर सिद्धशिला दिखाई दे तो...? मन मूर्खतापूर्ण विकल्प करने लगा...! 'सिद्धे सरणं पवज्जामि' मुँह से सहसा निकल गया। 'हे अनंत सिद्ध भगवंत! मुझे आप अपनी शरण में ले लीजिए... आप मुझे अपने पास बुला लीजिए...!'

वे लोग ही वहाँ जा पाते हैं जो साधक पुरुष होते हैं, जिनके हृदय में धर्म होता है। इसलिए मुझे उन साधकों की शरण लेनी चाहिए। उनके हृदय में जो धर्म है, उस धर्म की शरण लेनी चाहिए...।

हृदय में अव्यक्त अपूर्वानन्द उभर आया... हृदय गद्गद हो गया, आँखें अश्रुओं से भर आयीं... मनसा-वचसा-कायेन मैं उन शरण्य तत्त्वों के प्रति समर्पित हो गया...! वह रात मैं कभी नहीं भूल सकता...।



२२. खिला दो कमल, कृपासिंधु!

निर्वाण!

कार्तिक अमावस्या... मध्यरात्रि... श्रमण भगवान महावीर का निर्वाण हो गया...। सदेह भगवान विदेह हो गए। पार्थिव देह के बंधनों से चैतन्य मुक्त हो गया... रूपी-अरूपी बन गया... मूर्त अमूर्त बन गया...!

अब उस अरूपी, अमूर्त... पूर्णात्मा को कभी भी जन्म नहीं लेना होगा... कभी भी व्याधि-वेदना नहीं... कभी भी मृत्यु नहीं! आत्मा का पूर्ण स्वाधीन अस्तित्व!

अनंत-अनंत मुक्तात्माओं का संपूर्ण स्वाधीन साम्राज्य! उस साम्राज्य में परमात्मा महावीर का अस्तित्व विलीन हो गया... अब वहाँ वे 'महावीर' नहीं रहे। कोई नाम नहीं... सभी वहाँ अनामी! अनामी मुक्तात्माओं की विराट दुनिया में खो गए मेरे परम प्रिय परमात्मा...!

प्रभो! अब मैं कितना भी पुकारूँ आपको, आप मेरी पुकार सुनोगे, परंतु आप मेरे पास नहीं आओगे न? आप मेरी करुणास्पद स्थिति देखने पर भी मेरे पास नहीं आओगे न? कैसे आओगे आप? वहाँ गया हुआ कोई भी इस पार्थिव दुनिया में लौटता नहीं है... मैं आपके पास आ सकता हूँ... आप मेरे पास नहीं आ सकते... यह कैसा बंधन है?

अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन... अनंत वीर्य... अनंत आनंद आपने पा लिया मेरे परमात्मा! आप कृतकृत्य हो गए.. आप सिद्ध-बुद्ध हो गए। जो आपने पा लिया... क्या मुझे उस दिव्यातिदिव्य स्वरूप की प्राप्ति हो सकती है? आप क्या मुझे वह उपलब्ध करा सकते हो? ओ परम कृपासिंधु! मुझे तो आपके पास ही ले लो। हे विश्वेश्वर! आपके निर्वाण का दिन मेरे लिए दिव्य प्रेरणा-स्रोत बन गया है। कई बार... उस मध्यरात्रि के समय आपका निरंतर स्मरण करते-करते हृदय व्याकुल बन गया है। आँखें डबडबा गई हैं... क्या कहूँ मेरे नाथ, आप देख ही रहे हो... आप सब कुछ जानते हो... मेरे अंतर्यामी! मेरी व्याकुलता... मेरी विवशता...आप कब तक दूर करोगे? आपके सिवा मेरा है भी कौन?

निकल पड़ा हूँ आपके पास आने के लिए... मेरे नाथ! मैंने घर छोड़ दिया है, माता-पिता, स्नेही-स्वजन वगैरह का त्याग कर दिया है... चल पड़ा हूँ

यही है जिदगी

४५

आपको पाने के लिए... परंतु आपके पास आने के मार्ग अस्पष्ट हो गए हैं... अनंत मार्गों में से आपके पास पहुँचने का मार्ग कौन-सा है? भटक रहा हूँ... मेरे प्राण तरस रहे हैं आपके दर्शन के लिए... कब होगा दर्शन, नहीं जानता हूँ।

यदि मेरा धैर्य टूट गया... मेरा वीर्य खत्म हो गया... मेरा दीपक बूझ गया... तो क्या होगा मेरे भगवन्? क्या मेरी यात्रा अपूर्ण रह जाएगी? क्या आपके पास नहीं पहुँच पाऊँगा? नहीं-नहीं, ऐसा मत होने देना। अब मृत्यु नहीं चाहिए... अब तो निर्वाण चाहिए। जो निर्वाण पाता है... वह आपके पास पहुँच जाता है!

ओ करुणासागर! यह पूरा जीवन ही तेरे चरणों में समर्पित कर दिया है, परंतु यह समर्पण तेरा सान्निध्य पाने के लिए किया है। तेरी आत्मज्योति में विलीन हो जाने के लिए किया है। कब पूर्ण होगी मेरी यह मनोकामना? कब तृप्त होगा मेरा प्यासा हृदय?

आज मेरी आत्मा के असंख्य प्रदेशों में स्पंदन पैदा हो गए हैं... आज मेरी समग्रता आप-मय बन गई है, मेरे प्राणनाथ! आज मेरे प्राण पुलकित हो गए हैं... मन मुखरित हो गया है... जीवन धन्य हो गया है। बस, आज मेरे हृदय-मंदिर में घंटनाद हो रहा है। पधारो नाथ, पधारो मेरे हृदय-मंदिर में... और सदैव बिराजो!

बना दो मेरे हृदय को सिद्धशिला... और सदैव बिराजो उस सिद्धशिला पर! इसको ही मैं अपनी मुक्ति मानूँगा... इसमें ही परम तृप्ति अनुभव करूँगा। कर दो कृपानिधि! इतनी कृपा मुझ पर...



२३. जन्म-मरण मिटेंगे कब?

जन्म, जीवन और मृत्यु का चक्र अनादिकाल से गतिशील है। जानता हूँ कि जब तक इस चक्र की गति स्थिर नहीं होगी, तब तक सुख-दुःख के द्वंद्व मिटने वाले नहीं। फिर भी उस अनादि चक्र की गति स्थिर करने का पुरुषार्थ नहीं हो रहा है! जन्म हो गया है, जीवन व्यतीत हो रहा है और मृत्यु आगे मुँह फाड़ कर खड़ी है।

मृत्यु का विचार जीवन के प्रति जाग्रत कर रहा है। मृत्यु के पश्चात जन्म और जीवन निश्चित है... परंतु 'जन्म कहाँ होगा? जीवन कैसा होगा?' केवल कल्पनाएँ संजोता रहता हूँ। अस्पष्ट कल्पना... संदिग्ध कल्पना! जितना भय मृत्यु से नहीं लगता है... उतना भय मृत्यु के बाद की कल्पना से लगता है। मृत्यु तो क्षणों का खेल है, उसका कोई भय नहीं। मृत्यु तो एक अनिवार्य प्रक्रिया है जीवन- परिवर्तन की। वह परिवर्तन कैसा होगा?

जब शास्त्रों में पढ़ता हूँ : 'मरते हुए बंदर को एक मुनिराज ने श्री नवकार मंत्र सुनाया और बंदर का परिवर्तन देवरूप में हुआ,' मन आश्चर्य हो जाता है। जीवन में कभी भी नवकार मंत्र का जाप-ध्यान नहीं करने वाला बंदर मृत्यु के समय नवकार मंत्र के शब्द सुनकर देव बन सकता है... तो मेरे लिए देवगति निश्चित ही लगती है। परंतु जब दूसरे ग्रंथ में पढ़ता हूँ : 'मुनि ने क्रोध किया... मृत्यु के समय भी क्रोधवासना रह गई, तो उनको साँप की योनि में जाना पड़ा,' तो आत्मविश्वास हिल जाता है। बार-बार क्रोध, मान, माया और लोभ में फँसने वाला मैं - मेरा क्या होगा?

नाटक के रंगमंच पर नृत्य करते-करते केवलज्ञानी बनने वाले आषाढाभूति का वृत्तांत पढ़ता हूँ तो मन प्रफुल्लित हो जाता है, 'मुझे सरलता से कैवल्य की उपलब्धि हो जाएगी..' परंतु जब घोर तपश्चर्या करने वाले तपस्वी का दुर्गति में पतन होने का किस्सा धर्मग्रंथ में पढ़ता हूँ, तो फिर मन उद्विग्न हो जाता है! उग्र संयम का पालन करने वालों को एकाध भूल से पशुयोनि में जाने की बात पढ़ने पर चित्त चंचल बन जाता है। 'अनेक बुराइयाँ होने के बावजूद, एकाध अच्छाई 'वीतराग' बनाती है... अनेक अच्छाइयाँ होने के बावजूद, एकाध बुराई दुर्गति में ले जाती है...' यह बात मेरे मस्तिष्क में घोर पीड़ा पैदा कर रही है।

यही है जिंदगी

४७

शादी करते-करते हस्तमिलाप के समय केवलज्ञान! कितना भाग्यशाली वो गुणसागर! शुद्ध भावों के बल पर उसने केवलज्ञान पा लिया था! और कई वर्षों से संयमधर्म की पालना करने पर भी केवलज्ञान नहीं! केवलज्ञान तो नहीं सही, पूरा श्रुतज्ञान भी नहीं! मन तड़पता है... बिलखता है। जैसे शुद्ध भाव उस गुणसागर के थे, क्या वैसे शुद्ध भाव मेरे चित्त में नहीं आ सकते? क्यों ज्ञानी पुरुषों ने उन शुद्ध भावों का वर्णन नहीं किया? यदि किया है वर्णन, तो उस वर्णन के अनुसार शुद्ध भाव आने पर भी 'केवलज्ञान' क्यों नहीं प्रगट हो रहा? ज्ञानी कहते हैं : 'उनके जैसे तीव्र शुद्ध भाव आएँगे, तब होगा केवलज्ञान!' वो तीव्रता कैसी है?

मुनिहत्या करने वाले राजा को उसी दिन केवलज्ञान! और मैं मुनिसेवा करने वाला... वर्षों से मुनिसेवा करने वाला... मुझे केवलज्ञान नहीं? उस राजा ने घोर पश्चात्ताप किया था इसलिए केवलज्ञान मिला, ठीक है, तो मुनिसेवा की अच्छी अनुमोदना करने वाले को केवलज्ञान क्यों नहीं? मन बेचैन बन जाता है। मृत्यु के बाद की कल्पना अस्पष्ट ही बनी रहती है। कौन यह बेचैनी मिटाएगा? कोई ऐसे दिव्यज्ञानी महापुरुष नहीं है आज इस विश्व में... किसको जाकर पूछूँ? किससे मेरे मन का समाधान पाऊँ?

क्षितिज पर जब संध्या को ढलती हुई देखता हूँ... जीवन-संध्या ढलती हुई दिखती है। अनंत अनागत में कोई मार्ग नहीं दिखता। अज्ञात भविष्य में खो जाने की कल्पना कितनी डरावनी है! अज्ञात महासत्ता के हाथों में जकड़ा हुआ मैं कितना विवश हूँ! कितना परवश हूँ। मेरी यह विवशता... परवशता... मुझे विक्षुब्ध कर रही है।

इन्तजार करता हूँ... कब मेरा जन्म, जीवन और मृत्यु का अनादिचक्र स्थिर हो जाए... और तो क्या कर सकता हूँ?



२४. सुखों की याद नहीं, दुःखों की फरियाद नहीं...

सुखों की याद!

दुःखों की फरियाद!

याद और फरियाद में उलझ गया है मन! विचारसृष्टि के केन्द्रबिन्दु बन गए हैं, सुख और दुःख। अपने ही सुख याद आते हैं, अपने ही दुःखों की फरियाद करता हूँ। जानता हूँ कि यह 'आर्तध्यान' है। आर्तध्यान का फल भी जानता हूँ... फिर भी इससे मुक्ति नहीं पा रहा हूँ।

इस बंधन में भय और प्रलोभन पनप रहे हैं। निर्भयता और निःस्पृहता से वंचित रह गया हूँ। निर्भयता का आनंद और निःस्पृहता की प्रसन्नता स्वप्न बनकर रह गई है। सुखों की याद में ख्याल ही नहीं रहता की 'मैं प्रलोभन के नागपाश में जकड़ा जा रहा हूँ।' दुःखों की फरियाद में भान (होश) ही नहीं रहता कि 'मैं भय-विषधर से काटा जा रहा हूँ।'

वनवास में श्रीराम का अनुसरण करती... श्रीराम के पदचिह्नों पर प्रसन्नचित्त चलती हुई सीताजी का विचार करता हूँ... उस महासती के चरणों में भाववन्दना हो जाती है। सुखों की कोई याद नहीं! दुःखों की कोई फरियाद नहीं! लक्ष्मणजी की ओर इस दृष्टिबिन्दु से देखता हूँ... वे भी याद-फरियाद से मुक्त! उनको अपने दुःख-सुख का विचार ही कहाँ था? श्रीराम और सीताजी के ही सुख-दुःख के विचार थे उनके मन में!

सोचता हूँ... कैसे वे याद-फरियाद के बिना जीवन जी रहे थे? सीताजी ने कभी भी दशरथ के विरुद्ध या कैकयी के विरुद्ध फरियाद नहीं की! अरे, रामचन्द्रजी के विरुद्ध भी लव-कुश के सामने कभी फरियाद नहीं की! सीताजी को जहाँ अपने सुखों की ही याद नहीं थी... फिर दुःखों की फरियाद होती कहाँ से? अपने सुख-दुःखों के विचारों में उन्होंने अपने मन को उलझने नहीं दिया। जब तक वे श्रीरामचन्द्रजी के पास रहीं, उन्होंने श्रीराम के सुख-दुःखों के विचार किए। जब वे श्रीराम के पास नहीं रहीं, लव-कुश के सुख-दुःख का ख्याल करती रहीं! जब लव-कुश भी उनके पास नहीं रहे, वे आत्मशुद्धि के त्यागमार्ग पर चल पड़ीं।

मेरे मन में यह निर्णय तो हो ही गया है कि सुखों की याद और दुःखों की फरियाद से ही अशांति और संताप हैं, राग-द्वेष के अनेक द्वंद्व हैं। मैं चाहता

यही है जिंदगी

४९

हूँ... समग्रता से चाहता हूँ कि मुझे इन द्वंद्वों से मुक्त होना है। कभी-कभी अंतरात्मा आर्तनाद करती है - 'मुझे इस दुनिया में दूसरा कुछ नहीं चाहिए, मुझे तो निर्द्वंद्व बनना है। प्रशमरस में निमग्न बनना है। किसी सुख की चाह नहीं, किसी दुःख का दाह नहीं!'

दुनिया में अरबों मनुष्यों को जैसा जीवन नहीं मिला है, वैसा उत्तम संयम जीवन, श्रमण जीवन मुझे मिल गया है। इस जीवन में निर्द्वंद्व बनने की साधना शक्य है। जब दुनियादारी का कोई बंधन मुझे नहीं है, तो फिर मैं सामने चलकर राग-द्वेष के बंधन क्यों मोल लूँ? सुख-दुःखों की याद-फरियाद में क्यों उलझ जाऊँ? मैंने स्वेच्छा से सुखों का त्याग किया है, स्वेच्छा से दुःखों को स्वीकार किया है... फिर सुखों की याद क्यों? दुःखों की फरियाद क्यों?

आन्तर-साधना का कितना मुक्त जीवन मिल गया है मुझे! परंतु दुःख-सुखों की याद-फरियाद से मुक्त जीवन को बंधनग्रस्त कर लिया है मैंने। कभी-कभी बंधन मीठे लगते हैं... मधुर लगते हैं! परंतु बंधन तो बंधन ही रहेंगे। बंधन में प्रशम का आनंद कहाँ? बंधन में प्रसन्नता की अनुभूति कहाँ? बाह्य सुख के साधन उपलब्ध होने पर और बाह्य दुःख नहीं होने पर भी सुख-दुःख के विचार चित्त को अशांत ही बनाए रखते हैं।

हे परमात्मन्! मुझे सुखों की याद से मुक्त कर दे। दुःखों की फरियाद से मुक्त कर दे। बस, मेरे ऊपर इतनी कृपा कर दे, इतनी कृपा कर दी तो मुझे सब कुछ मिल गया। यदि मुझे ऐसी मुक्ति नहीं मिली तो मेरी अपात्रता पर आँसू बहाऊँगा...!



२५. संवादिता की शहनाई

क्या व्यर्थ विवादों में ही जीवनयात्रा समाप्त हो जाएगी? बाह्य जगत में विवाद और आन्तर जगत में भी विवाद! संवाद कहाँ है? बाह्य जगत में संवादिता हो ही नहीं सकती। जगत यानी विसंवाद! सर्वत्र विवाद के ढोल बज रहे हैं और असंख्य मनुष्य उस ढोल के साथ नाच रहे हैं!

हर बात में विवाद! विवाद करना और विजयी होना... दूसरों को पराजित करना... बस, इसी में आनंद, इसी में सन्तोष! खैर, दुनिया में ऐसा चलता आया है और चलता रहेगा, परन्तु धर्मक्षेत्र में भी वैसी ही विकृत मनोवृत्ति? धर्मशास्त्रों को लेकर भी विवाद? कब तक ये सारे विवाद होते रहेंगे? कभी अंत नहीं आएगा? एक विवाद मिटा कि दूसरा विवाद पैदा हुआ ही समझो! क्या मनुष्य-स्वभाव ही ऐसा है? संवाद मानव-स्वभाव नहीं है?

कभी किसी को कहते हुए सुनता हूँ : 'यह विवाद सुलझ जाए तो समाज में शांति स्थापित हो जाए... परिवार में शांति हो जाए...' मुझे हँसी आती है। जिसको विवाद में ही मजा आता है, वे संवाद पसंद नहीं करेंगे।

'वाद-प्रतिवाद से तत्त्वनिर्णय नहीं हो सकता है,' ऐसा बोलनेवालों को भी वाद-प्रतिवाद से ही तत्त्वनिर्णय करने की जिद करते हुए देखता हूँ, तब मन स्तब्ध हो जाता है। वे बेचारे तत्त्व ही नहीं समझते हैं, फिर निर्णय किसका करेंगे? अतत्त्व को तत्त्व समझकर निरन्तर विवाद करते रहते हैं। 'अहं' को पुष्ट करते हुए घोर अशांति के शिकार बन जाते हैं।

विवाद में अशांति है,
संवाद में शांति है!

किसको समझाऊँ यह परम सत्य? हाँ, मेरा मन मान ले यह सत्य, तो भी बहुत है। मेरा मन भी तो विवादप्रिय बन गया है! संवाद को विवाद से स्थापित करने चला हूँ! कैसे संभव होगा? संवाद के लिए विवाद करना आवश्यक नहीं है। दूसरों का विवाद मिटाने के लिए भी विवाद जरूरी नहीं है!

अंतःकरण भी कैसा विवादग्रस्त हो गया है... अंतर्वृत्तियों का विवाद! अंतर्द्वंद्वों का विवाद! कैसे समरस की प्राप्ति करूँ? विवादग्रस्त अंतःकरण में परमात्मा की प्रतिष्ठा नहीं होती है। परमात्मा की प्रतिष्ठा होती है, संवादिता

यही है जिंदगी

५१

से सुरभित अंतःकरण में। परमात्मा की प्रतिष्ठा हो जाए, तो ही समरस की प्राप्ति होगी, अन्यथा नहीं। परमामृत का आस्वाद तभी हो सकता है। सिर्फ मन्दिरों में परमात्म-प्रतिमा की प्रतिष्ठा करने से आत्मभाव निर्मल नहीं बनते, आत्मा में संवादिता की शहनाई नहीं बजती। मनोमंदिर में संवाद की प्रतिष्ठा होनी चाहिए।

विवाद... विसंवाद का कितना घृणास्पद शोर मचा है? विवादजन्य विजय का उन्माद... विवादजन्य पराजय का करुण क्रन्दन...। हर्ष और विषाद के विषचक्र में फँस गया है मेरा मन। कब मुक्त होगा मन इस विषचक्र से...? काल अविरत गति से व्यतीत हो रहा है... मानवजीवन का समय द्रुत गति से निकल रहा है।

अंतरात्मा संवाद चाहती है। संवादिता की चाह है अंतरात्मा को। परन्तु वासनावासित मन विवाद में उलझ रहा है, यह भी विसंवाद है न! आन्तर संघर्ष! भले संघर्ष चलता रहे, संघर्ष का परिणाम यदि संवादिता में आ जाय तो बस!

इन्द्रियाँ शान्त हो जाए और मन प्रशान्त हो जाए तो संवाद ही संवाद है। प्रशान्त मन में परमात्मा का प्रतिबिम्ब पड़ता है, शान्त इन्द्रियाँ उस प्रतिबिम्ब में केंद्रित होती हैं... तब अपूर्व समत्व की उपलब्धि होती है। परमात्मा की वीतरागता और सर्वज्ञता जब मन को भा जाती है... तब सहज रूप से परमात्मा का मनोमन्दिर में पदार्पण हो जाता है। परमात्मा का पदार्पण होने पर कोई विवाद नहीं रहता, कोई विसंवाद नहीं रहता।

मैं तो इतना समझता हूँ कि मनुष्य के मनोमंदिर में परमात्मतत्त्व की स्थापना हुए बिना संवाद की शहनाई नहीं बज सकती।



२६. यौवन को उजियारा दो!

यौवन!

क्या यौवन अभिशप्त है? उन्माद, औद्धत्य और अविचारिता ने यौवन को घेर लिया है। जो यौवन इस प्रचंड धिराव से बच गया है वह यौवन आशीर्वादरूप होता है। आशीर्वादरूप यौवन को कहाँ जाकर खोजूँ?

पाँचों इन्द्रियाँ उन्मत्त बनकर तांडव नृत्य कर रही हैं... उस भीषण तांडव नृत्य में कैसा डरावना विनाश हो रहा है... पवित्रता नष्ट हो रही है, प्रसन्नता नष्ट हो रही है। अपनी शांति का नाश, दूसरों की शांति का नाश... उन्मत्त यौवन विनाश का डमरू बजाता हुआ अविरत नाच रहा है। इस विनाश-नृत्य में परिवार, समाज और राष्ट्र सम्मिलित हो गये हैं... अरे, विश्वमानव सम्मिलित हो गया है... बहुत थोड़े लोग प्रेक्षक बनकर देख रहे हैं... कौन इस भीषण नृत्य को रोके? जो रोकने की बालचेष्टा करने जाता है... वह भी उस नृत्य में शामिल हो जाता है। शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श के असंख्य विषयों का प्रच्छन्न और प्रकट भोग-उपभोग यौवन को प्रतिक्षण उन्मत्त बना रहा है।

उन्माद के साथ औद्धत्य ही मित्रता करता है, औचित्य नहीं। अभिशप्त यौवन के साथ औचित्य की मित्रता हो ही नहीं सकती। यौवन से आज विनय, नम्रता और शालीनता की आशा करना व्यर्थ दिखाई देता है। पारिवारिक जीवन-व्यवस्था में से विनय स्थानभ्रष्ट हुआ है। नम्रता का कोई स्थान नहीं रहा और शालीनता स्वप्न बन गई है। सामाजिक जीवन-पद्धति में औद्धत्य प्रविष्ट हो गया है। ज्ञानी और अनुभवी पुरुषों का अनादर हो रहा है। 'बहुमत' और 'अल्पमत' के भूतों ने समाज को ग्रसित कर लिया है। अज्ञानी और अनुभवविहीन लोगों का बहुमत हो गया है। ऐसे समाज में औचित्यपूर्ण व्यवहार कैसे हो सकता है? उन्मत्त यौवन का औद्धत्य समाज में अशांति, कलह और वैमनस्य फैला रहा है। उन्मत्त हृदय में औचित्य के विचार जाग्रत ही नहीं हो सकते। औद्धत्य उपकारी-परोपकारी पुरुषों का अनादर करता है। इससे 'उपकार-तत्त्व' का हास हो रहा है। उपकार की प्रतिष्ठा टूटती जा रही है।

सुविचार, दीर्घदृष्टि का विचार... आत्मलक्षी विचार... उन्मत्त यौवन में अब देखने को नहीं मिलेगा। शान्त और स्वस्थ यौवन में ही सुविचार हो सकता है।

यही है जिदगी

५३

संयमी यौवन के पास ही दीर्घ दृष्टि हो सकती है। ज्ञानपूत यौवन में ही आत्मलक्ष्मी विचारधारा बह सकती है। यौवन के साथ अविचारिता संबद्ध हो गई है।

युवान आज अपने स्वयं के भावी जीवन का भी विचार कहाँ कर रहा है? अपने आरोग्य का, अपनी शांति का, अपनी पवित्रता का विचार कहाँ कर रहा है? पारलौकिक जीवन की तो उसको कल्पना भी नहीं है। आत्मशुद्धि की बात तो उसकी स्वप्नसृष्टि में भी नहीं आती। सिर्फ वर्तमानकालीन वैषयिक भोगोपभोग में डूबा रहता है।

उन्मत्त, उद्धत और अविचारी यौवन पर धर्मोपदेशों का कोई असर नहीं हो सकता। ऐसे लोगों को धर्मोपदेश देने का भी ज्ञानी पुरुषों ने निषेध कर दिया है। उन्मत्त को उपदेश मत दो, उद्धत को उपदेश मत दो, अविचारी को उपदेश मत दो! यदि दिया तो उसकी प्रतिक्रिया गलत आएगी।

बहुत सोच रहा हूँ... यौवन को इस अभिशाप से कैसे मुक्त किया जाय? उन्माद, औद्धत्य और अविचारिता का अभिशाप कैसे दूर किया जाय? उपाय नहीं मिल रहा है। जो उपाय मिलता है... अशक्य-सा लगता है। राष्ट्रव्यापी विश्वव्यापी... इस अभिशाप को दूर करना सरल कार्य तो नहीं है। समष्टिरूप नहीं तो व्यक्तिगत रूप से भी इस कार्य का प्रारम्भ करना चाहिए। कम से कम धर्मक्षेत्र में प्रविष्ट हो चुके युवावर्ग को तो इस अभिशाप से मुक्त करना ही चाहिए। इसलिए विविध उपायों का आयोजन होना चाहिए। विनय, नम्रता और विचारशीलता से यौवन को सुरभित करना चाहिए। ऐसा सुरभित यौवन ही धर्मपुरुषार्थ के लिए सक्षम बनेगा।



२७. स्वमान सम्हालिए

उसने मुझे एक दिन कहा : 'महाराज साहब, मैं अभिमान करना पसन्द नहीं करता, परन्तु स्वमान के लिए तो प्राण भी दे सकता हूँ।'

मैंने उसको उस समय कोई प्रत्युत्तर नहीं दिया था, परन्तु उसके दो शब्द 'स्वमान' और 'अभिमान' विशेष अर्थ में मुझे याद रह गये। याद रह गये इतना ही नहीं, मेरे चिन्तन के विषय भी बन गये! 'स्वमान' उपादेय कैसे? 'अभिमान' त्याज्य कैसे?

एक दूसरा महानुभाव मिला, कुछ पढ़ा-लिखा था, उसने बात-बात में मुझसे कहा : 'महाराजश्री, मैं स्वाभिमानी आदमी हूँ। इन्सान को स्वाभिमानी होना चाहिए!'

पहले व्यक्ति ने 'स्वमान' उपादेय बताया, दूसरे व्यक्ति ने 'स्वाभिमान' उपादेय बताया, कर्तव्यरूप बताया। मान और अभिमान त्याज्य, स्वमान और स्वाभिमान उपादेय! ऐसी मान्यता कैसे बनी होगी? ज्ञानी पुरुषों ने तो 'मान' को 'कषाय' कहा है और कषाय को हेय यानी त्याज्य बताया है। मान-कषाय 'स्वमान' का या 'स्वाभिमान' का मुखौटा पहन ले, तो क्या वह 'कषाय' मिट जाता है? उसमें हेयता नहीं रहती?

अज्ञानी लोगों की बात छोड़ो, मैंने अच्छे-अच्छे विद्वानों से सुना है : 'स्वमान तो सभी को प्यारा होता है! हम अपमानित होना पसन्द नहीं करते।' जब स्वमान के साथ रहना सब पसन्द करते हैं, तब स्वमान के विषय में गंभीरता से सोचना आवश्यक बन गया मेरे लिये!

मान और अभिमान के आगे 'स्व' जोड़ने से, स्व-मान, स्व-अभिमान! क्या पता, कैसा जादू हो जाता है कि हेय उपादेय बन जाता है! अप्रशस्त प्रशस्त बन जाता है! यह जादू 'स्व' का है! 'स्व' का अर्थ होता है अपना! स्वमान = अपना मान! मान और अपना मान, इनमें शाब्दिक और आर्थिक क्या फासला है? मैंने बहुत सोचा, चित्र स्पष्ट नहीं हुआ। बहुत दिनों तक अस्पष्ट बना रहा इस विषय में।

कल रात को अचानक एक आवाज सुनाई दी: 'देहाभिमान छोड़, आत्माभिमानी बन!' आवाज कहाँ से आयी... कौन बोला... मालूम नहीं पड़ा, परन्तु बात महत्त्वपूर्ण थी। 'स्व' का भेद खुल गया। 'स्व' यानी आत्मा! स्वमान = आत्मा

यही है जिंदगी

५५

का मान, स्वाभिमान = आत्मा का अभिमान। आत्मा का अभिमान तो होना चाहिए! आत्मा के अस्तित्व की सभानता, शुद्ध आत्मस्वरूप की सभानता होनी ही चाहिए।

मैं जड़ नहीं हूँ, पौद्गलिक नहीं हूँ, मैं चैतन्य-स्वरूप आत्मतत्त्व हूँ। अनादि-काल से जड़ कर्म-पुद्गलों ने मुझ पर आधिपत्य स्थापित किया है... मेरे साथ ऐसा व्यवहार करते हैं वे कर्म-परमाणु, कि जैसे मेरा कोई अस्तित्व ही न हो! उन जड़ कर्म-परमाणुओं से मुझमें अनंत गुनी ज्यादा शक्ति है... मैं अब कर्मों की सिरजोरी सहन नहीं कर सकता...!

मैं पूर्ण ज्ञानी और पूर्णानन्दी हूँ और मुझे इन कर्मों ने अज्ञानी और विषादपूर्ण बना दिया है, इसको मैं मेरा अपमान समझता हूँ। मैं अकषायी-वीतराग हूँ। दुष्ट कर्मों ने मुझे रागी-द्वेषी बना दिया है, मैं इसको मेरा घोर अपमान मानता हूँ। मैं अनंत शक्ति का मालिक हूँ, इन कर्मों ने मुझे अशक्त, निर्वीर्य और कायर बना दिया है, इसको मैं अपना अपमान समझता हूँ। मैं अमूर्त हूँ, अरूपी हूँ, कर्मों ने मुझे मूर्त और रूपी-बहुरूपी बना दिया है, क्या यह मेरा अपमान नहीं है? मैं जन्म-मृत्यु से मुक्त हूँ, अजन्मा और अमर हूँ, कर्मों ने मुझे जन्म-मृत्यु की जाल में फँसा दिया है, क्या यह मेरा स्वमान-भंग नहीं है?

ऐसा आत्माभिमान तो होना ही चाहिए मनुष्य में। आत्मस्वरूप का अपमान, आत्मस्वरूप की अवहेलना बर्दाश्त नहीं करनी चाहिए।

देहाभिमान जरा भी नहीं होना चाहिए। किसी ने मेरा अपमान कर दिया, मेरे बाह्य व्यक्तित्व को टुकरा दिया, मेरे नाम को बदनाम किया, भले किया। मुझे इसमें मेरा अपमान नहीं मानना चाहिए। सम्मान और अपमान, दोनों कर्मों की भेंट है!

स्वमान और स्वाभिमान का रहस्योद्घाटन हो गया! मन आनंद से भर गया! अब स्वमानी बने रहने में मजा आ जायेगा! अपमान सहजता से सहन करने की कला प्राप्त हो गई!



२८. प्रीत, एक परमात्मा के साथ

रागी और द्वेषी जीवों को खुश करने के लिये कितना मूल्यवान समय बिता दिया? मानवजीवन का समय व्यर्थ गवाँ दिया... यह कोई मामूली अपराध नहीं... यह कोई छोटा-सा दुष्कृत्य नहीं, यह बड़ा दुष्कृत्य है।

वीतराग परमात्मा से प्यार नहीं किया, उनको खुश करने का कोई प्रयत्न नहीं किया। कैसे उनसे प्यार करता? उनकी पहचान ही नहीं थी। उनके मंदिर में अवश्य जाता था, उनकी मूर्ति का दर्शन भी करता था... स्तुति-प्रार्थना भी करता था, परन्तु उनसे प्यार नहीं हुआ, उनको खुश करने का विचार भी नहीं आया... कैसा घोर दुर्भाग्य था मेरा?

मुझे परमात्मा से कोई मतलब ही नहीं था! मुझे मतलब था दुनिया से! मैं समझता था कि 'दुनिया में जीने के लिए दुनिया को खुश रखना चाहिए। दुनिया खुश होगी तो मुझे मेरे मनचाहे सुख मिल जायेंगे। दुनिया नाराज होगी तो दुनिया से मुझे सुख नहीं मिलेंगे।' मैंने मेरी दुनिया को खुश रखने का भरसक प्रयत्न किया।

इतना ही नहीं, जिनसे मुझे सुख की आशा नहीं रही, जिन-जिन से मुझे कोई मतलब नहीं रहा, उनको खुश करने का प्रयत्न छोड़ दिया। नयी दुनिया को खोजने लगा... मिल गई कोई छोटी-सी दुनिया... तो उसे खुश करना शुरू कर दिया...! मैंने दुनिया का त्याग नहीं किया, दुनिया का परिवर्तन ही चाहता रहा... आवर्तन और परिवर्तनों में उलझता गया...। परमात्म सृष्टि से कोई नाता नहीं रहा, कोई लगाव नहीं रहा, कोई विचार भी नहीं रहा। 'सकल विश्व में स्नेह और प्रेम करने योग्य परमात्मा ही है,' यह बात समझा ही नहीं था। समझाने वाला कोई मिला होगा - आज याद नहीं है, परन्तु मैं समझने वाला ही कहाँ था!!

परमात्मा को भूलने का कितना बड़ा दुष्कृत्य मेरे जीवन में हो गया?

दुनिया को खुश करने का जितना प्रयत्न मैंने किया, उतना प्रयत्न नहीं... उससे आधा भी नहीं... थोड़ा-सा भी प्रयत्न परमात्मा को खुश करने के लिए करता, परमात्मा से स्नेह बाँधता... तो आज मेरी आत्मा कैसा स्वाधीन अविनाशी सुख पा लेती!

दुनिया के लोग... रागी-द्वेषी लोग मेरे प्रति खुश हो या नाखुश... मेरे प्रति

यही है जिंदगी

५७

रागी हो या द्वेषी... मुझे उनसे कोई मतलब नहीं, मुझे उनके प्रति कोई द्वेष नहीं, वैर नहीं। मेरा भीतरी सम्बन्ध अब केवल परमात्मा से रहेगा। अब मेरा सारा प्रयत्न परमात्मा की प्रीति प्राप्त करने हेतु रहेगा। अब मुझे दृढ़ विश्वास हो गया है : परमात्मा से प्रीति हो सकती है और परमात्मा से आन्तर जगत में सम्बन्ध स्थापित हो सकता है। अब मैंने इस आन्तर जगत का कुछ आभास पा लिया है। उस आन्तर जगत में ही परम आनंद मिलता है, परम सुख का आस्वाद होता है।

यह बात समझाने से कोई नहीं समझ सकता। दीर्घकालीन अनुभवों में से गुजरने के बाद यह बात स्वयं स्फुरित होती है। दुनिया की असंख्य गलियों में भटक-भटक कर... जब तृप्त हो जाए, 'दुनिया से सुख... शांति... प्रसन्नता नहीं मिल सकती है... कभी भी नहीं मिल सकती है...' यह बात अनुभव से ज्ञात हो जाए, तब सम्भव है कि परमात्मा के प्रति दृष्टि खुल जाय।

राग-द्वेष की प्रचुरता भयानक है। इस प्राचुर्य में परमात्म-माधुर्य का अनुभव-असम्भव! मोह के प्राबल्य में परमात्मा का माँगल्य असम्भव! राग-द्वेष और मोह उपशान्त हो, तभी परमात्म सृष्टि के प्रति दृष्टि खुलती है। परमात्मा से प्रीति बाँधने का विचार तभी आता है। परमात्मा के अलावा किसी से भी प्रीति नहीं बाँधने का संकल्प तभी होता है। महान योगी श्री आनंदघनजी के शब्द याद आते हैं :

‘ऋषभ जिनेश्वर प्रीतम माहरो रे, और न चाहूँ कंत...’

‘मेरा प्रियतम है परमात्मा ऋषभदेव, उनके सिवाय और किसी को भी मेरा प्रियतम बनाना नहीं चाहता हूँ।’

मैं भी यही संकल्प करता हूँ कि ‘अब मेरे प्रियतम परमात्मा ही हैं, उनके सिवा मैं किसी को भी मेरा प्रियतम बनाना नहीं चाहूँगा... अब कोई रागी-द्वेषी और मोहान्ध मेरे प्रेम का पात्र नहीं रहेगा।’



२९. सेवा भी सद्भाव पूर्ण!

कल रात्रि के समय महामुनि नन्दीषेण याद आ गये। धर्मग्रन्थ में कुछ वर्ष पूर्व पढ़ा था उनको। उस समय ही उनके प्रति हार्दिक आदर जाग्रत हो गया था? क्यों हो गया था? पता नहीं! ऐसी कोई विशिष्ट प्रतिभा नहीं थी उनमें, नहीं थी ऐसी कोई अद्भुत विद्वत्ता। न थे वे प्रवचनकार, नहीं थे कवि या लब्धिसंपन्न चमत्कारिक पुरुष। मैंने उस ग्रन्थ में पढ़ा था कि वे एक विनम्र साधुसेवा करनेवाले महात्मा थे। केवल बाह्य सेवा नहीं, उनके हृदय में रुग्ण-ग्लान साधुपुरुषों के प्रति प्रेम था, अविचल प्रीति थी।

मेरे हृदय में नन्दीषेण के प्रति प्रीति हो गई, इसका कारण तो दूसरा ही है। साधुप्रीति और ग्लानसेवा जैसे गुण तो आजकल भी मैंने कई साधुपुरुषों में देखे हैं। परन्तु अप्रीति और अभाव प्रदर्शित करनेवालों के प्रति प्रीति और सद्भाव रखना असाधारण गुण है। द्वेष-गुस्सा करनेवालों और क्षण-क्षण झुंझलानेवालों के प्रति द्वेष न करना, नाराज नहीं होना - यह असामान्य बात है। नन्दीषेण मुनि में यही असाधारण बात थी।

‘साधु बीमार हो गया है, मल-मूत्र से सारा शरीर विलिप्त हो गया है, अकेला... असहाय है... चिल्लाता है... दर्द से कराहता है, जंगल में पड़ा है’ - किसी ने आकर नन्दीषेण को समाचार दिया...। नन्दीषेण तपश्चर्या का पारणा करने बैठे ही थे... हाथ धोकर खड़े हो गये...। समाचार देनेवाले ने भी कैसी कर्कश भाषा में समाचार दिया था! ‘उधर तो बेचारा साधु घोर वेदना से कराहता पड़ा है... और तू यहाँ पेट भरने बैठ गया है? बड़ा आ गया सेवा करनेवाला....’ परन्तु नन्दीषेण के मुँह पर कोई रोष नहीं... कोई नाराजगी नहीं...। नन्दीषेण के मन में भी कोई दुर्भाव नहीं जगा। पारणा नहीं किया और पात्र में निर्दोष प्रासुक जल लेकर चल दिये।

जब वे उस बीमार साधु के पास पहुँचे, बीमार ने नन्दीषेण को कठोर... कर्कश और असभ्य शब्द सुनाने शुरू कर दिये। परन्तु नन्दीषेण के मन में फिर भी दुर्भाव नहीं आया। वे शांति से... प्रसन्नचित्त से बीमार साधु का शरीर पानी से धोने लगे। मल-मूत्र से सना हुआ शरीर उन्होंने साफ किया। मुँह पर अप्रीति की कोई रेखा नहीं। शब्दों में कोई कर्कशता नहीं। बहुत स्नेहपूर्ण शब्दों से भरा व्यवहार!

यही है जिंदगी

५९

बीमार साधु नन्दीषेण को परेशान करने की चेष्टा करता रहता है... नन्दीषेण कोई परेशानी महसूस नहीं करते। उनके मन में कोई अशुभ विकल्प नहीं उठता है : 'कैसा है यह साधु... मैं उसकी सेवा करता हूँ, वह मुझे कोसता है... मैं उसकी अशुचि साफ करता हूँ, वह मुझे कैसे कटु शब्द सुनाता है। इसको मेरी कोई कदर नहीं है तो मुझे इससे क्या मतलब?'

मैंने अपना आन्तर निरीक्षण किया। यदि ऐसे साधु की सेवा करने का कर्तव्य मेरे सामने आया हो तो मैं क्या करूँ? मुझे गालियाँ सुनानेवाले की क्या मैं सेवा करूँ? मुझे परेशान करनेवाले की मैं सेवा करूँ? नहीं... मैं तो अपनी कदर चाहता हूँ। मेरे अच्छे कार्यों की प्रशंसा सुनना चाहता हूँ। मेरे अच्छे कार्य की कोई प्रशंसा नहीं करे तो मैं अच्छा कार्य भी छोड़ देता हूँ।

नन्दीषेण महामुनि के प्रति मेरे हृदय में इसीलिए बहुत आदर पैदा हो गया है। उनको अपनी प्रशंसा सुनने की कोई भूख नहीं थी। कोई उनको अभिनन्दन दे या कटु आलोचना करे, उन महामुनि को कोई असर नहीं था। निन्दा-प्रशंसा उनके लिये समान थी। उनको मतलब था साधुप्रेम से। उनको मतलब था साधुसेवा से। उनकी घोर भर्त्सना करनेवालों की भी वे प्रसन्नचित्त से सेवा कर सकते थे। स्वयं तपश्चर्या करते हुए भी वे दूसरे साधुओं के लिये भिक्षा ले आते थे।

मौन और मुस्कराहट! सेवा और सहनशीलता!

निरन्तर कर्मनिर्जरा... निरंतर आत्मविशुद्धि!

मैं चाहता हूँ ऐसा जीवन... परन्तु क्या सबको ऐसा जीवन सुलभ हो सकता है? ऐसा जीवन पाने का भाग्य चाहिए, सौभाग्य चाहिए... कहाँ से लाऊँ ऐसा भाग्य-सौभाग्य?



३०. विरति पर विरक्तिभरी...

‘विरति तो है, विरक्ति है क्या?’ यह प्रश्न किसी दूसरे का नहीं है, मेरे ही हृदय का है। विरति यानी त्याग, विरक्ति यानी वैराग्य। संसार के प्रति वैराग्य होना, संसार के इन्द्रिय विषयक सुखों के प्रति वैराग्य होना एक बात है, और साधुजीवन के प्रति आकर्षण होना दूसरी बात है। वैराग्य के बिना भी साधुजीवन के प्रति आकर्षण पैदा हो सकता है... साधुता का स्वीकार भी हो सकता है। परन्तु वैराग्यहीन साधुजीवन में आत्मानन्द की अनुभूति नहीं हो सकती है।

साधुजीवन यानी पापत्याग का जीवन। इस जीवन पर जब इन्द्रियों का उन्माद छा जाता है, कषायों की आग लग जाती है, वैभवों की तृष्णा फैल जाती है, तब त्याग की भावना विलुप्त हो जाती है। पाप प्यारे लगने लगते हैं... जीवन में पापों का प्रवेश हो जाता है।

एक दफा पापों का त्याग कर दिया, इतने मात्र से मैं विरागी बन गया... ऐसा मान लेना भ्रम है। इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों में पुनः-पुनः लोलुपता से प्रवेश होता हो और वैराग्य? कभी क्रोध, कभी अभिमान, कभी माया... कभी लोभ... होता ही रहता है... फिर भी वैराग्य? ऐशो-आराम का जीवन हो... फिर भी वैराग्य?

विरति का जीवन यानी पापत्याग का जीवन। स्वीकार करने के बाद वैराग्य तभी अखंडित रह सकता है जब विषय-विराग हो, कषाय-विजय हो और ऐशो-आराम से निवृत्ति हो। पापों से विरक्त होना सरल है, पापराग से विरक्त होना सरल नहीं है। इसलिए एक महर्षि ने कहा :

‘विरागमार्गविजयो दुरधिगम्यः’

मैंने मेरे जीवन में अनुभव भी किया हैं कि विरागमार्ग पर चलना आसान नहीं है। पापराग की वासनाओं को निर्मूल करना सरल नहीं है। जब तक पापों का राग नहीं टूटता... वैराग्य नहीं आता। जब-जब हृदय को टटोलता हूँ, पापराग

की आग सुलगती दिखती है। असंख्य विषयों में इष्ट-अनिष्ट और प्रियाप्रिय की कल्पनाएँ अखंडित बैठी है... फिर वैराग्य कैसा? यह अच्छा, यह बुरा! यह

यही है जिंदगी**६१**

प्रिय, यह अप्रिय! यह इष्ट, यह अनिष्ट... क्षण-क्षण मन में असंख्य द्वन्द्व उछलते रहते हैं, ऐसी मनःस्थिति में कैसे मानूँ कि 'मैं विरागी हूँ, विरक्त हूँ!'

योगीजीवन का प्रारम्भ ही 'भवोद्वेग' से होता है। सहज भवोद्वेग... संसार के प्रति स्वाभाविक उद्वेग! भवोद्वेग ही वैराग्य है।

परमात्मा से प्रतिदिन प्रार्थना करता हूँ - प्रार्थना का सूत्र बोलता हूँ कि 'हे भगवंत, मेरे हृदय में वैराग्य पैदा हो। मैं विरतिधर तो हूँ, परंतु मुझे विरक्ति चाहिए, आपकी परम कृपा से मुझे विरक्ति की प्राप्ति हो।'

साधुजीवन का आन्तर-आनंद विरक्ति में से पैदा होता है। विरक्ति को सुरक्षित रखना अति आवश्यक है। चाहे सब कुछ लुट जाए, चाहे सब स्नेही-स्वजन चले जाए, यदि विरक्ति सुरक्षित है तो सब कुछ सुरक्षित है। इस विरक्ति की सुरक्षा के लिये ही तो धर्मग्रन्थों का स्वाध्याय और परमात्मभक्ति वगैरह आराधनाएँ बतायी गई हैं। तपश्चर्या और सेवा-सुश्रूषा भी इसी हेतु से बतायी गई है। विरक्ति को सुरक्षित रखने के ये सारे रचनात्मक उपाय हैं। जो साधक इन उपायों का अनादर करता है, वह विरक्ति को गवाँ देता है।

साधु हो या गृहस्थ हो, जिस किसी को आन्तर शांति, प्रसन्नता और आत्मा की दिव्य अनुभूति करनी है, उसको हृदय में विरक्ति स्थापित करनी ही पड़ेगी। विरक्त हृदय ही इस भीषण संसार में स्वरथ रह सकता है। द्वन्द्वों से भरी दुनिया में निर्द्वन्द्व रह सकता है।

'विरति' 'विरक्ति' में सहायक है। विरतिधर मनुष्य के लिए विरक्ति की साधना सरल बन सकती है, परन्तु विरति ही विरक्ति नहीं है। हमारा पापत्याग पापराग मिटाने हेतु होना चाहिए। पापत्याग करने वालों की दुनिया इज्जत करती है, पापत्यागी मनुष्य का दुनिया में यश फैलता है। यदि यश की ऐषणा पापत्यागी मनुष्य के हृदय में जाग्रत हो गई... तो पापराग बना रहेगा... पापत्याग करने पर भी!

हृदय विरक्ति के अमृत से सदैव अभिसिंचित रहे... यही एक कामना शेष है!



३९. शब्द सहना भी साधना है!

श्रमण परमात्मा महावीर भगवन्त के समय की बात है। भगवान की प्रमुख साध्वी थी चन्दनबालाजी। चन्दनबालाजी के पास एक राजकुमारी ने दीक्षा ली थी, नाम था मृगावतीजी।

एक दिन चन्दनबालाजी समग्र साध्वी-परिवार के साथ भगवान के समवसरण में उपदेश श्रवण करने गई थीं। सूर्यास्त के पहले-पहले उपदेश सुनकर वे अपने स्थान पर पहुँच गई, परन्तु मृगावतीजी समवसरण में ही बैठी रही... भगवन्त के मधुरतम उपदेश सुनने में वे इतनी तल्लीन हो गई थीं... कि उन्हें कुछ ख्याल ही नहीं रहा... कि 'सब साध्वीजी चली गयी हैं... मुझे अपने स्थान पर पहुँच जाना चाहिए...।'

जब मृगावतीजी अपने स्थान पर पहुँची, अंधेरा हो गया था। गुरुणी चन्दनबालाजी ने उन्हें मधुर शब्दों में उपालम्भ दिया : 'तुम्हारे जैसी कुलीन साध्वी को इतनी देर तक समवसरण में नहीं रहना चाहिए।' बस, ज्यादा कुछ नहीं कहा। मृगावतीजी ने नतमस्तक होकर उपालम्भ सुन लिया। सुनने के बाद उन्होंने ऐसा कुछ चिन्तन किया... ऐसा कुछ सोचा... कि उसी रात्रि में उनको 'केवलज्ञान' हो गया। वे वीतराग बन गई।

क्या सोचा होगा उन्होंने? कैसा चिन्तन किया होगा उन्होंने? गुरुणीजी का उपालम्भ सुनने पर ऐसा कौन-सा उच्चतम भाव उनके हृदय में... उनकी अंतरात्मा में प्रगट हुआ होगा... कि जिससे उनको केवलज्ञान की उपलब्धि हो गई? उपालम्भ के वचन नहीं, उपदेश के वचन सुनकर भी मुझे केवलज्ञान नहीं हो रहा है... उपालम्भ के वचनों से केवलज्ञान कैसे हुआ होगा?

उपालम्भ सुनना अच्छा नहीं लगता है, अप्रिय शब्द से वैराग्य नहीं बढ़ता है, रोष बढ़ता है। कटु शब्दों से आत्मभाव निर्मल नहीं होता है, मलीन होता है... उपालम्भ से वीतरागता!! मृगावतीजी की कैसी होगी आन्तर साधना?

गुरुणी का उपालम्भ सुनकर, गुरुणी के प्रति रोष नहीं किया... रिस नहीं की... अपने आपको निरपराधी सिद्ध करने के लिये तर्क-वितर्क नहीं किये... ऐसा कुछ सोचा... कि वीतराग बन गई वे पूजनीया साध्वी!

काश... वह चिन्तन किसी ने ग्रन्थस्थ कर लिया होता तो!!

यही है जिदगी

६३

सर्वज्ञ-वीतराग बनने के पश्चात् क्या उनको किसी ने प्रश्न नहीं किया होगा? उन्होंने बताया भी होगा न! किसी आगमग्रन्थ में पढ़ने को नहीं मिला वह चिन्तन... कहानी पढ़ने को मिली, परन्तु कहानी का हार्द नहीं मिला...।

दूसरों के कटु शब्द तो अप्रिय लगते हैं, उपकारी महापुरुषों के कटु शब्द भी अप्रिय लगते हैं। उपकारी पुरुषों के प्रति भी रोष आ जाता है। कैसी निम्नस्तरीय आत्मदशा है मेरी? कटु वचन को 'परिषह' बताया गया है। तीर्थंकर भगवन्तों ने 'वचन-परिषह' समता के साथ सहन करने का उपदेश दिया है। राग-द्वेष किये बिना कटु शब्दों को सुनने की कला हस्तगत हो जाय, तो साधना सफल हो जाय।

इतना जानने को मिला है कि मृगावतीजी को अपनी गलती महसूस हुई थी और उन्हें घोर पश्चात्ताप हुआ था। 'मेरी वजह से मेरी उपकारिणी गुरुणीजी को कितनी मानसिक व्यथा हुई...? मैं उनकी मानसिक अशांति में निमित्त बन गई... कैसी मैं अज्ञानी हूँ... कैसी मैं अभागिन हूँ...' पश्चात्ताप के बाद उनकी आत्मा समताभाव में लीन हो गई होगी...। धर्मध्यान में से 'शुक्लध्यान' में प्रविष्ट हो गई होगी... शुक्लध्यान की गुफा में केवलज्ञान का रत्नदीपक जगमगाता ही है।

मैं सच्चे दिल से चाहता हूँ कि अप्रिय और कटु शब्द सुनने पर भी रोष न हो! उपकारी महापुरुषों के उपालम्भ में बिना रोष किये सुन सकूँ... उपालम्भ देनेवालों के प्रति कभी दुर्भाव न हो... कभी रोष न हो...। 'आत्मभाव निर्मल हुए बिना, प्रशान्त हुए बिना यह स्थिति प्राप्त नहीं हो सकती...' - यह जानता हूँ। परन्तु आत्मभाव निर्मल कैसे बना रहे, प्रशान्त कैसे बना रहे? भिन्न-भिन्न निमित्त, भिन्न-भिन्न प्रसंग आत्मभाव की निर्मलता नष्ट करते रहते हैं, प्रशान्त भाव को ध्वस्त कर देते हैं। स्वप्नसृष्टि में भी मृगावतीजी आकर अपना चिन्तन बता जाय... तो मेरा काम हो जाय!



३२. पसंद-नापसंद में से मुक्ति चाहिए

अप्रिय का संयोग!

प्रिय का वियोग!

अभी अप्रिय का संयोग हुआ भी न हो, प्रिय का वियोग हुआ भी न हो, केवल सम्भावना दिखती हो - कल्पना पैदा हो गई हो, मानसिक दुःख शुरू हो जाता है। 'उसके साथ रहना पड़ेगा? उसके साथ जीना पड़ेगा? वह तो मुझे अत्यंत अप्रिय है... जरा भी पसन्द नहीं...' बस, मानसिक तनाव शुरू हो गया!

प्रिय व्यक्ति के वियोग की संभावना ने भी मुझे कितना परेशान किया है! मैं कितना अस्वस्थ और अशांत बन गया था? उस समय मुझे खयाल आया था कि मेरी बुद्धि, मेरा ज्ञान... कैसा था, कितना था! प्रियजन के वियोग की सम्भावना ने मुझे... मेरे ज्ञान को हिला दिया था... अल्प समय के लिये तो मुझे लगा था कि 'मेरा सारा शास्त्रज्ञान व्यर्थ है।'

किसी एक भी जड़-चेतन पदार्थ की आसक्ति... अनुराग जीवात्मा को अशांति के उदधि में डुबा सकता है। प्रिय-अप्रिय की कल्पनाओं का समूल उच्छेदन करना अनिवार्य है, अन्यथा सारा ज्ञान, तप-त्याग वगैरह व्यर्थ चला जायेगा। एक महान तपस्वी और संसारत्यागी साधुपुरुष को मैंने अशान्त इसलिये पाया, क्योंकि उनको प्रियजन के वियोग की सम्भावना प्रतीत होती थी! ३०-३० साल की तपश्चर्या और ४०-४० वर्ष का त्यागमय जीवन... फिर भी प्रिय-अप्रिय की कल्पनाएँ सलामत थी! कुछ तो वे प्रिय का संयोग चाहते थे! कुछ अप्रिय का वियोग चाहते थे! प्रिय के वियोग की संभावना से व्यथित थे, अप्रिय के संयोग से अशान्त थे!

मैंने मेरे जीवन में भी ऐसा अनुभव किया... मैं चौंक पड़ा। प्रिय-अप्रिय की कल्पनाएँ मेरे हृदय में इतनी प्रगाढ़ हो गई थी कि प्रिय के वियोग में और अप्रिय के संयोग में जीवन जीना मुझे मुश्किल सा लगा... मैं सावधान तो हो ही गया। संभल गया। प्रिय-अप्रिय की कल्पनाओं से मन को मुक्त करने का प्रयत्न शुरू किया।

साधक जीवन में पुनः-पुनः अनित्यादि भावनाओं का चिन्तन करने के लिए तीर्थंकर भगवंतों ने क्यों कहा है, इस बात का रहस्य मेरी समझ में आया।

यही है जिंदगी

६५

अनित्य, अशरण, एकत्व आदि बारह भावनाओं से आत्मा भावित होनी चाहिए। भावित बनेगी, तभी बाह्य निमित्तों के प्रभाव से मुक्त रह सकेगी।

कमठ और धरणेन्द्र के प्रति समभाव रखने वाले परमात्मा पार्श्वनाथ की प्रतिदिन स्तुति करता हूँ कि 'प्रभो, मुझे भी ऐसे समभाव की प्राप्ति कराइये... दुःख देनेवालों के प्रति द्वेष न हो, सुख देनेवालों के प्रति राग न हो! कोई प्रिय न लगे, कोई अप्रिय न लगे! कुछ इष्ट न लगे, कुछ अनिष्ट न लगे! प्रिय का संयोग ऐसा न हो कि उसके वियोग में मैं उद्विग्न हो जाऊँ।

प्रिय के साथ हृदय का बंधन न हो, अप्रिय के साथ भी हृदय जुड़ा हुआ न हो! प्रिय-अप्रिय से हृदय अलिप्त हो... तब आत्मानन्द की अनुभूति हो सकती है, तब आन्तर प्रसन्नता की अनुभूति हो सकती है। यही तो साधक जीवन का सुख है। यही तो साधक जीवन की प्रगति है। द्वन्द्वों से भरे हुए संसार में हृदय को निर्द्वन्द्व बनाये रखना शुद्ध आत्मज्ञान से ही सम्भव हो सकता है। ज्ञानदृष्टि जीवन के तमाम क्षेत्रों में खुली रहनी चाहिए। बारह भावनाओं के माध्यम से चिन्तन-मनन और अवलोकन होना चाहिए।

जानता हूँ, फिर भी बार-बार भूल हो ही जाती है। प्रिय-अप्रिय की कल्पनाएँ उभर आती हैं और हर्ष-उद्वेग के द्वन्द्व से हृदय कलुषित बन जाता है। हालाँकि इस दिशा में मैं सजग बन गया हूँ... इसलिए आशा बंधती है कि कभी न कभी सफलता मिलेगी। परमात्मा पार्श्वनाथ भगवंत का इस दृष्टि से किया हुआ ध्यान सहायक बन सकता है। परमात्मा की 'तुल्यवृत्ति' का दान कभी तो मुझे मिलेगा! प्रिय-अप्रिय की कल्पनाएँ नामशेष बनेंगी। आत्मानन्द की अनुभूति प्राप्त होगी।

परमात्मकृपा से... परमात्मा के अचिन्त्य अनुग्रह से ही यह सम्भव हो सकता है, यह मेरा विश्वास है। परमात्मकृपा का पात्र बनना ही आवश्यक है। इसी जीवन में पात्रता सिद्ध हो जाए तो काम बन जाए। फिर दूसरा चाहिए भी क्या?



३३. मोक्ष : यहीं पर... अभी!

एक प्राचीन महर्षि ने यहाँ - इस संसार में ही - मोक्षसुख का आस्वाद करने का प्रयोग बताया है! अपनी आत्मा में ही मोक्षसुख भरा पड़ा है... बाहर लेने जाने की आवश्यकता नहीं... भीतर में दबा हुआ सुख का स्रोत प्रगट करना है। प्रगट हो सकता है वह स्रोत, परंतु उस पर जमी हुई चट्टानों को तोड़ना होगा, मिट्टी को खोद निकालना होगा!

महर्षि चाहते हैं : (१) मद और मदन पर विजय पाओ। (२) मन-वचन और काया के विकार दूर करो। (३) पर-आशाओं से निवृत्त हो जाओ। इतना पुरुषार्थ करो, यहीं मोक्षसुख का आस्वाद करोगे! सिद्धशिला का मोक्षसुख तो दूर है... यहाँ 'सेम्पल' चख लो... फिर वह शाश्वत्कालीन सुख तो मिलेगा ही।

तीन बातों को वर्षों से पढ़ता आया हूँ... हजारों बार इस श्लोक को दोहराया है। अर्थ भी जानता हूँ, इन बातों पर चिन्तन भी किया है। इतना ही नहीं, इन बातों का हजारों लोगों को उपदेश भी दिया है। परन्तु आन्तर निरीक्षण करता हूँ : 'मैं कहाँ हूँ? कहाँ तक पहुँचा हूँ?' तो घोर निराशा में डूब जाता हूँ।

अभी-अभी नीरव निशाकाल में इन बातों को लेकर खूब विचार आए। मोक्षसुख पाने का पुरुषार्थ करने के लिए तो संसार के सुखों का त्याग कर साधु बना हूँ... परन्तु साधना कहाँ है? मद-अभिमान घटाने का पुरुषार्थ कहाँ है? मदन-विषयवासना को मिटाने का पुरुषार्थ कहाँ है? कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि अभिमान बढ़ रहा है! वासनाएँ उन्मत्त बन रही हैं... मन में संकल्प-विकल्प बढ़ते जा रहे हैं... वाणी और काया की प्रवृत्ति अवश्य कम हुई है, ऐसा लगता है। परन्तु परपुद्गल की आशाएँ... तृष्णाएँ कहाँ कम हुई हैं?

कभी-कभी हृदय वेदना से कराहता है - क्या जीवन ऐसे ही पूरा हो जायेगा? इस जीवन में मोक्षसुख का क्षणिक आस्वाद भी नहीं मिलेगा मुझे?

मद और मदन का दावानल क्या मैं नहीं बुझा पाऊँगा? मन-वचन और काया के विकार-कंटकों को नहीं निकाल सकूँगा? पर-आशाओं के लौह-बन्धनों को नहीं तोड़ सकूँगा क्या? मैं टटोलता हूँ मेरे सत्व को! मैं पूछता हूँ मेरे हृदय से! दूसरों को तो पूछूँ ही क्या? यह वेदना मेरी अपनी है... यह प्रश्न

यही है जिंदगी

६७

मेरा अपना है। मुझे ही सोचना होगा और मार्ग ढूँढना होगा।

बाह्य वातावरण में मद और मदन के जहरीले जंतु व्याप्त हैं, इसी वातावरण में जीना है! बाह्य-अवकाश में अनंत विकार व्याप्त हैं और तृष्णा के सूअर गली-गली में भटक रहे हैं... इस वातावरण में जीवन व्यतीत करना है और वातावरण के प्रभाव से मुक्त रहना है! कैसे मुक्त रहा जाय? कितनी आत्मशक्ति जाग्रत हो तब मुक्त रहा जा सके? कहाँ से लाऊँ इतनी आत्मशक्ति?

अभी-अभी एक जिज्ञासु भाई ने पूछा था : 'माषतुष मुनि के जीवन में ऐसी कौन-सी साधना होगी कि दो शब्द भी याद नहीं कर सके और बारह वर्ष बीतने पर उनको कैवल्य की प्राप्ति हो गई?'

मैंने उनको यह बात कही थी : 'शास्त्र के शब्द उनको याद नहीं रहते थे, परन्तु शास्त्र के भाव आत्मसात् होते जा रहे थे। वे क्रमशः मद-मदन पर विजय पाते गये, मन-वचन-काया के विकारों से मुक्त होते गये और परपुद्गल की आशाओं से निवृत्त होते गये। चरित्रलेखक तो मनुष्य के बाह्य क्रिया-कलापों को स्पर्श करते हैं, वे आन्तर जगत में कैसे प्रवेश करें? मोक्षमार्ग की साधना जितनी बाह्य नहीं है, उतनी आन्तरिक है। मोक्षसुख का आस्वाद आन्तरिक साधना से ही संभव है। बाह्य क्रिया-कलाप आन्तरिक साधना में पहुँचने के सोपान मात्र हैं। सोपान पर ही खड़े रह जाने से मंजिल पर नहीं पहुँचा जा सकता है।

कभी-कभी परमात्मा से भी कह देता हूँ : 'हे करुणासिन्धु! बस, मुझ पर एक करुणा कर दे। जितना जानता हूँ, उतना मैं कर सकूँ! जानने पर भी नहीं कर सकता हूँ, इस बात की मुझे अपार वेदना है। मेरी इस वेदना को मिटा दे। मेरे परमात्मन्! मेरी एक लालसा है कि मैं इस जीवन में मोक्षसुख का क्षणिक आस्वाद कर लूँ... फिर भले मौत आ जाये!



३४. नये वर्ष की प्यास

लोगों ने दीपावली पर्व काफी हर्षोल्लास से मनाया और नूतनवर्ष का पर्व भी आनंद से मनाया... क्या पता किस-किस ने इस पर्व में महावीर-गौतम की स्मृति की होगी...। जब नूतनवर्ष के प्रभात में लोग हर्ष से झूम रहे थे... मेरी आँखें आँसू भर कर बैठी थी... हृदय व्याकुलता का संग कर बैठा था...। अपने प्रियतम परमात्मा के निर्वाण से अत्यन्त व्याकुल गौतम को मैं मौन रहकर देख रहा था... उनकी हृदय-व्यथा मेरे हृदय को व्यथित कर रही थी, उनकी अश्रुधारा मेरी हृदयभूमि पर बह रही थी। अत्यन्त आर्द्र... अत्यन्त वेदनापूर्ण स्वरों में... नीलगगन के उस पार... जहाँ महावीर चले गये थे... उस सिद्धशिला की ओर देखते... वे पुकार रहे थे।

वीर वहेला आवो ने...

'गौतम' कही बोलावो ने...

दरिशन वहेलुं दीजिए हो जी...

मेरा तो कंठ ही अवरुद्ध हो गया था... मैं भी वीर को पुकारना चाहता था... एक शब्द भी नहीं निकला मुँह से...। गौतम जमीन पर गिर पड़े थे... उनके आँसूओं से जमीन गीली हो गई थी... क्या करना... मुझे कुछ सूझता ही नहीं था... हजारों केवलज्ञानी शिष्यों के गुरु को मैं अज्ञानी क्या आश्वासन दूँ? चार-चार ज्ञान के धनी को मेरे तुच्छ शब्द क्या दिलासा दे सकते हैं? सिवाय रुदन के... मेरे पास कुछ नहीं था। गौतम का विलाप तीव्र हो रहा था...

जो नहीं आवो तो थाशे सेवकना बेहाल रे...

प्रभु, तु निःसनेही हूँ ससनेही अजाण रे...

वीर वहेला आवो ने...

'हे वीर, यदि आप शीघ्र नहीं आओगे तो आपका सेवक बेहाल हो जायेगा... प्रभो, आप स्नेहरहित हैं, परन्तु मैं तो स्नेहभरा हूँ... अज्ञानी हूँ...

वीर! आप शीघ्र आइये...।'

नये वर्ष का प्रभात कितना विषादपूर्ण हो गया था... गौतम के करुण विलाप ने जंगल के पशुओं को, पक्षियों को भी रुला दिया था... वृक्ष के पर्णों

यही है जिंदगी

६९

से भी आँसू टपक रहे थे... सारी प्रकृति शोकमग्न हो गई थी... एक ज्ञानी का परम ज्ञानी के प्रति अपार स्नेह... एक महात्मा का एक परमात्मा के प्रति निःसीम प्रेम... आह और आँसूओं में अनुभूत हो रहा था...।

गौतम की अनंत लब्धियों के पुजारी लोग... गौतम की गुरु-प्रीति... परमात्म-प्रीति को कैसे पहचान सकते हैं!! 'परमात्मप्रेमी गौतमस्वामी को मेरा नमस्कार हो।' ऐसा कौन लिखता है? ऐसा नमस्कार कौन करता है? 'अनंत लब्धिनिधान गौतमस्वामी' को सब लोग नमस्कार करते हैं। यह नमस्कार गौतम को नहीं है... यह नमस्कार तो उनकी लब्धियों को है। यह अर्थलोलुपता की ही अभिव्यक्ति है।

कहते हैं कि परमात्मा के प्रति गौतम को राग था इसलिए गौतम को केवलज्ञान नहीं हुआ... उनका राग केवलज्ञान में प्रतिबन्धक था। गौतम के पास केवलज्ञानी थे - परमात्मा थे, उनको केवलज्ञान से क्या मतलब था? परमात्मप्रेमी को परमात्मपद की चाह नहीं होती है। उनको तो परमात्मा की ही चाह होती है।

गौतम का राग परमात्मा के प्रति था। राग का विषय शुद्ध था, सर्वश्रेष्ठ था, इसीलिए प्रशस्त था। गौतम की परमात्म-प्रीति निष्काम थी, निरुपायिक थी... इसीलिए तो उनकी परमात्म-प्रीति ने अल्प समय में ही उनका परमात्मा से अभेद मिलन करवा दिया!

नूतन वर्ष के प्रभात में गौतम को 'केवलज्ञान' प्राप्त हुआ। केवलज्ञान के प्रकाश में गौतम ने सिद्धशिला पर परमात्मा महावीर को प्रत्यक्ष देख लिया! अब वह दर्शन शाश्वत था! अब वह इन्द्रियातीत मिलन शाश्वत था।

एक अद्भुत परमात्मप्रेमी की स्मृति का पर्व बन गया नूतन वर्ष! गौतमस्वामी जैसी परमात्म-प्रीति जाग्रत हो जाय आत्मा में तो!! दूसरा कुछ नहीं चाहिए... न लब्धियाँ चाहिए... न केवलज्ञान चाहिए! जन्म-जन्म तक हे प्रभो! मुझे तेरे चरणों का दास बनाना... तेरे चरणकमल की सेवा करता रहूँ... प्रेमभक्ति के आँसूओं का अभिषेक करता रहूँ...!



३५. क्या है पसंद? क्षमा या सजा?

अपराध के साथ दो बातें जुड़ी हुई हैं : एक सजा और दूसरी क्षमा। अपराधी को या तो सजा मिलती है या क्षमा मिलती है।

अपराधी स्वयं सजा नहीं चाहता, वह क्षमा चाहता है। लोक-व्यवहार में सजा को महत्त्व मिला है, संतों की दुनिया में क्षमा को प्रधानता प्राप्त हुई है।

सजा का महत्त्व सिद्ध करनेवाले तर्क देते हैं : सजा करने से अपराधी पुनः अपराध करने से रुकता है।

क्षमा की प्रधानता सिद्ध करनेवाले तर्क देते हैं : क्षमा करने से अपराधी फिर से अपराध नहीं करेगा।

तर्क तो दोनों समान प्रतीत होते हैं। परन्तु दोनों तर्कों में कितनी सच्चाई है - इसका निर्णय तो हमें करना होगा।

मैंने एक बात 'मार्क' की है कि जब हम स्वयं अपराधी होते हैं, तब क्षमा की प्रधानता को स्वीकार करते हैं और जब दूसरा अपराधी होता है तब सजा को महत्त्व देते हैं!

जब मनुष्य दूसरों के अपराध सहन नहीं कर पाता है तब वह सजा करने के लिए तत्पर हो जाता है। असहनशीलता में से सजा करने की वृत्ति और प्रवृत्ति पैदा होती है। उस वृत्ति और प्रवृत्ति की यथार्थता सिद्ध करने के लिये हम कितने भी तर्क दें, उससे यथार्थता-वास्तविकता सिद्ध नहीं हो सकती।

एक जीवात्मा दूसरे जीवात्मा को कैसे सजा करेगा? द्वेष और दुर्भावना के बिना सजा कैसे हो सकती है? द्वेष और दुर्भावना को कैसे उचित माना जाय?

इसमें भी, जो अपराधी अपने अपराधों का पश्चात्ताप करता हुआ आँसू बहाता है, जो अपराधी पुनः अपराध नहीं करने की प्रतिज्ञा करता है, उसको सजा कैसे की जाय? मैं तो सजा नहीं कर सकता!

एक मित्र ने कहा : यदि तू इस अपराधी को क्षमा करेगा तो वह फिर से अपराध करेगा। यह अपराधी क्षमापात्र नहीं है... विश्वासपात्र नहीं है... वह तेरे साथ धोखा करेगा...। मैंने कहा : वह विश्वासपात्र क्यों नहीं? क्योंकि उसने एक बार अपराध किया है, इसलिए न? यदि मैंने एक बार अपराध किया है तो मैं भी विश्वासपात्र नहीं रहा न? मैं इस बात को नहीं मान सकता।

यही है जिंदगी

७१

वे सभी जीव क्षमापात्र हैं, जो क्षमायाचना करते हैं। क्षमायाचना करनेवालों को यदि हम क्षमादान नहीं देते हैं, तो हम अपराधी बनते हैं!

भले, हम अपराधी को सजा न दें, अथवा न दे सकें, परन्तु 'अपराधी को सजा होनी चाहिए,' ऐसी भावना भी पापभावना है। 'सजा होनी चाहिए' का अर्थ होता है 'दुःख मिलना चाहिए।' किसी भी जीवात्मा को - पापी जीवात्मा को भी - दुःख मिलने की इच्छा करना उचित है क्या?

मित्र ने कहा : यदि उसको (अपराधी को) दुःखी नहीं होने दिया तो तू दुःखी होगा। वह तुझे दुःखी करेगा।

सही बात थी मित्र की! स्वकेन्द्रित मनुष्य ऐसा ही सोच सकता है। स्वकेन्द्रित मनुष्य अपने ही सुख-दुःख का विचार प्रथम करता है। दूसरों के सुख-दुःख के विचार गौण होते हैं।

मैं कैसे मित्र के विचारों को स्वीकार करूँ? मैं कैसे अपराधी की क्षमाप्रार्थना को टुकराऊँ? मैं कैसे अपने सुख-दुःख के विचारों को प्रधानता दूँ? क्या मैं मेरे ही सुखों के लिये जी सकता हूँ? क्या मैं अपने ही दुःखों का विचार करूँ? नहीं, भले मेरे सुख चले जायें... भले मैं दुःखों के समुद्र में डूब जाऊँ... मैं दूसरों के दुःख दूर करने का प्रयत्न नहीं छोड़ सकता। अपराधी को भी दुःखी होता हुआ नहीं देख सकता।

मैं स्वयं क्या अपराधी नहीं हूँ? अनंत जन्मों से अपराधी नहीं हूँ? क्या मैं सजा चाहता हूँ? क्या मैं परमात्मा से क्षमा नहीं चाहता? मैं अपने अपराधों की क्षमा चाहता हूँ। इसीलिए मैं दूसरों के अपराधों को क्षमा देना चाहूँगा। मैं अपने अपराधों की सजा को स्वीकार करूँगा, परन्तु मेरे अपराधियों को तो क्षमा देना ही चाहूँगा।



३६. एकांत : अंगारा भी... अमृतधारा भी...

स्वलील जिब्रान ने एक जगह लिखा है : 'विचारों की परी, जब हम एकान्त में होते हैं तभी अपने पास आती है।'

'एकान्त बुरा है।' यह बात भी मैंने किसी पुस्तक में पढ़ी है। अकेला रहना... एकान्त में रहना अच्छा भी है, बुरा भी है!

वास्तव में, एकान्त न तो अच्छा है और न ही बुरा। यदि मनुष्य अच्छा है तो एकान्त अच्छा है, मनुष्य बुरा है तो एकान्त बुरा है। एकान्त... जहाँ मनुष्य को कोई देखने वाला नहीं होता, सुनने वाला नहीं होता... जहाँ मनुष्य का स्वयं ही अस्तित्व होता है... वहाँ अच्छा सृजनकार्य हो सकता है... वहाँ अधम कृत्य भी हो सकता है।

जिसको परोक्ष... अगोचर तत्त्वों का चिन्तन, मनन और पर्यालोचन करना है, जिसको परमात्मध्यान में तल्लीनता प्राप्त करनी है, जिसको अपना तत्त्वचिंतन, अपनी तत्त्वानुप्रेक्षा ग्रन्थस्थ करनी है, उसको एकान्त चाहिए ही। उसके लिए एकान्त लाभप्रद ही होगा। जनसमूह में बैठकर ऐसे महान कार्य सिद्ध नहीं हो सकते।

सतत जनसंपर्क, सतत लोकव्यवहार की व्यस्तता अपनी स्वस्थता को, एकाग्रता को, चिन्तन-मनन को नष्ट कर देती है। कोई भी महान सर्जन नहीं हो पाता है।

मेरे एक मित्र मुनिवर ने एक गांव के विषय में शिकायत करते हुए कहा : 'गांव में हम गये, सारे दिन हम दो साधु ही उपाश्रय में बैठे रहे। कोई आया ही नहीं। हम तो दूसरे ही दिन वहाँ से चल दिये...।'

मैंने उनसे कहा : 'मैं ऐसा ही गांव पसंद करता! मुझे ऐसे गांवों में रहने का अवसर नहीं मिलता। यदि मिल जाए... तो कुछ धर्मग्रन्थों पर, अध्यात्म के ग्रन्थों पर मुझे विवेचना लिखनी है... मैं लिख लूँ। ध्यानमार्ग में भी कुछ प्रगति हो सके। परन्तु ऐसे एकान्त स्थानों में रहने का समय ही नहीं मिल रहा है।'

मित्र मुनिवर ने कहा : 'आप लोकोपकार के कार्य करते रहते हैं... हजारों लोगों को धर्मापदेश देते हैं, जो-जो आपके पास आते हैं, उनकी आत्मा को शांति मिलती है... क्या यह लाभ का काम नहीं है?'

यही है जिंदगी

७३

मैंने कहा : 'महात्मा! परोपकार करना अपना कर्तव्य है, लोगों को पापों से बचाना एवं धर्मसम्मुख बनाना अपना फर्ज है, मैं मानता हूँ। परन्तु मैं यह भी सोचता हूँ कि क्या यह सब करते हुए अपना स्वयं का आत्मभाव प्रशमरसनमग्न बना रहता है? स्वभावदशा बनी रहती है? कहीं कीर्ति, प्रतिष्ठा और मान-सम्मान की अशुभ-अपवित्र वृत्तियाँ व्यापक तो नहीं हो रही है? कोई ईर्ष्या और स्पर्धा की वासना तो नहीं सताती है? मेरे प्रिय मुनिवर! धर्मप्रभावना की सतत प्रवृत्तियों में सतत जन-संपर्क बना रहता है, इससे अपना जीवन सामाजिक बन गया है। अपनी साधुता-साधकता की मस्ती खो गई है... ऐसा नहीं लगता है? सुबह से शाम तक किसी न किसी व्यक्ति का संपर्क बना रहता है... ऐसी स्थिति में कब नये-नये ग्रन्थों का अध्ययन करें? कब नया-नया तत्त्वचिंतन करें? कब विद्वानों के साथ तत्त्वपरामर्श करें? और कब तत्त्वचिंतन को ग्रन्थस्थ करें?

मैं तो यह मानता हूँ कि साधक आत्मा को ज्यादा से ज्यादा समय एकान्त में व्यतीत करना चाहिए। अति आवश्यक हो, उतना ही जनसंपर्क रखना चाहिए। साधक की साधना निरन्तर सामाजिक संपर्क से नष्ट हो जाती है! हाँ, सामाजिक प्रतिष्ठा बन जाती है! लोकप्रशंसा मिल जाती है! लेकिन वह भी पुण्यकर्म का उदय हो तो!

एकान्त जगह का, एकान्त समय का अच्छा उपयोग कर लें। ऐसे रमणीय और पवित्र अपने तीर्थ स्थान हैं... जंगलों में हैं... पहाड़ों पर हैं... निर्जन प्रदेशों में हैं... वहाँ एकान्त मिल सकता है। महीनों तक ऐसे स्थानों में बैठकर ज्ञानोपासना की जाए तो कितने धर्मग्रन्थों का - अध्यात्मग्रन्थों का अध्ययन, चिंतन और लेखन हो जाए। ऐसे स्थानों में ध्यानोपासना की जाए तो आत्मा में कैसा आनंद प्रकट हो जाए! कैसे अगोचर तत्त्वों का प्रकाश प्राप्त हो जाए! कैसे दिव्य अनुभवों का संवेदन हो जाए!!

हाँ, जिसे ज्ञानोपासना और ध्यानोपासना में रुचि नहीं है, उस व्यक्ति को एकान्त में नहीं रहना चाहिए... उसके लिए तो समूह-जीवन ही श्रेयस्कर है। परन्तु ज्ञानोपासना और ध्यानोपासना के बिना साधु जीवन का अर्थ ही क्या? ज्ञान-ध्यान के बिना क्या मोक्षमार्ग की आराधना हो सकती है?



३७. आनंद की आम्रडाली

आनंद मनुष्य का स्वभाव है। कोई बाहर के जड़-चेतन पदार्थों में से आनंद की प्राप्ति का प्रयत्न करता है, तो कोई भीतर से आनंद की अनुभूति करने की चेष्टा करता है।

राग-द्वेष और अज्ञान से आवृत्त जीवात्मा क्या किसी को भी अखंड... अविच्छिन्न और प्रवर्द्धमान आनंद प्रदान कर सकता है? क्षण-क्षण परिवर्तनशील विचारों वाला मानव क्या किसी को निरंतर आनंद प्रदान कर सकता है? हम भी वैसे ही इन्सान हैं न? क्या आपने अपने किसी भी स्नेही को, स्वजन को, परिजन को अखंड और अविच्छिन्न आनंद प्रदान किया है? क्या आपने अपने मित्रों को, परिचितों को निरंतर आनंद दिया है? कभी न कभी तो अरुचि, द्वेष गुस्सा या अभाव पैदा हो ही गया होगा! तो फिर उन मित्रों से या स्नेही-स्वजनों से आप अखंड आनंद की अपेक्षा कैसे रख सकते हैं?

परद्रव्यों से सुख की, शांति की या आनंद की अपेक्षा रखते हुए हमने सुख खो दिया है, शांति नष्ट कर दी है, आनंद मिटा दिया है। जड़ द्रव्य हो या चेतन द्रव्य हो, अपनी आत्मा से भिन्न जो भी द्रव्य हैं, पदार्थ हैं, उनसे हमें आनंद की अपेक्षा नहीं रखनी है। हाँ, हमें दूसरे जीवों को निरपेक्ष भाव से आनंद प्रदान करते रहना है।

मनुष्य का ऐसा स्वभाव है कि वह जिसे चाहता है, जिससे प्रेम करता है, उस व्यक्ति से सदैव आनंद की अपेक्षा रखता है। वह भूल जाता है कि परिवर्तनशीलता तो संसार का स्वभाव है। आज जिस व्यक्ति से स्नेह मिला, संभव है कि कल उस व्यक्ति से स्नेह नहीं मिले। रागी और द्वेषी जीवात्मा से सदैव स्नेह-आनंद नहीं मिल सकता। उसका चित्त चंचल, वैसे ही उसका स्नेह भी चंचल!

स्थिर और शाश्वत स्नेह होता है वीतराग में! लेकिन वीतराग से स्नेह-आनंद पाने की कला हमें हस्तगत होनी चाहिए। पहले हमें ही वीतराग परमात्मा से प्रीति करनी होगी। निरपेक्ष प्रीति बाँधनी होगी। उस प्रीति को निभाना होगा। प्रीति करना आसान है, निभाना मुश्किल है।

बाइसवें तीर्थंकर भगवान नेमिनाथ के साथ राजीमति ने कैसी प्रीति निभाई थी। नौ-नौ जन्मों से प्रीति-संबंध चला आ रहा था। संसार के अंतिम जन्म में

यही है जिंदगी

७५

भी नेमिकुमार राजीमति के पास शादी करने के बहाने से गये और ज्यों राजीमती ने नेमिकुमार को देख लिया, नेमि ने अपना रथ लौटा दिया। भक्त कविराज ज्ञानविमलसूरि ने इस प्रीति-संबंध को 'धन्य कहानी' बताकर प्रसन्नता व्यक्त की है।

राजीमति शुं पूरवभवनी प्रीति भली परे पाली रे...

पाणिग्रहण संकेते आवी... तोरणथी रथ वाली रे...

नेमि निरंजन नाथ...

राजीमति ने दुनिया को प्रेम का एक महान और अद्भुत आदर्श प्रदान किया है। प्रीति केवल भोग में ही नहीं होती, त्याग में भी प्रीति हो सकती है। नेमिकुमार ने संसार का त्याग कर श्रमणत्व को स्वीकार किया, तो राजीमति ने भी उन्हीं नेमिनाथ से... नेमिनाथ के ही करकमलों से श्रमणत्व को स्वीकार किया। भगवान नेमिनाथ का अखंड स्नेह राजीमति ने पाया। नेमिनाथ की अमर आत्म-ज्योति में राजीमति की आत्म-ज्योति विलीन हो गई।

या तो अपनी आत्मा में से ही ज्ञानानन्द... सहजानन्द प्राप्त करें या फिर परमात्मा से परमानन्द प्राप्त करने का जीवन पर्यंत प्रयास करते रहें। इसके अलावा किसी से भी आनंद पाने का प्रयत्न मत करना। दुनिया से ही आनंद पाना हो तो अनंत आकाश से पाना... अनंत आकाश में मुक्त उड्डयन करते विहंगमों से पाना... उछलते सागर से पाना... निरंतर बहती नदियों से पाना... हरे-भरे फल-फूलों वाले वृक्षों से पाना...।

प्रकृति की गोद में आनंद के अमृत को खोजना... प्रकृति की गोद में ही हर पल आनंद की अमृतधारा फूटती है... प्रसन्नता छलछलाती है... क्योंकि उसमें राग-द्वेष की आग नहीं है।



३८. सहने की शक्ति देना मेरे देव!

परमात्मा से प्रतिदिन प्रार्थना करता हूँ :

‘हे परमात्मन्! प्रतिकूलताओं को सहने की शक्ति मुझे दो! प्रतिकूलताएँ जब मुझे घेर ले, तब मैं अभय बना रहूँ और आत्मध्यान में स्थिर बना रहूँ। प्रतिकूल संयोगों में, प्रतिकूल परिस्थितियों में मेरा मन चंचल न हो, मेरा चित्त अस्वस्थ न हो... ऐसा कुछ कर दो।’

हृदय में श्रद्धा का दीपक कभी-कभी मंद हो जाता है... कभी भय लगता है कि यह दीपक बुझ न जाय! श्रद्धा का सहारा यदि चला गया तो यह जीवन बेसहारा बनकर संसार में भटक जायेगा...।

‘अनुकूल संयोगों में, अनुकूल परिस्थितियों में क्या धर्मपुरुषार्थ कर लिया जाता है? अनुकूलताओं का फायदा क्या आत्मविकास की दृष्टि से उठाया जा रहा है?’ जब मैं अपनी अंतरात्मा से ये प्रश्न पूछता हूँ, प्रत्युत्तर नहीं मिलता है। गहरी वेदना अनुभूत होती है।

तब एक भय-प्रेरित विचार आता है : ‘अनुकूल परिस्थिति में जब आत्मविकास का पुरुषार्थ नहीं हो पाता है, तब प्रतिकूल परिस्थिति में क्या होगा? प्रतिकूल संयोगों में धर्मध्यान कैसे बना रहेगा? जीवन में प्रतिकूलताएँ ही ज्यादा होती हैं... क्योंकि पापकर्मों का बोझ ज्यादा है... पुण्यकर्म बहुत थोड़े हैं।’

किसी के भी जीवन में सभी प्रकार की अनुकूलताएँ नहीं होती हैं। कोई न कोई प्रतिकूलता तो होती ही है। बड़ा सत्ताधीश हो, बहुत बड़ा श्रीमंत हो, महान प्रज्ञावंत हो... या ज्ञानी हो! कोई न कोई प्रतिकूलता जीवन के साथ जुड़ी हुई होती ही है। दूसरी ओर मन का स्वभाव बड़ा विचित्र है। मन बार-बार प्रतिकूलता की ओर आकर्षित होता है। अनुकूलताएँ होने पर भी प्रतिकूलता के साथ मन जुड़ जाता है और अशांत बना रहता है।

जब धर्मग्रन्थों में बड़े-बड़े महात्माओं को घोर कष्टों के बीच स्थिर, स्वस्थ और निश्चल देखता हूँ... तब मुझे मेरी निःसत्त्वता पर, पामरता पर नफरत सी पैदा हो जाती है। आजकल उतने घोर कष्ट कहाँ आते हैं? कौन मेरे कानों में कीले गाड़ने आता है? कौन मुझ पर कालचक्र का प्रहार करने आता है? कौन सर पर अंगारे भरने आता है? कौन तलवार का प्रहार करने आता है? कौन मुझे पत्थर मारने आता है? कौन शरीर की चमड़ी उतारने आता है?

यही है जिंदगी

७७

कौन कोल्हू में हमें पीसने आता है? ऐसा कोई संकट... कोई उपद्रव नहीं आ रहा है... न ऐसे उपसर्ग सहन करने के लिए हम सामने चलकर जाते हैं।

किसी ने कटु शब्द सुना दिया... मानो कि कालचक्र का आघात हो गया! शरीर में सामान्य बीमारी आ गई, मानो किसी ने शरीर पर अंगारे बरसा दिये! किसी ने कभी मामूली अपमान कर दिया, मानो कि शरीर की चमड़ी उतर गई... कितनी निर्बलता आ गई है मन में? कितनी निःसत्त्व बन गई है? ऐसी निःसत्त्व आत्मा क्या मोक्ष पा सकती है? निःसत्त्वों के लिए मोक्ष कहाँ है? उनके लिये तो नरक तैयार है।

जब तक प्रतिकूलताएँ सहन करने की क्षमता नहीं आती है तब तक कोई धर्मआराधना फलवती नहीं बन सकती। मगध-सम्राट श्रेणिक को उसके ही प्रिय पुत्र ने कारावास में बन्द कर दिया था न? इतना ही नहीं, पुत्र पिता को चाबूक से प्रतिदिन बुरी तरह पीटता था...। उस समय श्रेणिक ने कितनी समता रखी थी? कितना धैर्य रखा था? कोई आक्रोश नहीं... कोई रुदन नहीं... कोई फरियाद नहीं! कितना सत्त्व होगा उस महापुरुष में? कैसी अद्भुत ज्ञानदृष्टि होगी उस राजपुरुष में? परमात्मा महावीर देव की सेवा ने क्या उसमें यह सत्त्व पैदा कर दिया होगा? परमात्मा के प्रति उनकी जो अविचल श्रद्धा थी, उस श्रद्धा ने क्या उसमें ज्ञानदृष्टि जाग्रत कर दी होगी?

समता से, सहजता से कष्टों को सहन करने की क्षमता आ जाये, बस, वही परमात्मा की परम कृपा है। ऐसी कृपा का पात्र बन जाऊँ... तो जीवन सफल है, धर्मआराधना सफल है।



३९. आनंद की अनुभूति का राजमार्ग

विचारों में समता और आचारों में स्थिरता आए बिना आनंद की अनुभूति असंभव है। विचारों में उग्रता भरी हुई है और आचार में अस्थिरता आ गई है, तो अशांति और अस्वस्थता ही भुगतनी पड़ेगी।

जब विचारों में क्रोध और लोभ प्रविष्ट हो जाते हैं, मान और माया का प्रवेश हो जाता है, तब विचार चंचल बन जाते हैं। आवेश, उग्रता... दीनता... हीनता और क्षुद्रता विचारों की समता को नष्ट कर देते हैं।

जब विचारों में समता नहीं रहती है तब आचार-व्यवहार भी अस्थिर बन जाता है। कर्तव्यपालन में अस्थिरता आ जाती है। कभी कर्तव्यपालन होता है, कभी नहीं।

विचारों की समता बनाये रखने के लिए क्षमा, नम्रता, सरलता और निर्लोभता का साथ कभी नहीं छोड़ना चाहिए। हमारे विचार सदैव क्षमाशील बने रहने चाहिए। हमारे विचारों में सदैव नम्रता का आस्वाद मिलना चाहिए। सदैव हमारे विचारों पर सरलता का साम्राज्य छाया रहना चाहिए। सदैव हमारे विचार लोभ से मुक्त रहने चाहिए।

समरादित्य केवली का चरित्र सामने आता है... तब गुणसेन के विचारों की समता आकृष्ट किये बिना नहीं रहती। अग्निशर्मा के प्रति गुणसेन ने कभी भी अपने विचारों को उग्र नहीं बनने दिये। केवल एक जीवन में नहीं, नौ-नौ जन्मों में गुणसेन ने विचारों में समता ही रखी... तो नौवें भव में वे समरादित्य बने और वीतरागता प्राप्त कर ली। वैराग्य के साथ-साथ समता की उन्होंने अखंड उपासना की।

अग्निशर्मा ने घोर तपश्चर्या की थी, परंतु विचारों में समता नहीं रख पाया। गुणसेन के प्रति उसके विचार उग्र बन गये... उग्र बनते ही गये... गुणसेन का घातक बन गया और भीषण संसार में भटक गया। नौ भवों में गुणसेन और अग्निशर्मा के अति निकट के संबंध भी रहे... परंतु ये संबंध प्रेम के संबंध नहीं रह सके। पिता-पुत्र के और पति-पत्नी के भी संबंध हुए थे, परंतु उन संबंधों में स्नेह और सद्भाव नहीं थे। अग्निशर्मा की आत्मा उन भवों में उचित कर्तव्यपालन भी नहीं कर पायी थी। कैसे कर सकती थी? यदि विचारों में समता न हो तो जीवन-व्यवहार में स्थिरता भी नहीं रहती है!

यही है जिंदगी

७९

क्या किया जाए...? विचारों में समता की अविचल स्थापना कैसे की जाए? खूब चिन्तन-मनन करने पर एक उपाय मिल गया...! वह उपाय है विश्वास का! परमात्मा के प्रति दृढ़ विश्वास स्थापित हो जाए... श्वास में विश्वास घुल-मिल जाए तो विचारों में समता स्थिर बन सकती है।

केवल शाब्दिक विश्वास नहीं, श्वासों के साथ विश्वास घुल-मिल जाना चाहिए। 'जो कुछ हो रहा है, मेरे परमात्मा ने जाना हुआ है, देखा हुआ है। फिर मुझे किस बात की चिंता? किस बात का भय?'

चिन्ता और भय ही तो विचारों में विषमता पैदा करते हैं। मुझे चिन्तामुक्त-भयमुक्त बन जाना चाहिए। परमात्मविश्वास ही मुझे चिन्तामुक्त-भयमुक्त कर सकता है। चिन्ता चली गई, भय चला गया कि मन में समता आ गई। परमात्मा के अचित्य प्रभाव से चिन्ताओं का और भय का समूल उच्छेद हो जाए, तो मन समता से प्रशान्त हो जाए।

महासती मनोरमा ने अपने मन में ऐसी समता प्रस्थापित की थी। श्रेष्ठि सुदर्शन पर कलंक आया और सूली पर चढ़ने की सजा हो गई... तो भी मनोरमा भयभीत नहीं हुई... वह परमात्मध्यान में लीन बन गई। सुदर्शन और मनोरमा के विचारों में उग्रता नहीं आयी, विषमता पैदा नहीं हुई। उनके जीवन-व्यवहार में अस्थिरता नहीं आयी। किसी के भी प्रति दुर्व्यवहार नहीं किया। जिस रानी अभया ने सुदर्शन को कलंकित किया था, उस रानी के प्रति भी रोष नहीं किया, दुर्व्यवहार नहीं किया।

ऐसी आत्मदशा कब प्राप्त होगी? कैसे प्राप्त होगी? परमात्मकृपा ही एक उपाय है। परमात्मविश्वास ही एक सहारा है। मेरे हर श्वासोच्छ्वास में विश्वास घुल-मिल जाय तो बस! विचारों में समता बनी रहेगी और आचार में स्थिरता बनी रहेगी... इससे जीवनयात्रा आनंदपूर्ण बन जायेगी।



४०. आवरण उतार दो आग्रह के

- क्या आत्मा में मुक्ति की कामना जाग्रत हुई है?
- क्या मैं मुमुक्षु बना हूँ?
- क्या आन्तर-बाह्य बंधन अप्रिय लगते हैं?
- क्या चित्त अनाग्रही बना है?
- क्या समता का संग प्रिय लगता है?

कितने-कितने प्रश्न अंतरात्मा में उभरते हैं? जहाँ एकान्त मिला, ऐसे प्रश्नों की परंपरा शुरू! जब प्रश्नों के सुखद प्रत्युत्तर नहीं मिलते हैं, मन बेचैनी से भर जाता है।

आत्मा के प्रदेश-प्रदेश में खोजता हूँ, उस मुक्ति की कामना को! बहुत दिनों से खोजता हूँ... नहीं मिल रही है वह कामना। यदि आत्मा में मुक्ति की कामना ही नहीं है तो फिर मुमुक्षु कैसे कहा जा सकता हूँ? मुमुक्षुता बिना का मुमुक्षु यानी मानवता बिना का मानव! मानवता न हो तो मानव कैसा? यदि केवल मानव देह से मानव माना जा सकता हो, तो केवल वेशभूषा से मुमुक्षु मान लें! नहीं, नहीं, इस तरह अपने आपको मुमुक्षु कैसे मान लूँ?

कितने-कितने बाह्य बंधन प्रिय हैं... कितने-कितने आन्तर बंधन प्रिय हैं? क्रोध प्रिय है, इसलिए तो क्रोध का सहारा लेता हूँ! अभिमान प्रिय है, इसलिए अभिमान का सहयोग लेता हूँ! माया और लोभ प्रिय है, इसलिए माया और लोभ का सहकार लेता हूँ! ये जो प्रिय हैं वे ही तो बंधन हैं!

वैसे पाँच इन्द्रियों के कितने विषय प्रिय हैं! शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श के असंख्य विषयों का राग कितना प्रगाढ़ बंधन है? जब तक विषयों का राग अखंड बना रहा है तब तक मुक्ति से प्रेम कैसे हो सकता है? क्या विषयों का राग बुरा लगता है? यदि वैषयिक राग बुरा नहीं लगता है तो आत्मा की शुद्ध अवस्था का... परमात्मदशा का अनुराग अच्छा कैसे लगेगा? मन निरंतर बंधनों से प्यार कर रहा है... अंतरात्मा मुक्ति की इच्छा में तड़प रही है।

मन कितने-कितने आग्रहों में बंध गया है? मुमुक्षु अनाग्रही होना चाहिए। परोक्ष पदार्थ के निर्णय में भी आग्रह अनावश्यक है। परोक्ष बातों को सिद्ध करने के लिए अनेक तर्क करना भी व्यर्थ है। शुष्क तर्क नहीं करने चाहिए।

यही है जिंदगी

८१

शुष्क तर्कों की जाल बिछानेवालों पर मिथ्या अभिमान सवार हो ही जाता है।

ऐसे शुष्क तर्क करने वाले पण्डितों को नहीं देखे हैं क्या? उनका अपार मिथ्याअभिमान नहीं देखा है क्या! इससे मुमुक्षुता कलंकित होती है। मुमुक्षु शुष्क तर्क करने वाला शुष्क पण्डित नहीं होता है। मुमुक्षु तो आत्मानुभव की ओर निरन्तर प्रगति करता साधक-महात्मा होता है।

मुमुक्षु सदैव समता का संग करता है। एक क्षण भी वह समता का त्याग नहीं करता है। यानी प्रबल राग-द्वेष में फँसता नहीं है। मुमुक्षु के मन में समता होती है... वाणी में समता होती है... कार्यकलाप में समता होती है। समता को सुरक्षित रखने के लिए वह निरन्तर जाग्रत बना रहता है। कहीं पर भी विषमता नहीं, कहीं पर भी व्याकुलता नहीं। कैसे भी विषम संयोग पैदा हो जाए, कैसी भी विषम परिस्थिति पैदा हो जाए... मुमुक्षु समता का संग नहीं छोड़ सकता है।

सदैव चित्त अनाग्रही बना रहे और निरन्तर समता का साथ बना रहे... तो मुमुक्षु-जीवन धन्य बन जाय, कृतार्थ हो जाय। आन्तर-बाह्य बंधन अप्रिय हो जाए और मुक्ति की कामना प्रबल बन जाए... अपूर्व आत्मानन्द की अनुभूति होने लगे। कब ऐसे धन्य क्षण आयेंगे जीवन में?



४१. पसंदगी की 'रामायण'

ऋतु सुहावनी थी, वन भी उपवन जैसा था, मार्ग स्वच्छ था, प्रभातकालीन आकाश निरभ्र था, वायु भी मन्द-मन्द गति से प्रवाहित हो रही थी... हम लोग पदयात्रा कर रहे थे। मेरे साथ एक युवक मौन धारण किये चल रहा था। मेरा परिचित था। मैं उसे अच्छी तरह जानता था। उसके मुख पर विषाद छाया हुआ था... मैंने अनुमान किया कि उसका हृदय व्यथित होना चाहिए।

वातावरण प्रफुल्लित था, युवक व्यथित था! आसपास सब कुछ सुन्दर और सुहावना था, परन्तु युवक विषाद-ग्रस्त था। जब उससे मेरी बात हुई तब वास्तविकता प्रकट हुई! उस युवक का मन प्रिय व्यक्ति के विरह से व्याकुल था! अप्रिय के संयोग से व्यथित था!

मरुभूमि का प्रदेश था, वैशाख-जेठ के महीने थे। असह्य गर्मी थी, उज्जड़-निर्जन प्रदेश में बस... रेत ही रेत उड़ रही थी... रास्ता भी कंटकाकीर्ण था... पथरीला था... हमारी पदयात्रा चल रही थी। मेरे साथी मुनि की ओर मैंने देखा। उनके मुख पर प्रसन्नता प्रस्फुटित थी। मुँह पर प्रस्वेद के बिन्दु जमे हुए थे। फिर भी उनकी आँखों में से स्नेह टपक रहा था... मुख पर स्मित बिखरा हुआ था।

वातावरण उद्वेगपूर्ण था, मुनि प्रफुल्लित थे! आसपास सब कुछ विषादप्रेरक था, परन्तु मुनि प्रसन्नचित्त थे! गाँव में पहुँचने के पश्चात् जब मैंने उन मुनिवर से बात की, मुझे ज्ञात हुआ कि उनको प्रिय के संयोग की कोई अभिलाषा नहीं थी, अप्रिय के संयोग की कोई व्याकुलता नहीं थी।

सुख, आनंद, प्रसन्नता... का मूलाधार मिल गया! प्रिय के संयोग की अभिलाषा नहीं चाहिए, अप्रिय के वियोग की कोई कामना नहीं चाहिए! प्रिय का संयोग मिले या न मिले, अप्रिय का संयोग रहे या न रहे मन प्रियाप्रिय की कल्पनाओं से मुक्त रहना चाहिए।

मन को प्रियाप्रिय की कल्पनाओं से मुक्त करने के लिए मन को प्रशस्त योग में, धर्मतत्त्वों के चिन्तन-मनन में जोड़ देना चाहिए। तत्त्वचिन्तन में मन का अभिरमण होने लगा कि स्वयंभू आनंद पैदा होगा। परन्तु तत्त्वचिन्तन की रमणता जब तक स्थायी नहीं बनती है, क्षणिक रहती है... ज्ञानानन्द भी क्षणिक बन जाता है... और मन प्रियाप्रिय की कल्पनाओं में खो जाता है।

यही है जिंदगी

८३

प्रिय-संयोग की अभिलाषा... वासना कितनी गहरी है...! अप्रिय-वियोग की कामना कितनी प्रबल है...? वर्षों तक प्रयत्न करने पर भी इन वासनाओं से मुक्ति नहीं मिल रही है! हालाँकि मेरा प्रयत्न इतना प्रबल नहीं है, जितनी प्रबल ये वासनाएँ हैं! क्यों प्रयत्न प्रबल नहीं हो पाता है? क्यों इतना आत्मवीर्य उल्लसित नहीं होता है? सोचता हूँ... बहुत बार सोचता हूँ... तो अपनी निःसत्त्वता के साथ-साथ कर्मों की प्रबलता का भी विचार आता है।

जीवन अस्खलित गति से व्यतीत हो रहा है, जीवन-शक्ति क्षीण होती जा रही है... संध्या हो जायेगी... अंधेरा छा जायेगा... भव वन में आत्मा भटक जायेगी... ये सारे विचार आत्मा को झकझोर देते हैं। उद्वेग-विषाद से मन भर जाता है। परन्तु अपनी इस विवशता पर तुरंत ही तिरस्कार आ जाता है। प्रियाप्रिय की कल्पनाओं को नष्ट कर देने की प्रबल भावना जाग्रत होती है...।

परन्तु यह भावना भी क्षणिक बन कर बिखर जाती है! कैसा है मन? कैसी है भावनाएँ? परन्तु फिर भी निराशा के आंचल में मुँह छिपाकर जीवन नहीं जीना है। जिनवचनों के सहारे सतत पुरुषार्थ करते हुए मरना है! प्रियाप्रिय की कल्पनाएँ रहे या न रहे...



४२. होनी तो होकर रहे

सर्वज्ञ वीतराग भगवान महावीर के पास जब राजकुमार जमाली ने वैराग्यपूर्ण हृदय से और नम्रता भरे शब्दों से प्रार्थना की थी कि 'भगवन्, मेरा मन वैषयिक सुखों से विरक्त बना है और मैं आपके चरणकमल में अपना जीवन समर्पित करना चाहता हूँ,' तब सर्वज्ञ परमात्मा महावीर देव ने जमाली को क्यों चारित्रधर्म प्रदान किया?

मन में यह प्रश्न पैदा हुआ, प्रश्न का समाधान ढूँढते-ढूँढते कितने दिन बीत गये! परमात्मा सर्वज्ञ थे, जड़-चेतन सभी पदार्थों के सर्वकालीन भाव जानते थे! सभी द्रव्यों के सभी पर्यायों को जानते थे... उनसे कोई भी बात अज्ञात नहीं थी... तो क्या 'यह जमाली साधु बनने के पश्चात्, श्रुतज्ञानी बनने के पश्चात्, मेरे ही सिद्धान्तों का खंडन करेगा और मेरे विरुद्ध लोगों में प्रचार करेगा...' यह बात नहीं जानी होगी उन्होंने? जमाली का भविष्य क्या उनसे अज्ञात रहा होगा? नहीं, यह बात संभव नहीं। यदि संभवित मानें तो महावीर की सर्वज्ञता नहीं मान सकते! यदि सर्वज्ञता को स्वीकार करते हैं, तो जमाली के अनागत काल का ज्ञान स्वीकार करना ही होगा।

भगवान महावीर जानते थे कि 'जमाली मेरे द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त का विरोध कर, श्रमण संघ का त्याग कर चला जायेगा और वह अपने सिद्धान्त का प्रचार करेगा' फिर भी भगवान ने जमाली को चारित्रधर्म दिया! अपने श्रमण संघ में सम्मिलित किया! प्रश्न यहाँ पैदा होता है कि ऐसा जानने पर भी उन्होंने जमाली को दीक्षा क्यों दी?

यदि मुझे ज्ञात हो जाए कि 'यह व्यक्ति भविष्य में मेरा ही दुश्मन होने वाला है,' तो मैं उस व्यक्ति को स्वीकार नहीं करूँगा। कोई भी नहीं करेगा। तो भगवान ने जानने पर भी उसे क्यों स्वीकार कर लिया?

इस प्रश्न का समाधान भगवान महावीर के बताये हुए एक सिद्धान्त से हो गया! वह सिद्धान्त है 'भवितव्यता' का!

हर जीवात्मा की अपनी स्वतन्त्र 'भवितव्यता' होती है। हर जीवात्मा की गति, प्रगति, अवनति निश्चित होती है। हर जीवात्मा की उन्नति... अवनति निश्चित होती है। जो पूर्ण ज्ञानी महापुरुष होते हैं, उनके ज्ञान-प्रकाश में यह सब प्रतिबिंबित होता है।

यही है जिंदगी

८५

जमाली का यह क्रम निश्चित था- राजकुल में जन्म लेना... यौवन में राजकुमारी प्रियदर्शना से शादी करना... फिर संसार से विरक्त होना... श्रमण जीवन स्वीकार करना... श्रुतज्ञानी होना... बीमार होना... दूसरे श्रमणों के साथ सैद्धान्तिक मतभेद होना... भगवान महावीर की अवज्ञा करना... श्रमणसंघ से निकल जाना... यह सब निश्चित था भगवान महावीर के केवलालोक में।

भगवान महावीर की अपनी भी भवितव्यता थी न! जमाली को दीक्षा देना और श्रमणसंघ में लेना - भगवान की भवितव्यता थी... उस भवितव्यता के अनुसार ही उन्होंने जमाली को दीक्षा दी थी और श्रमणसंघ में प्रवेश दिया था। वे जानते थे कि 'एक दिन यह मेरा विरोधी बन जायेगा, मेरी सर्वज्ञता का अनादर करेगा, फिर भी उनको भवितव्यता के अनुसार ही चलना था।

गोशालक को 'तेजोलेश्या' की शक्ति प्राप्त करने का उपाय बताते समय वे जानते थे कि इस शक्ति का प्रयोग गोशालक मेरे पर ही करेगा... फिर भी 'तेजोलेश्या' दे दी! भवितव्यता ने दिलवाई तेजोलेश्या!

उपाध्याय श्री विनयविजयजी ने 'शान्तसुधारस' में गाया है-

'येन जनेन यथाभवितव्यं तद्भवता दुर्वारं रे...'

'जिस मनुष्य की जैसी भवितव्यता होगी, वह वैसा बनेगा ही, कोई उसे रोक नहीं सकता।'



४३. अलग हो अतृप्ति से

एक विचार सामने आया : 'तृप्ति से मुक्ति!' जब तक मनुष्य विषयभोग से तृप्त नहीं होता है उसकी मुक्ति नहीं हो पाती! तर्क दिया गया है : 'यदि मनुष्य विषयभोग से अतृप्त रहता है तो उसको वह अतृप्ति सताती रहती है, अतृप्त का ध्यान नहीं लगता है... ध्यान के बिना मुक्ति नहीं मिलती है!'

विचार प्रस्तुत करने वाले को मैंने कहा : 'भाई, विषयों के उपभोग से कभी तृप्ति संभव है क्या? तुम मानते हो न कि अतीतकाल में अपनी आत्मा ने अनंत जन्म लिये, उन जन्मों में अनंत विषयोपभोग किये, परन्तु क्या तृप्ति हुई? कब तृप्ति होगी और कब मुक्ति पाओगे? यदि इस आशा में रहे कि 'मैं खूब वैषयिक सुख भोग लूँ, तृप्ति हो जायेगी और फिर मुक्ति मिल जायेगी!' यह तुम्हारी भ्रमणा होगी!

एक वृद्ध पुरुष मृत्यु-शय्या पर सोया था। उसकी पत्नी धर्मपरायणा थी। 'पति को मृत्यु के समय गुरुमुख से श्री नवकार मंत्र सुनने को मिल जाए तो पति का परलोक सुधर जाए...' इस भावना से प्रेरित होकर वह मुझे बुलाने आयी, मैं गया। उस वृद्ध पुरुष को मैंने नवकार मंत्र सुनाया और उसकी आत्मा को समता-समाधि मिले, वैसे दो शब्द कहे। उस वृद्ध पुरुष ने कहा : 'महाराज साहब, एक बात मेरे मन में चिन्ता पैदा कर रही है... अब भी मुझे स्त्री के अंगोपांग देखने की आसक्ति बनी हुई है... अब क्या होगा?' मैंने पूछा : 'क्या जीवन में कभी भी विषय-वासना से मुक्त होने का पुरुषार्थ किया था? क्या कभी इस मानवदेह की अशुचिता का चिन्तन कर, देहासक्ति को मिटाने का प्रयत्न किया था?'

उन्होंने कहा : 'नहीं, वैसा तो मैंने कुछ नहीं किया।'

यदि विषयोपभोग से तृप्ति हो जाती तो इस वृद्ध पुरुष को तृप्ति हो जानी चाहिए थी। परन्तु तृप्ति नहीं हुई, मृत्यु पर्यंत अतृप्ति बनी रही।

आनेवाले भव में गहरी अतृप्ति लेकर जन्मेगा!

तृप्ति से मुक्ति नहीं परन्तु पहले तो अतृप्ति से मन को मुक्त करो। विषयोपभोग करते रहने से कभी भी अतृप्ति मिटेगी नहीं, अतृप्ति की आग विशेष प्रज्वलित होगी। अतृप्ति से मुक्त होने के लिए 'त्याग' का मार्ग स्वीकार करना ही होगा। विषयोपभोग का त्याग करना ही होगा।

यही है जिदगी

८७

जिस विषय का मन से और तन से त्याग किया जाता है, उस विषय का आकर्षण टूट जाता है। दीर्घकालीन विषय-त्याग से विषयासक्ति टूट जाती है। अलबत्ता, त्याग केवल शरीर से नहीं, मन से भी होना चाहिए। त्याग करने पर, जिस विषय का त्याग किया हो, उस विषय का मानसिक आकर्षण उठ सकता है। परन्तु 'चित्तनिरोध' की लगातार साधना करने पर विषयासक्ति मर जाती है।

वैषयिक वासना को स्वीकार मत करो। वासना पर विजय पाने का सदैव पुरुषार्थ करते रहो। विजय पाने में भले ही दो-चार जन्म लेने पड़ें... जनम-जनम तक वासनाओं से लड़ते रहो, वासना अवश्य नष्ट होगी। आत्मा की विजय होगी। आत्मा की वासना पर विजय ही तो मुक्ति है!

आत्मा को आत्मगुणों में तृप्त करें। स्वभाव दशा में तृप्ति का अनुभव करें। आत्मगुणों में तृप्ति पा सकते हो। वैषयिक सुखों में कभी भी तृप्ति नहीं पा सकोगे। आत्मा के ज्ञानगुण में, दर्शनगुण में, चारित्रगुण में तृप्ति पाने का प्रयत्न करें। यह तृप्ति अविनाशी होगी, अखंड होगी। यह तृप्ति पाने पर विषयों की अतृप्ति मिट जायेगी।

तृप्ति से मुक्ति नहीं, अतृप्ति से मुक्ति पाने का प्रयत्न करें। यह प्रयत्न है, विषयोपभोग से विरक्ति का।



४४. पर की आशा... सदा निराशा...

वास्तविकता का अज्ञान ही तो व्यथा और वेदना को जन्म दे रहा है। जो परद्रव्य हैं, जो पर-पुद्गल हैं, उसकों मैं अपना मान रहा हूँ! उसको अपना बनाना चाहता हूँ, अपना बनाये रखना चाहता हूँ! यह अज्ञानता नहीं है तो और क्या है?

परद्रव्यों के सहारे मैं अपना व्यक्तित्व अपना प्रभाव बनाना चाहता हूँ... यह भी अज्ञानता ही है न? यह व्यामोह नहीं है तो और क्या है? जानता हूँ कि परद्रव्य कभी स्वद्रव्य नहीं बन सकता, फिर भी परद्रव्य को 'स्वद्रव्य' मानने लगा हूँ!

इसी वजह से मन में अभाव... न्यूनता, दीनता... महसूस करता हूँ। इसी वजह से मन हजारों विकारों से भर गया है। मोहाक्रान्त और अज्ञानावृत दुनिया की निगाहों में अपने आपका उच्च और भव्य प्रदर्शन करने के लिए परद्रव्यों की तीव्र आवश्यकता महसूस कर रहा हूँ। क्योंकि दुनिया मनुष्य का परद्रव्यों के माध्यम से मूल्यांकन करती है। जिस मनुष्य के पास बहुत ज्यादा परद्रव्य होते हैं, दुनिया उसको महान मानती है।

आत्मतत्त्व के अलावा सभी द्रव्य परद्रव्य हैं। स्वजन, परिजन, वैभव और शरीर परद्रव्य है। यदि मेरा कोई स्वजन नहीं है तो मेरा मन कुछ अभाव महसूस करता है। यदि मेरा कोई परिजन नहीं है तो मेरा मन कुछ व्यथा अनुभव करता है। यदि मेरे पास वैभव नहीं है तो मेरा मन दीनता अनुभव करता है... यदि मेरा शरीर अच्छा नहीं है तो मेरा मन विषादग्रस्त बन जाता है।

परद्रव्यों का यह तीव्र लगाव जब तक बना रहे, तब तक शांति और प्रसन्नता कैसे मिले? आन्तर-आनंद की अनुभूति कैसे हो?

परद्रव्यों की आसक्ति से हृदय भरा हुआ होता है तब तपश्चर्या भी शांति प्रदान नहीं कर सकती है। व्रत और नियमों का पालन भी आत्मानन्द की अनुभूति नहीं करा सकता है।

परद्रव्यों की आशा-आकांक्षा से मन कब निवृत्त होगा? मुझे वह निवृत्ति चाहिए! मुझे वह मुक्ति चाहिए! सिद्धशिला पर जाने में देरी होगी तो चलेगा, मोक्ष देरी से मिलेगा तो चलेगा, परन्तु पर आशाओं से मुक्ति पाने में देरी होने

यही है जिदगी

८९

से तीव्र व्यथा अनुभव करता हूँ। पर आशाओं से मुझे शीघ्र मुक्ति चाहिए। यह मुक्ति मिल जाए तो बस, मुझे यही मोक्ष मिल गया!

मन एक भी परद्रव्य की आशा नहीं करे, परद्रव्य के संयोग-वियोग में हर्ष-शोक नहीं करे... तभी आत्मध्यान में - परमात्मध्यान में स्थिरता... लीनता... तल्लीनता आ सकती है... तभी आत्मानन्द की अपार अनुभूति हो सकती है।

जीवन की यह वास्तविकता है कि परद्रव्यों के संयोग-वियोग होते रहते हैं! संयोग में हर्ष और वियोग में शोक करना वास्तविकता नहीं है! वहाँ वास्तविकता है केवल ज्ञाता बनना! केवल दृष्टा बनना!

वास्तविकता के अनुरूप जीवन जीने पर, दुनिया की दृष्टि में अच्छा लगूँ या बुरा लगूँ, मुझे कोई चिन्ता न हो, कोई भय न हो! ऐसा मनोबल, ऐसा आत्मबल कब प्राप्त होगा? कदम-कदम पर दुनिया का विचार करना स्वयं की कमजोरी नहीं है तो और क्या है! दुनिया अवास्तविक को वास्तविक और वास्तविक को अवास्तविक मानती रही है और मानती रहेगी। ऐसी दुनिया के साथ मेरा संबंध कैसे रह सकता है?

दुनिया से विमुख हुए बिना वास्तविकता के मार्ग पर निश्चिंतता से नहीं चला जा सकता। परद्रव्यों की आशाओं से मुक्ति पाये बिना अशांति, संताप और अंतर्वेदना से मुक्ति नहीं मिल सकती। कब ऐसे दिन आयेंगे जब सभी परद्रव्यों से निरपेक्ष बन, स्वात्मद्रव्य में अभिरमण करता रहूँगा!



४५. कोशिश... पर किसलिए?

क्षणिक को शाश्वत बनाने का प्रयत्न, विनाशी को अविनाशी बनाने का प्रयत्न, अस्थिर को स्थिर बनाने का प्रयत्न! क्या यही पुरुषार्थ चलता रहेगा जीवन में? मन क्या इसी की योजना बनाता रहेगा? तो फिर जो वास्तव में शाश्वत है, अविनाशी है... स्थिर है, उसको पाने का पुरुषार्थ इस जीवन में होगा ही नहीं?

संसार-व्यवहार और व्यवहार-धर्म क्या क्षणिक को निभाने का, विनाशी को पकड़ कर रखने का, अस्थिर को अपने पास बनाये रखने का उपदेश देता है? तो फिर मन की शांति, परमात्मध्यान में स्थिरता और तत्त्वचिंतन में लीनता कैसे सम्भव होगी?

क्षणिक, विनाशी और अस्थिर वस्तुओं के सहारे इज्जत बना ली है संसार में! क्षणिक, विनाशी और अस्थिर बातों पर भरोसा कर, शुरू कर दिये हैं सामाजिक कार्य? कैसे बनी रह सकती है इज्जत और कैसे सफल बन सकते हैं कार्य?

प्रियजनों के संयोग क्या शाश्वत हैं? नहीं, फिर भी प्रियजनों से इनका वियोग होगा ही नहीं, इस धारणा पर विश्वास कर लिया है! वैषयिक सुख के साधन क्या अविनाशी हैं? नहीं, फिर भी उन साधनों पर भरोसा कर लिया है कि 'ये सुख के साधन मेरे पास रहेंगे ही... कभी नष्ट नहीं होंगे।' क्या शरीर का आरोग्य स्थिर रह सकता है? नहीं, फिर भी वैसे शरीर पर भरोसा कर, कई ऐसे कार्य शुरू कर दिये हैं... ऐसा समझ कर कि आरोग्य कभी नष्ट होगा ही नहीं!'

प्रिय व्यक्तियों के संयोग को शाश्वत मानकर उनके विश्वास पर कुछ सामाजिक कार्य प्रारम्भ कर दिये। प्रिय व्यक्तियों का संयोग जब गड़बड़ाता है, टूटने की सम्भावना ज्ञात होती है, तब उस संयोग को शाश्वत बनाने का विफल प्रयत्न करता हूँ! भय सताता है... 'यदि यह व्यक्ति चला गया तो प्रारम्भ किया हुआ कार्य संपूर्ण कैसे होगा? यदि संपूर्ण नहीं हुआ तो दुनिया में मेरी बदनामी होगी... लोग क्या कहेंगे?'

नीरोगी शरीर के विश्वास पर कार्य तो उठा लिया... लोगों ने मेरी खूब सराहना की! प्रशंसा सुनकर खुश भी हुआ। परन्तु जब लगा कि आरोग्य

यही है जिंदगी

९९

बिगड़ रहा है, घबराया! मन में अनेक विकल्प पैदा हो गये! अस्थिर आरोग्य को स्थिर करने के भरसक प्रयत्न शुरू कर दिये! मन चिन्ताओं से व्याकुल बन गया!

समाज में... गांव-नगरों में मेरा यश फैल गया... मेरी प्रतिष्ठा जम गई... लोग मेरी इज्जत करने लगे... मैंने यश को शाश्वत मान लिया! भ्रमणा में फँस गया। अब उस यश... इज्जत और प्रतिष्ठा को शाश्वत बनाये रखने की योजना बनाने लगा! परन्तु जब लगा कि यश का महल हिल रहा है, महल गिरने वाला है... मन अत्यन्त व्यथित हो गया, यश के महल को स्थिर रखने की दौड़-धूप शुरू कर दी! यश की एषणा ने मेरा गला घोटना शुरू कर दिया। अत्यधिक मानसिक तनाव से मन विक्षिप्त हो गया।

यौवन और जीवन का व्यामोह भी, यौवन और जीवन को अविनाशी बनाये रखने की कल्पना देता है। कल्पना में से प्रवृत्ति पैदा होती है।

जानता हूँ कि क्षणिक कभी भी शाश्वत नहीं बन सकता, विनाशी कभी भी अविनाशी नहीं बन सकता, अस्थिर कभी भी स्थिर नहीं बन सकता... फिर भी क्यों क्षणिक के प्रति, विनाशी के प्रति और अस्थिर के प्रति इतना आकर्षण बना रहता है? क्यों उनके प्रति अनासक्ति नहीं आती? शाश्वत, स्थिर और अविनाशी आत्मतत्त्व के प्रति क्यों तीव्र आकर्षण नहीं बना रहता? परमात्मतत्त्व के प्रति अनुराग क्यों पैदा नहीं होता?

कुछ भी हो - क्षणिक, अस्थिर और विनाशी का अनुराग तो टूटना ही चाहिए।



४६. कुछ भी नहीं चाहिए : सिवा तुम्हारे!

एक वृद्ध सज्जन परमात्मा के मंदिर में बैठे थे। दृष्टि परमात्मा की पावनकारी प्रतिमा पर स्थिर थी और मन परमात्मा के ध्यान में लीन था। होठों पर परमात्मा का नाम था...। दो घंटे व्यतीत हो गये, तब उसे एक आन्तर ध्वनि सुनाई दी : 'तुझे क्या चाहिए? जो चाहिए सो माँग ले।'

वृद्ध मुस्कराया... मनोमन प्रत्युत्तर दिया : 'मेरे भगवन्, क्या तू देगा मुझे... जो मुझे चाहिए?' जवाब मिला : 'क्या तुझे मेरे प्रति श्रद्धा नहीं है? सच्चे हृदय से जो मेरे द्वार पर आता है, निराश होकर नहीं जाता... इसलिए तू सोचकर कल प्रातः मेरे पास आना।' वृद्ध ने हर्ष के आँसू बहाते हुए परमात्मा के चरणों में नमन किया और अपने मुकाम पर आ गया।

वृद्ध रात भर सोचता रहा... उसका रोम-रोम पुलकित हो रहा था... कल्पनासृष्टि में परमात्मा की करुणामयी प्रतिमा प्रसन्नता बिखेर रही थी। 'मुझे प्रातःकाल बुलाया है... मैं क्या माँगूँगा? मुझे क्या चाहिए?' वह सोचता ही रहा। वृद्ध के पास बंगला नहीं था, पुत्र नहीं था, वैभव नहीं था...

प्रातःकाल उठकर वह परमात्मा के मंदिर में गया। मंदिर में कोई भक्त नहीं था, पूजक नहीं था, पुजारी नहीं था। परमात्मा के चरणों में भावपूर्ण हृदय से नमन कर वह सामने बैठ गया। परमात्मा की प्रतिमा मधुर स्मित बिखेर रही थी। वृद्ध ने परमात्मा के नयनों से त्राटक किया। फिर आँखें मूंद ली... एक दिव्य ध्वनि सुनायी दी : 'बोल तुझे क्या चाहिए?' वृद्ध ने कहा : 'प्रभो, मुझे मुक्ति चाहिए...'

'मुक्ति... मोक्ष चाहिए? बहुत मुश्किल काम है...'

'आपकी कृपा हो जाय तो सरल काम है!'

'दूसरा कुछ माँग ले... धन, संतान वगैरह माँग ले।'

'प्रभो, आपसे मैं क्षणिक नहीं, शाश्वत माँगने आया हूँ... मुझे धन-संतान वगैरह नहीं चाहिए।'

'मुक्ति पाने का मार्ग कठिन है... बहुत से संकट आ सकते हैं। तू संकट सहन कर सकेगा? जो सुख तेरे पास हैं, वे भी चले जायेंगे। तू उन सुखों के बिना जी सकेगा?'

‘कुछ भी हो जाए, मुझ पर कृपा करो, मुक्ति दिला दो।’

‘तथाऽस्तु।’

वृद्ध के रोम-रोम खिल उठे। उसके हृदय-मंदिर में लाख-लाख दीपक जल उठे। वह घंटों तक वहाँ बैठा रहा और परमात्मध्यान में तल्लीन हो गया।

जब वह अपने घर लौटा, उसकी आत्मा अपूर्व आनंद से भरपूर थी। उसके हृदय में विश्वास के सहस्रदल कमल खिल गये थे। बाह्य दरिद्रता ने उसको दीन नहीं बनाया। पुत्र के अभाव ने उसको दुःखी नहीं किया। मैंने एक दिन उस वृद्ध से पूछा :

‘क्या भौतिक सुखों का आकर्षण कभी नहीं जगता?’

‘जगता है कभी... तब अपने परमात्मा से कहता हूँ : ‘प्रभो, मुझे इन भौतिक सुखों से बचा लेना...’ और मेरे प्रभु मुझे बचा लेते हैं।’

मैंने उस वृद्ध पुरुष की इस बात पर गंभीरता से सोचा। वैसी कौन-सी योग्यता उसमें थी कि उसकी आत्मा परमात्मा से तादात्म्य पा सकती थी। मैंने सूक्ष्मता से उसके व्यक्तित्व को समझने का भी प्रयत्न किया और मेरे मन का समाधान हो गया।

निरपेक्ष वृत्ति।

निष्काम भक्ति।

ये दोनों तत्त्व उस वृद्ध पुरुष में पाये गये। मोक्षप्राप्ति के लिये यह योग्यता मनुष्य में होनी अनिवार्य है। निरपेक्ष वृत्ति वाला मनुष्य ही निष्काम भक्ति कर सकता है। संसार के भौतिक सुखों की कोई अपेक्षा नहीं होनी चाहिए।

ऐसी निरपेक्षवृत्ति कब आएगी मेरे जीवन में? बाह्य अपेक्षाओं के अनंत आकाश में कब तक उड़ना होगा? उड़ना और गिरना - अनंतकाल से चल रहा है। कैसे मुक्ति मिलेगी? कैसे आत्मा पूर्णानन्द का अनुभव कर सकेगी? कैसे परमात्मस्वरूप में लीनता प्राप्त होगी?

जानता हूँ कि निष्काम भक्ति करनेवाला मनुष्य ही ध्याता-ध्येय और ध्यान की एकता प्राप्त कर सकता है। निष्काम भक्ति से ही आत्मा निरवधि आत्मानन्द की अनुभूति कर सकता है। निरपेक्ष वृत्ति और निष्काम भक्ति से निरन्तर मेरी आत्मा प्रफुल्लित रहे... स्वभाव में रमणता करती रहे और आत्मा मुक्ति की ओर आगे बढ़ती रहे... यही हार्दिक कामना।



४७. पल पल बदलते रिश्ते

संध्या के बदलते हुए रंग देखता हूँ, मौसम के बदलते हुए रंग भी देखता हूँ और संसार के संबंधों के विषय में स्वतः चिन्तन शुरू हो जाता है। संसार के सारे सम्बन्ध भी कैसे बदल जाते हैं!

विशिष्ट ज्ञानी पुरुषों ने अपने ज्ञानबल से कुछ जीवात्माओं के जन्म-जन्म के संबंधों को जानकर दुनिया के सामने प्रस्तुत कर दिया है। यदि दुनिया के लोग गंभीरता से उन परिवर्तनशील सम्बन्धों की निःसारता समझ लें तो अनेक शारीरिक-मानसिक तनावों से मुक्त हो सकते हैं।

कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचन्द्रसूरिजी ने रामायणकालीन पात्रों के जन्म-जन्म के अनेक सम्बन्धों पर प्रकाश डाला है। भूतकालीन सम्बन्ध तो बताये ही हैं, कुछ भविष्यकालीन सम्बन्ध भी प्रकाशित किये हैं। जब रावण की आत्मा 'तीर्थकर' बनेगी तब सीताजी की आत्मा गणधर बनेगी!

जिस रावण के प्रति सीताजी ने अपनी दृष्टि भी नहीं डाली थी, जिस रावण का सीताजी ने घोर तिरस्कार कर दिया था, जिस रावण का एक क्षण भी अपने चित्त में स्मरण नहीं किया था... उस रावण के साथ सीताजी का भविष्य में कितना प्रगाढ़ स्नेहपूर्ण सम्बन्ध होने वाला है! गणधरों का तीर्थकर के प्रति प्रगाढ़-प्रशस्त राग होता है। सीताजी की आत्मा गणधर बनकर रावण की तीर्थकरपद प्राप्त आत्मा से आत्मीय सम्बन्ध बाँधेगी! तीर्थकर की आराधना-उपासना कर अपनी आत्मा को सिद्ध, बुद्ध, मुक्त कर देगी! यानी सीताजी की आत्मा, रावण की आत्मा के आलंबन से मोक्ष पायेगी।

आज इस जीवन में जिस व्यक्ति के प्रति मनुष्य घोर द्वेष करता है अथवा प्रगाढ़ स्नेह करता है, आवश्यक नहीं कि आनेवाले दूसरे जीवन में उनके साथ द्वेष ही करता रहे या स्नेह ही करता रहे! उसी रामायण में श्री हेमचन्द्रसूरिजी ने एक माता-पुत्र के सम्बन्ध की निःसारता बताते हुए बताया है कि राजकुमार सुकोशल अपने पिता-मुनिराज के दर्शन कर साधुजीवन अंगीकार करने के लिए तत्पर हो जाता है। उसकी माता सुकोशल से खूब प्यार करती है... उसने सुकोशल को मना कर दिया... वह नहीं चाहती थी कि सुकोशल साधु बने। इसलिये वह यह भी नहीं चाहती थी कि सुकोशल के पिता-मुनिराज उस

यही है जिंदगी

९५

नगर में पधारें! वह जानती थी कि यदि राजकुमार अपने पिता-मुनिराज के परिचय में आएगा तो पिता के साथ चला जायेगा!

परन्तु एक दिन वैसा ही हुआ! सुकोशल अपने पिता-मुनिराज के साथ साधु बनकर चला गया। इससे माता के हृदय में पुत्र के प्रति रोष पैदा हो गया।

पुत्र को प्राण से भी अधिक माननेवाली माता पुत्र के प्रति तीव्र द्वेष वाली बन गई! पहले तो हृदय में सम्बन्ध का परिवर्तन हुआ, बाद में बाह्य संबंध भी बदल गया। माता मरकर एक पहाड़ी में शेरनी बनी! उसी पहाड़ी की एक गुफा में मुनिवर सुकोशल अपने पिता-मुनिराज के साथ आत्मध्यान करने गये थे। जब पिता-पुत्र उस पहाड़ी से नीचे उतरते हैं, तब उस शेरनी ने दोनों को देख लिया... और तीव्र द्वेष की वासना उभर आयी, उसने शीघ्र ही सुकोशल मुनि पर हमला कर दिया... सुकोशल मुनि तो निर्मम... निःसंग बने हुए थे! शरीर और आत्मा का भेदज्ञान पा लिया था, उनका मोक्ष हो गया।

पूर्व जन्म की माता... मरकर शेरनी बने और अपने ही पुत्र का शिकार कर दे! संसार के सम्बन्धों की निःसारता को समझने के लिये इससे बढ़कर दूसरा कौन-सा उदाहरण चाहिए?

संसार में कभी कोई सम्बन्ध जन्म-जन्म तक टिका हुआ रहता है, ऐसे प्रसंग-धर्मग्रन्थों में पढ़ने को मिलता है, परन्तु ऐसी घटनाएँ अपवादरूप हैं। किन्हीं उत्तम जीवात्माओं के बीच ऐसे सम्बन्ध हो जाते हैं और निर्वाण तक बने रहते हैं। ऐसे कुछ अपवादों को छोड़कर देखें तो सारे संसार के सम्बन्ध अनिश्चित, परिवर्तनशील और निःसार हैं।

जब संसार के संबंध ऐसे ही हैं तो फिर क्यों किसी से स्नेह-संबंध बाँधना? क्यों किसी सम्बन्ध को स्थायी बनाने का निष्फल प्रयत्न करना? क्यों किसी संबंध को लेकर राग-द्वेष करना?

यदि सम्बन्धों के बंधन टूट जाये तो मन अवश्य परमात्मध्यान में और तत्त्वचिंतन में स्थिर बन जायें! 'हे परमात्मन्! सारे सम्बन्धों के बंधन तोड़ दो और आपके साथ मेरे मन को जोड़ दो... आपसे और कुछ भी नहीं चाहिए।'



४८. इच्छाओं से मुक्त बनें

श्री इन्द्रभूति गौतम को भगवान महावीर के प्रति जैसे अनन्य अनुराग था वैसे ही मोक्ष पाने की भी तीव्र अभिलाषा थी! उन्होंने अपनी आँखों से कई श्रमणों को एवं श्रमणियों को निर्वाण पाते हुए देखा था... कइयों को केवलज्ञानी बनते देखा था... उस समय उनके मन में यह प्रश्न पैदा होता था : 'मुझे कब केवलज्ञान होगा? मेरा निर्वाण कब होगा?' श्रमण भगवान महावीर गौतम के मनोभावों को जानकर समाधान भी करते थे!

तब तक गौतमस्वामी को केवलज्ञान नहीं हुआ जब तक उनका हृदय अनुरागी था! गुरु-अनुराग और मोक्ष-अनुराग जब तक बना रहा, तब तक वे सर्वज्ञ नहीं बने! जब अनुराग का बंधन टूटा तब तुरंत ही वे सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बन गये। यह एक वास्तविकता है।

दूसरी ओर देखें तो गुरु-अनुराग और मोक्षानुराग के बिना आत्मविकास का प्रारम्भ ही नहीं होता है! आत्मसाधक महात्मा जैसे संसार के प्रति विरागी होता है, वैसे ही गुरु के प्रति और मोक्ष के प्रति अनुरागी होता है! यह अनुराग आत्मविकास में, ज्ञान-दर्शन-चारित्र के विकास में सहायक बनता है।

अष्टापद तीर्थ की यात्रा के लिये गये हुए गौतमस्वामी के प्रति १५०३ तापसों को प्रगाढ़ अनुराग हो गया... और उनकी अंतर्यात्रा का प्रारम्भ हो गया... भगवान महावीर के पास पहुँचते-पहुँचते तो १५०३ तापस केवलज्ञानी बन गये! परंतु वे तभी केवलज्ञानी बने होंगे... जब उनका गुरु-अनुराग समाप्त हो गया होगा! जब उनकी मुक्ति-कामना भी समाप्त हो गई होगी! सर्वज्ञता-प्राप्ति के पूर्व-क्षणों में पूर्ण समत्व आना अनिवार्य है। पूर्ण समत्व के बाद ही पूर्णज्ञान की उपलब्धि होती है।

पूर्ण समत्व में नहीं होता है राग, नहीं होता है द्वेष! प्रशस्त राग-द्वेष भी नहीं चाहिए। प्रशस्त राग-द्वेष तब तक ही उपादेय माने जाते हैं जब तक अप्रशस्त राग-द्वेष आत्मा में उभरते रहते हैं! संसार का राग मिटाने के लिये परमात्म-राग, गुरु-राग और धर्म-राग उपादेय हैं। जब आत्मा सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र में परिपक्व बन जाती है, तब उसकी आराधना समत्व को सिद्ध करने की ओर मुड़ जाती है। वह प्रशस्त राग से भी मुक्त होने का प्रयत्न करती है।

यही है जिंदगी

९७

अष्टापद के पहाड़ पर आत्मलब्धि से चढ़ने के लिये कई दिनों से उग्र तपश्चर्या करने वाले १५०३ तापस, गौतमस्वामी के मिलन के बाद अष्टापद-यात्रा को भी भूल गये थे! जब गौतमस्वामी ने उन तापसों को भगवान महावीर के पास चलने के लिए कहा तब तापसों ने नहीं कहा था कि 'गुरुदेव, पहले हमको अष्टापद की यात्रा करा दो, बाद में आपके गुरुदेव के पास चलेंगे।' उन्होंने कुछ नहीं कहा! गौतमस्वामी से मिलने पर शेष कोई इच्छा ही नहीं रही!

क्षीरान्न से पारणा करते-करते... रास्ते पर चलते हुए और दूर से भगवान महावीर के दर्शन करते ही कब उन तापसों का गुरु-राग भी चला गया और कब पूर्ण समत्व पा लिया... यह रहस्य तो पूर्ण ज्ञानी पुरुषों के पास ही छिपा हुआ है! समवसरण में पहुँचने पर सभी तापस केवलज्ञानी बन गये थे।

परमार्हत् राजा कुमारपाल ने वैसी आत्मस्थिति की कामना की थी और परमात्मा से प्रार्थना की थी :

‘कदा मोक्षेप्यनिच्छो भावितास्मि नाथः?’

हे नाथ! मोक्ष के प्रति भी इच्छारहित कब बनूँगा? कुमारपाल के हृदय में उस समय संसार के सुखों की कोई इच्छा नहीं रही होगी! मोक्षप्राप्ति की इच्छा से भी वे मुक्ति चाहते थे! इच्छाओं से मुक्ति, संसार से मुक्ति का उपाय होना चाहिए!

मैं भी इच्छाओं से मुक्ति चाहता हूँ। सभी वैषयिक-भौतिक सुखों की इच्छाओं से कब मुक्ति मिलेगी? यह जीवन पूर्ण हो जाए, इससे पूर्व क्या इच्छारहित बन सकूँगा? यदि इस जीवन में इच्छाओं से मुक्ति नहीं पाई तो भविष्यकाल में आत्मविकास संभव हो सकेगा क्या?

इच्छारहित बनने की इच्छा से तो अभी मुक्त नहीं बनना है। यह इच्छा तो तब तक बनी रहेगी, जब तक इच्छारहित न बन जाऊँ। इच्छाओं से मुक्ति मिल जाए, बस! कर्मों से मुक्ति मिलने में देरी नहीं होगी।



४९. अपने को केवल माध्यम समझें

उसने शिकायत के स्वरों में कहा : 'मेरे भाइयों के लिये मैंने कितना त्याग किया है... क्या बताऊँ? आज मेरे वे दोनों भाई मेरी ओर देखना भी नहीं चाहते, अब उनको मेरी कोई आवश्यकता नहीं रही...।'

बोलते-बोलते उसकी आँखें डबडबा गई। मैंने उसको आश्वासन दिया, हार्दिक भावों से उसके हृदय को भर दिया... उसका चित्त शांत हो गया।

परन्तु मैं सोचता ही रहा...। भीतरी मन से प्रश्न उठा : 'क्या कोई व्यक्ति, कोई एक आत्मा दूसरी आत्मा के लिए कुछ कर सकता है? कर्तृत्व का यह अभिमान सही है क्या?'

कर्म-सिद्धान्त के अनुसार सोचता हूँ तो कर्तृत्व का अभिमान मिथ्या लगता है। मैं तभी दूसरे को सुख दे सकता हूँ अथवा दुःख दूर कर सकता हूँ, जब दूसरे का पुण्यकर्म उदय में हो! दूसरा व्यक्ति तभी मेरा अशुभ कर सकता है, मेरा सुख छीन सकता है, मुझे दुःख दे सकता है, जब मेरा पापकर्म उदय में आया हो।

मैंने उस भाई से कहा : 'तुमने अपने भाइयों के लिये कुछ नहीं किया है, तुम्हारे भाइयों के पुण्यकर्म ने तुम्हारे पास कुछ करवाया है। तुम्हारे हृदय में भाइयों के प्रति जो प्रेम है, वह भी भाइयों के पुण्य-कर्म की वजह से है! यदि उनका पापकर्म उदय में आ जाए तो तुम्हारे हृदय में उनके प्रति प्रेम नहीं रहेगा, तुम उनको घर से निकाल दोगे...। तुम मानोगे कि 'मैंने उनको घर से निकाल दिया।' यह भी भ्रमणा है...। उनके पापकर्माँ ने तुम्हारे पास यह काम करवाया... उनको घर से निकलवाया। यदि तुम्हारे भाई यह मान लें कि 'हमारे बड़े भाई साहब ने हमको घर से निकाल दिया...' तो गलत है! भ्रमणा है! दो भाइयों की घर से निकल जाने की क्रिया अवश्य हुई है, परन्तु 'किसने निकाला?' इसका निर्णय ज्ञानदृष्टि से होना चाहिए।

छोटे भाई समझें कि 'बड़े भैया ने हमको निकाल दिया', तो गलत होगा। क्योंकि उनके हृदय में बड़े भाई के प्रति रोष पैदा होगा। रोष से पापकर्म बंधेंगे। बड़ा भाई समझे कि 'मैंने दो भाइयों को निकाल दिया...।' तो बड़े भाई का मिथ्याअभिमान दृढ़ होगा, इससे पापकर्म बंधेंगे! जिस मान्यता से पापकर्म बंधते हों, वह मान्यता सही नहीं हो सकती।

यही है जिदगी

९९

‘मैंने उसके लिये अपना सुख छोड़ा।’ यह मान्यता... यह धारणा तब दुःख देती है, जब वह व्यक्ति मेरे लिये अपने सुखों का त्याग नहीं करता है! ‘मैंने तेरे लिये अपने सुखों का त्याग किया था और तू अब मेरे लिये सुखों का त्याग नहीं करता है?’ यह धारणा मनुष्य को दुःखी करती है। ‘मैंने तुझे उस समय दुःख में सहायता की थी और आज तू मेरे दुःखों को देखते हुए भी हँसता रहता है? मुझे सहायता नहीं करता है?’ यह विकल्प त्रासदायक बनता है।

दूसरे जीवों को सुख देते समय, दूसरे जीवों का दुःख दूर करते समय यह सावधानी बरतनी ही होगी! कर्तृत्व का अभिमान जरा-सा भी न आ जाय! ‘मैं परभावों का कर्ता नहीं हूँ...।’ इस तत्त्वज्ञान को आत्मसात् करना ही होगा।

मानसिक विकल्पों से जो अशांति पैदा होती है, उस अशांति को तत्त्वज्ञान से ही मिटाया जा सकता है। दूसरा कोई उपाय नहीं है। तत्त्वज्ञान आत्मसात् होना चाहिए। तत्त्वज्ञान और विचारों में भेद नहीं रह जाना चाहिए। जैसा तत्त्वज्ञान वैसा विचार, जैसा विचार वैसा तत्त्वज्ञान! ऐसी आत्मस्थिति का निर्माण करना चाहिए।

चाहता हूँ कि तत्त्वज्ञान से भिन्न मेरा कोई विचार शेष न रहे! स्व और पर सभी के लिये मेरे विचार तत्त्वज्ञानमय बने रहें...! परंतु यह कब होगा? कभी-कभी ‘व्यवहारमार्ग’ से टकराव हो जाता है...! कुछ अज्ञानमूलक... मोहमूलक व्यवहार धर्मक्षेत्र में भी प्रविष्ट हो गये हैं, जहाँ कोई धर्मग्रन्थ साक्षी नहीं होता है! फिर भी उन व्यवहारों का पालन करना अनिवार्य होता है! कोई विवशता होती है न!

‘परभावों का... परद्रव्यों का मैं कर्ता नहीं हूँ...।’ इस तत्त्वज्ञान को आत्मसात् करना है... कब होगा? दृढ़ संकल्प के साथ परमात्मा से प्रार्थना करता हूँ कि ‘हे भगवंत! मेरा कर्तृत्व-अभिमान निर्मूल कर दे...।’ यदि परमात्मा की दिव्य कृपा से काम हो जाए, तो धन्य बन जाऊँ! मानवजीवन की एक बहुत बड़ी उपलब्धि हो जाए।

उस भाई को तो शान्त कर दिया था... परन्तु अपने आपको उपशान्त करने के लिये... अपने मन को प्रशान्त करने के लिये निरन्तर यह चिन्तन करता रहता हूँ।



५०. अभिनय जब जीवित हो उठता है।

अभिनयसम्राट आषाढाभूति चक्रवर्ती भरत का अभिनय कर रहे थे। हजारों दर्शक चक्रवर्ती भरत के आईना-भवन में भरत का अनुपम-अद्वितीय सौन्दर्य देखकर मुग्ध बन गये थे। चक्रवर्ती भरत आईना में अपना शृंगार देखने में लीन थे... और उनकी एक अंगुली में से मुद्रिका निकल गई, जमीन पर गिर गई...।

चक्रवर्ती भरत क्षणभर मुद्रिका को देखने के पश्चात्, मुद्रिकारहित अपनी अंगुली को देखते रहे और तत्त्वचिंतन में डूबने लगे। उनके मुख से वह तत्त्वचिंतन धीर-गंभीर ध्वनि में प्रस्फुटित होने लगा... दर्शक मंत्रमुग्ध बने सुनते रहे।

चक्रवर्ती का तत्त्वचिंतन गहरा बनता चला... उनकी आत्मा बोलने लगी... आत्मा पर लगे हुए मोह और अज्ञान के बंधन टूटने लगे और अभिनय वास्तविकता में बदल गया! चक्रवर्ती का अभिनय करनेवाले आषाढाभूति स्वयं सर्वज्ञ-वीतराग बन गये! आकाश में देव प्रगट हुए और आषाढाभूति को नमन कर, उनको साधुवेश समर्पित किया। उसी नाटकगृह में देवों ने घोषणा की : 'आषाढाभूति रागविजेता बने हैं, सर्वज्ञ-वीतराग बने हैं...।'

नाटकगृह में कैसा सन्नाटा छा गया होगा? जब उस प्रसंग को कल्पना की आँखों से देखता हूँ... मैं भी स्तब्ध हो जाता हूँ। श्रमण जीवन का त्याग कर, दो अभिनेत्रियों के मोहपाश में जकड़ा हुआ वह आषाढाभूति अभिनय करते-करते आत्मा की पूर्णता पा लेता है... और मैं, त्याग और संयम के पथ पर चलनेवाला मैं... कई बार तत्त्वचिंतन... आत्मचिंतन में डूबनेवाला मैं... क्यों मोहविजेता-वीतराग नहीं बन पाया? प्रश्न पैदा होता है... हृदय में व्यथा होती है... और उदासी के सागर में डूबने लगता हूँ।

आषाढाभूति का वह तत्त्वचिंतन जिससे उन्होंने वीतरागता पा ली, सर्वज्ञता पा ली, क्यों किसी पूर्ण ज्ञानी ने लिपिबद्ध नहीं किया? क्यों उस चिंतन का कोई शास्त्र नहीं बना? क्यों वह चिंतन मुमुक्षुओं के लिये संग्रहीत नहीं हुआ? कहते हैं कि उन्होंने 'अनित्य-भावना' का चिंतन किया था... तो मैं भी कई बार अनित्य भावना का चिन्तन करता हूँ! कई साधक-साधिकाएँ चिन्तन करते हैं... क्यों वे मोहविजेता-वीतराग नहीं बनते हैं? इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिल रहा

यही है जिंदगी

१०१

है। आषाढाभूति की घटना पर अविश्वास करने का कोई कारण नहीं है। घटना कैसे बनी, यह खोज का विषय है।

एक ओर, घोर... कठोर तपश्चर्या करनेवाले बड़े-बड़े मुनि-महात्माओं के कोई एकाध गलती करने पर साधनापथ से भ्रष्ट हो जाने के दृष्टांत पढ़ने में आते हैं, भवसागर में डूब जाने की बात सुनने में आती है। दूसरी ओर, ऐसे आषाढाभूति जैसे पुरुषों के दृष्टान्त पढ़ने को मिलते हैं कि जो पतन की गहरी खाई में गिर गये थे और सामान्य निमित्त मिलने पर ऊपर उठे, सर्वज्ञ-वीतराग बन गये! ऐसी बातें पढ़कर मन द्विधा में उलझता है।

बहुत सोचा, कई बार चिन्तन किया। तत्त्वज्ञान के माध्यम से इस प्रश्न को सुलझाने का प्रयत्न किया। एक दिन... पदयात्रा में चलते हुए समाधान मिल गया! निःसीम आनंद की अनुभूति हुई। आषाढाभूति के उपादान की ओर दृष्टि गई... और बात स्पष्ट हो गई! उनका मुनिजीवन से जो पतन हुआ था, वह पतन वास्तव में पतन नहीं था। परन्तु उनको जो कर्म भोगने शेष थे, वे भोगसुख भोगे बिना क्षीण नहीं हो सकते थे और ऐसे भोगसुख मुनिजीवन में नहीं भोगे जा सकते थे। उन भोगसुखों को भोगने के लिए उन्हें संसार में जाना अनिवार्य था... इसलिये उन्हें संसार में जाना पड़ा। भोगसुख भोग लिये, कर्म नष्ट हो गये... और आत्मा अनासक्त बन गई!

अनासक्त आत्मा रंगमंच पर आयी... 'भरत-केवलज्ञान' का अभिनय करते समय अवशिष्ट मोहनीयकर्म नष्ट हो गया! आत्मा वीतराग बन गया! जिस समय आषाढाभूति अभिनेता बनकर रंगमंच पर आए थे, उस समय वे अनासक्त योगी बने हुए थे! अभिनय करने के पश्चात् वे मोक्षमार्ग की साधना करने हेतु पुनः त्याग, संयम के मार्ग पर चलने के लिए कृतनिश्चयी थे!

उपादान आत्मा की वैषयिक सुखों में अनासक्ति, वीतराग बनने की गुरुचाभी (Master Key) है! अनासक्त आत्मा को सामान्य निमित्त भी वीतराग बना सकता है। विषयासक्त आत्मा को महान - असाधारण निमित्त भी वीतराग नहीं बना सकता है।

'अनासक्त योगी बनने की आंतरेच्छा कब फलवती बनेगी?' यह प्रश्न तो अभी तक प्रश्न ही बना हुआ है!



५१. सिद्धि चाहिए या प्रसिद्धि?

अध्यात्ममार्ग के महायोगी कहते हैं कि किसी भौतिक सिद्धि की कामना से कोई धर्मसाधना मत करो। सहजता से, स्वाभाविकता से कोई सिद्धि प्राप्त हो जाए तो उस सिद्धि का उपयोग मत करो, 'मुझे सिद्धि प्राप्त हुई है,' ऐसा गर्व मत करो। सिद्धिजन्य चमत्कारों से दुनिया को आकर्षित करने का प्रयत्न मत करो, अन्यथा अध्यात्ममार्ग से भ्रष्ट हो जाओगे।

कितनी अच्छी सावधानी दी है योगी पुरुषों ने! अध्यात्ममार्ग के यात्रियों की अंतर्यात्रा निर्विघ्न चलती रहे और वे अपनी मंजिल पर पहुँच जाए... इस पवित्र भावना से प्रेरित होकर योगी पुरुषों ने ये बातें कही हैं। जो साधक इस सावधानी की उपेक्षा करता है वह अध्यात्ममार्ग से च्युत हो जाता है एवं बाहर की दुनिया में इज्जत और प्रतिष्ठा कमाने के लिये आतुर रहता है।

एक भाई ने कहा : 'मेरी कुंडलिनी जाग्रत हो गई है... मैं दूसरों की कुंडलिनी जाग्रत कर सकता हूँ, आज्ञाचक्र खोल सकता हूँ... इसके आज्ञाचक्र मैंने खोल दिये हैं...!'

दूसरे भाई ने कहा : 'श्री नवकारमंत्र की आराधना से मैंने ऐसी शक्ति पायी है कि मैं दूसरों के रोग मिटा सकता हूँ! शरीर में जिस जगह रोग हो उस भाग पर मैं अपना हाथ फेरता हूँ और रोग दूर हो जाता है!'

तीसरे एक भाई ने कहा : 'मैंने ध्यान में ऐसी सिद्धि पायी है कि दूसरों को ध्यान में ले जाकर उनके रोग दूर कर सकता हूँ। कुछ लोगों के रोग दूर भी हुए हैं!'

मैं इन लोगों की बातें सुनता रहा... मौन रहते हुए सुनता रहा। कई दिनों तक उन बातों पर सोचता रहा। ये बातें करने वाले अपने आपको अध्यात्ममार्ग के यात्रिक मानते हैं! आत्मा की बातें भी करते हैं। परन्तु आत्मप्रेम के बदले अपनी सिद्धियों के प्रदर्शन का प्रेम ज्यादा पाया! स्वाभाविक था उनके लिये! सत्त्वहीन मनुष्यों में ऐसी विकृतियाँ पैदा होना स्वाभाविक होता है। प्राप्त सिद्धि को पचाने की क्षमता ऐसे जीवों में कहाँ से हो?

'परोपकार' करने की बात तो एक परदा होता है! प्रशंसा और प्रतिष्ठा का व्यामोह ही प्रधान कारण होता है। आन्तर-निरीक्षण के बिना यह बात समझ

यही है जिदगी

१०३

में नहीं आ सकती। परन्तु व्यामोह आन्तर-निरीक्षण नहीं करने देता! पद-प्रतिष्ठा का व्यामोह बहुत ही भयानक होता है।

जो महायोगी होते हैं, जो आत्मप्रेमी महानुभाव होते हैं, उनके पास सिद्धियाँ और लब्धियाँ होने पर भी वे इस स्वार्थी दुनिया से दूर रहना पसन्द करते हैं! रागी-द्वेषी जीवों से अलिप्त रहना चाहते हैं। अपनी शक्तियों का वे प्रदर्शन करना कभी नहीं चाहते हैं।

शक्ति-प्रदर्शन, सिद्धि-प्रदर्शन की आकांक्षा कहाँ से उठती है? 'मेरी शक्ति, मेरी सिद्धि देखकर लोग मेरी प्रशंसा करेंगे! लोगों की मेरे प्रति श्रद्धा बढ़ेगी। मैं असाधारण व्यक्ति बन जाऊँगा।' इस प्रकार की वृत्तियाँ ही सिद्धि-प्रदर्शन के लिये मनुष्य को उत्तेजित करती हैं। ऐसी वृत्तियाँ अध्यात्ममार्ग की यात्रा में बाधक बन जाती हैं। साधक, साधक ही नहीं रह पाता है। साधना, साधना नहीं रह पाती है। साधनामार्ग से साधक भ्रष्ट हो जाता है।

'तो क्या सिद्धि का कोई विशेष प्रयोजन नहीं है?' मन में प्रश्न पैदा हुआ। भूतकालीन महापुरुषों के प्रति मानसयात्रा प्रारम्भ हुई। अनेक योगसिद्धियों से विभूषित कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्रसूरिजी के पास मानसयात्रा रुक गई!

केवल धर्मरक्षा के लिये ही सिद्धि का उपयोग! केवल धर्मप्रभावना के लिये ही योगसिद्धि का उपयोग! स्वमहत्ता की कोई कामना ही नहीं। स्वमहत्ता को बढ़ाने के लिये सिद्धि का कोई प्रयोग नहीं! योगसिद्धि से वे आकाशगमन कर भृगुकच्छ भी गये थे और योगसिद्धि से देवी कंटकेश्वरी को भी झुका दिया था। योगसिद्धि से मुगल बादशाह को पलंग के साथ उड़ा कर भी ले आए थे! परन्तु कोई स्वार्थ नहीं था उनको। सिर्फ थी धर्मरक्षा, धर्मरक्षा की मंगलमय कामना।

ऐसी तो कोई शक्ति उन तीनों महानुभावों में नहीं है... फिर भी वे अहंकार से फूले नहीं समाते! मैं तो चाहता हूँ कि जब तक सत्त्व विकसित न हो तब तक सिद्धि प्राप्त न हो! जब तक स्वमहत्ता की कामना नामशेष न हो तब तक सिद्धि प्राप्त न हो! सिद्धि प्राप्त होने पर भी सिद्धि-प्रदर्शन की वासना जाग्रत न हो! भौतिक सिद्धियाँ प्राप्त करने की इच्छा ही जाग्रत न हो! परमसिद्धि प्राप्त करने की भावना कभी भी नष्ट न हो।



५२. जीने का तरीका

व्यक्तित्व का मोह?

इज्जत और प्रतिष्ठा का व्यामोह!

कभी-कभी महसूस करता हूँ कि यह मोह-व्यामोह मनुष्य को दंभी बना देता है। भयभीत बना देता है... अशान्त और बेचैन बना देता है। इज्जत और प्रतिष्ठा का सम्बन्ध दुनिया से होता है। इसलिए, इज्जत से जीवन जीने की स्पृहावाला मनुष्य दुनिया का खयाल करता रहता है। 'दुनिया की निगाह में मेरा व्यक्तित्व गिरना नहीं चाहिए। दुनिया की दृष्टि में मेरा 'स्टेटस' बना रहना चाहिए...।' यह खयाल कितना नुकसान करता है - यह गंभीरता से सोचना आवश्यक लगता है।

'दुनिया में जीना है तो दुनिया का खयाल रखना चाहिए...' इस विचार को दृढ़ता से पकड़ने वाला इन्सान सर्वप्रथम तो 'दंभी' बनता है। दुनिया की दृष्टि में जो बुरा काम होगा, वह काम यदि उसको करना है, वह दुनिया से बचकर करेगा। कुछ काम ऐसे होते हैं कि जो मनुष्य को अच्छे लगते हैं, सुखदायी लगते हैं - परन्तु दुनिया की दृष्टि में अच्छे नहीं होते। मनुष्य ऐसे काम 'प्राइवेट' में करता है। दुनिया को वह बताता है कि 'मैं ऐसे काम नहीं करता हूँ।'

ऐसा दंभी जीवन निर्भय नहीं होता। सतत भयग्रंथि बनी रहती है। भयभ्रान्त मन चंचल बना रहता है। चंचल मन कार्यसिद्धि नहीं कर सकता। चंचल मन अशान्त बना रहता है। अशान्त मन जीव को दुःखी करता है। सुख के साधन उपलब्ध होने पर भी वह 'सुखी' नहीं बन सकता है। शांति के स्थान में होने पर भी वह 'शांति' अनुभव नहीं कर सकता है। धर्मसाधना का अवसर प्राप्त होने पर भी वह धर्मसाधना में प्रवृत्त नहीं हो सकता है। जीवन दुःखपूर्ण बन जाता है।

कई दिनों तक सोचता रहा। 'क्या मनुष्य दुनिया की परवाह किये बिना नहीं जी सकता...?' प्रश्न उठा।

'क्यों नहीं जी सकता? अवश्य जी सकता है। दुनिया से निरपेक्ष जीवन जीने के लिये चाहिए निःस्पृहता। निःस्पृह बनने के लिये चाहिए अपने शुभाशुभ कर्मों पर विश्वास। इज्जत और प्रतिष्ठा शुभकर्म का - पुण्यकर्म का उत्पादक

यही है जिंदगी

१०५

है! मैं कुछ भी करता हूँ... यदि मेरा शुभकर्म होगा तो दुनिया में मेरी प्रतिष्ठा बनी रहेगी... यदि मेरा पापकर्म उदय में आएगा तो मेरी प्रतिष्ठा टिकने वाली नहीं है... फिर, क्यों न मैं अच्छे काम करता रहूँ। इसलिये, घबराये बिना दुनिया के सामने अपनी जीवन-किताब खुली रखनी चाहिए। दुनिया न तो दुःख दे सकती है, दुनिया न तो सुख दे सकती है। मुझे दुनिया से कुछ भी नहीं चाहिए...।'

इस विचारधारा में बहता रहता हूँ तो दुनिया तृणवत् लगती है। 'निस्पृहस्य तृणं जगत' यह आर्ष वचन निर्बल मन की 'बैटरी' को 'चार्ज' कर देता है।

परसापेक्ष इज्जत-प्रतिष्ठा की कामना करना ही गलत है। परद्रव्यसापेक्ष और परव्यक्तिसापेक्ष इज्जत-प्रतिष्ठा का खयाल करना ही मूर्खता है। 'इस वस्तु से मेरी प्रतिष्ठा है... इस व्यक्ति से मेरी प्रतिष्ठा है' - यह विचार ही अज्ञानमूलक है। केवल भ्रमणा है। केवल मानसिक विकृति है।

'मेरे पैसे चले जायेंगे तो मेरी इज्जत चली जायेगी... मेरा बंगला चला जायेगा तो मेरी इज्जत नष्ट हो जायेगी... मेरी पत्नी मुझे छोड़कर चली जायेगी तो मेरी प्रतिष्ठा चली जायेगी... मेरा लड़का या लड़की चली जायेगी... तो मेरी प्रतिष्ठा को धब्बा लगेगा... मुझे सजा होगी तो...' ऐसी-ऐसी कल्पनाएँ करने वाले दुनिया के लोग कितनी घोर अशांति भोगते हैं? दुनिया की निन्दा से... कि जो दुनिया भी वैसी ही है... और दुनिया में ऐसा सब कुछ होना स्वाभाविक है, डरते हैं! घबराते हैं!

दुनिया को बोलना हो तो बोलने दो! सुनना ही नहीं! क्यों सुनना? क्या लेना है दुनिया से? पुण्यकर्म का उदय होगा तो दुनिया मेरा कुछ बिगाड़ नहीं सकती! पापकर्म का उदय होगा तो दुनिया मुझे सुखी नहीं कर सकेगी!

'इज्जत से जीना चाहिए' इस सूत्र को मिटा दो! 'हिम्मत से जीना चाहिए' इस सूत्र को याद रखो! 'श्रद्धा से जीना चाहिए', 'निर्भयता से जीना चाहिए', 'निःस्पृहा से जीना चाहिए', इन सूत्रों को घूँट-घूँट कर जीना चाहिए! जीवन पीने का आनंद तभी मिलेगा।



५३. चल अकेला... चल अकेला...

बहुत वर्षों से 'एकत्व' की आराधना कर रहा हूँ। रात्रि के घोर अंधकार में... जब सहवर्ती सभी निद्राधीन होते हैं... जब निकटस्थ वृक्ष पर विहंगम भी विश्रामलीन होते हैं... तब मैं अनेक बार 'एकत्व' के चिन्तन में डूबा हूँ... एकत्व की अमृतधारा मेरे अंतस्तल पर बहती रही है। निर्जन और सुनसान जंगलों में से गुजरते समय भी, जब साथी-सहयात्री आगे-पीछे होते हैं, मैं 'एकत्व' भावना के चिंतन में लीन बना हूँ... और मैंने वर्णनातीत आन्तर आनंद की दिव्य अनुभूति की है।

जब कभी रास्ते पर, किसी शववाहिनी में मृतदेह देखी है, तब 'जीव इस देह को छोड़कर अकेला चला गया... अकेला आया था... अकेला चला गया...' ऐसे विचार आए हैं और आँखें मूँदकर एकत्व की अमृतधारा में बहा हूँ। जब कभी किसी अनाथ को, निराधार को... किसी वृक्ष के नीचे... या नीलाकाश के नीचे... भूखा-प्यासा-कराहता देखा है, तब दयामिश्रित... करुणामिश्रित एकत्व के विचारों में डूबा हूँ।

रात में, शयन से पूर्व 'एगोऽहं नस्थि मे कोई०' गाथा का पाठ करते समय, 'मेरी आत्मा अकेली है...' इस वास्तविकता का मैंने शीतल स्पर्श पाया है। अनेकत्व की झूठी... मिथ्या कल्पनाओं से उस समय छुटकारा पाया है।

परन्तु अनेकत्व की मिथ्या-कल्पना, अनेकत्व के साथ जुड़ी हुई इज्जत की कल्पना, अनेकत्व के साथ बंधी हुई सुख-सुविधा की कल्पना... मनुष्य को अनेकत्व को सत्य मानने के लिये मजबूर कर देती है! ऐसी मजबूरी भी मैंने कई बार महसूस की है! व्यवहारमार्ग में 'अनेकत्व' को बहुत प्राधान्य दिया गया है। इतना प्राधान्य दिया गया है कि बेचारा मानव एकत्व की बात से ही घबराने लगता है। जीवन-व्यवहार में अनेकता की अनिवार्यता स्वीकृत कर लेने पर, 'एकत्व' सिर्फ 'पुस्तक-ज्ञान' बन कर रह जाता है। 'एकत्व' केवल विचार-बिन्दु बन कर रह जाता है।

'तो क्या 'एकत्व' केवल विचार-बिन्दु ही है? जीवन-व्यवहार में एकत्व को कोई स्थान नहीं है?' यह एक विकट प्रश्न है। अनेकता की दृढ़ धारणा के साथ, अनेकों की प्रबल अपेक्षाओं के साथ 'एकत्व' की भावना का अस्तित्व भी संभव है क्या? कैसी समस्या बनी हुई है? क्या, एकत्व की भावना का

यही है जिंदगी

१०७

प्रयोगात्मक रूप नहीं होना चाहिए? जीवन-व्यवस्था में एकत्व का स्थान नहीं होना चाहिए? जीवन के प्रारम्भ से अंत तक, अनेकता से जकड़ी हुई जीवन-व्यवस्था, आत्मा के आभ्यान्तर विकास में बाधक नहीं है?

संसारी जीवन में तो अनेकता की प्रतिष्ठा है, श्रमण जीवन में भी अनेकता की ही प्रतिष्ठा? अनेकता की अनिवार्यता? जीवन की किसी भी भूमिका पर एकत्व की प्रतिष्ठा नहीं? केवल उपदेशों में ही एकत्व की महत्ता गाने की है? प्राचीन श्रमण-परम्परा में 'एकत्व' की प्रतिष्ठा थी। श्रमण योग्य भूमिका प्राप्त करता था, ज्ञान-ध्यान और तप-तितिक्षा द्वारा विशिष्ट योग्यता संपादन करता था, तब उसको एकत्व की साधना के लिये मुक्त कर दिया जाता था। वर्षों तक 'एकत्व' की भावना, जो केवल वैचारिक भूमि को नवपल्लवित करती रहती थी, बाद में जीवन-व्यवहार में ओतप्रोत हो जाती थी। अद्वैत की आराधना का अपूर्व आनंद महसूस होता था।

वर्तमानकालीन श्रमण-परंपरा में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं है, ऐसी कोई साधना-आराधना की पद्धति दृष्टिपथ में नहीं आ रही है। परिणाम कितना चिन्ताजनक दिखता है? अनेकता के साथ जुड़े हुए राग, मोह, ईर्ष्या, स्पर्धा आदि अनेक दूषण श्रमण जीवन में भी प्रविष्ट हो गये हैं! अनेकता में से एकत्व की ओर अग्रेसर होने का कोई अभिगम ही नहीं बन रहा है।

नहीं दिखती एकता और नहीं दिखता एकत्व!

नहीं रहा संघ का संगठन और नहीं रहा अनेकता का विघटन...!!



५४. पाप तुम्हारे खोल दो

‘यहाँ अपने पापों का सच्चे हृदय से प्रकाशन करो और पापमुक्त बनो... पापों का पश्चात्ताप, मनुष्य को शुद्ध-बुद्ध बनाता है।’

कच्छ की धरा पर ऐसा एक पावनकारी तीर्थ देखा! ‘अंजार’ कच्छ के पुराने नगरों में से एक ऐतिहासिक नगर है। अंजार के बाहरी प्रदेश में ‘जेसल-तोरल की समाधि’ आज भी मौजूद है। जेसल डाकू था, हत्यारा था...। जेसल की नैया जब समुद्र में डूब रही थी, उस समय तोरल ने उसके पास, पापों का पश्चात्ताप करवाया था... जेसल ने अपने सारे पाप दिल खोलकर बता दिये थे और उसकी नैया पार लग गई थी।

आज भी, कई स्त्री-पुरुष जेसल-तोरल की इस समाधि के दर्शन करने आते हैं, दर्शन कर... रो पड़ते हैं... आँसू बहाते हुए अपने पाप वहाँ प्रकाशित करते हैं... हृदय का बोझ दूर होता है... आँखें निर्मल होती हैं और प्रसन्नचित्त लौट जाते हैं। पता नहीं कि यहाँ से जाने के बाद वे पुनः वैसे पाप करते हैं या नहीं! जेसल ने तो पुनः वैसे पाप नहीं किये थे।

पापों का प्रतिक्रमण करना, पापों का इकरार करना, परमात्मा से पापों की क्षमा माँगना... वगैरह भिन्न-भिन्न धर्मों में बताया गया है। कुछ श्रद्धावान् स्त्री-पुरुष वैसी क्रियाएँ करते भी हैं..., परन्तु पता नहीं कि वे सचमुच पापों का पश्चात्ताप करते हैं, या सिर्फ एक क्रिया करने से ही संतोष महसूस करते हैं।

एक दिन याद आता है...

सांवत्सरिक प्रतिक्रमण हो रहा था...

एक भाई वंदित्सूत्र [पापों का पश्चात्ताप करने का सूत्र] बोल रहे थे और रो रहे थे! वे वास्तव में पश्चात्ताप कर रहे थे... उनका सूत्र सुनते-सुनते... और उनको देखते-देखते कड़ियों की आँखें चूने लगी थी। पापों का सच्चा पश्चात्ताप हो रहा था।

परन्तु, मनुष्य पाप छिपाने में निपुण है। पशु पाप करता है अवश्य, परन्तु छिपाता नहीं है। मनुष्य पाप करता है और छिपाता है! क्योंकि वह पापाचरण से नहीं डरता है, किन्तु दुःख से डरता है!

‘मैं पाप करूँगा तो अशुभ कर्मबंध होगा, इससे भविष्यकाल में मुझे तीव्र

यही है जिदगी**१०९**

वेदनाएँ सहनी पड़ेगी...' यह विचार नहीं आता, उसको विचार आता है - 'मेरा पाप लोग जान लेंगे तो मेरी बेइज्जती होगी, मेरा अपमान होगा... मैं किसी को मुँह दिखाने के योग्य नहीं रहूँगा...।'

दुःखों के भय से पापों का पश्चात्ताप तो फिर भी लोग कर लेते हैं, परन्तु जिस पाप के पीछे कोई भय नहीं लगता है, जो पापाचरण कोई देखता नहीं है... फिर भी पाप का पश्चात्ताप हम करें तभी सच्चा पश्चात्ताप है।

आसपास के सभी लोग जो पाप कर रहे होते हैं, उसको तो 'पाप' मानना ही मुश्किल होता है। जिसको 'पाप' नहीं माने, उसका पश्चात्ताप कैसे?

भले मनुष्य पाप को पाप नहीं माने, भले पापों का पश्चात्ताप नहीं करें, परन्तु इससे वह पापमुक्त नहीं बन जाता! पापों का बोझ उसके हृदय में बढ़ता जाता है। धीरे-धीरे उसकी बेवैनी बढ़ती जाती है। वह समझ नहीं पाता कि 'मेरा हृदय भारी-भारी क्यों रहता है?' यदि उसको पाप-पश्चात्ताप का मार्ग नहीं मिलता है, तो शीघ्र उसका हृदय बंद हो जाता है और आत्मा पापों का बोझ लिये, परलोकयात्री बन जाती है।

मौत से पूर्व हे परमात्मन्! सहज भाव से मेरे पापों का पश्चात्ताप हो जाय... वैसी कृपा करें। पापों का प्रकाशन करने में रुकावट करने वाले तत्त्वों का नाश कर दो प्रभो! पापों का ऐसा पश्चात्ताप हो कि भविष्य में पापों का कोई आकर्षण ही नहीं रहे। पापेच्छा ही नष्ट हो जाय। हे वीतराग! तेरे अचिन्त्य अनुग्रह से मुझे पापेच्छाओं से मुक्ति पानी है। यदि उसका उपाय 'पश्चात्ताप' का हो... तो वैसा पश्चात्ताप मैं करने को तत्पर हूँ... आपके ही पावनकारी चरणों में...



५५. पहले स्थिर बनिए

उन्होंने कहा : अभी ऐसी स्थितप्रज्ञता नहीं चलेगी, अपनी जिम्मेदारियों को वहन करना चाहिए।

उसने कहा : स्थितप्रज्ञता प्राप्त किये बिना, जिम्मेदारियाँ वहन करने की योग्यता प्राप्त होती है क्या?

उन्होंने कहा : व्यवहारप्रधान जीवन में स्थितप्रज्ञता कैसे आ सकती है और कैसे टिक सकती है?

उसने कहा : व्यवहारप्रधान जीवन कब तक निभाने का? जीवन के उत्तरार्ध में तो आत्मलक्षी जीवन बनना चाहिए न? क्या अंतिम श्वासोच्छ्वास तक व्यवहारों की उलझनें बनी रहनी चाहिए? दूसरी बात, स्थितप्रज्ञ बने बिना शुद्ध व्यवहार का पालन संभव है क्या? धार्मिक क्षेत्र में भी अशुद्ध व्यवहारों का प्रचलन, क्या स्थितप्रज्ञ नेतृत्व के अभाव का परिणाम नहीं है? अनेक अच्छी-बुरी आकांक्षाओं को लेकर, परसापेक्ष जीवन जीने की रुढ़ परम्पराओं में, आत्मा और परमात्मा केवल नामशेष रह गये हैं - ऐसा नहीं लगता?

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ! मनोगतान्।

आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञः तदोच्यते।।

मन की तमाम इच्छाओं से मुक्त बन, आत्मा से आत्मा में तुष्ट बनना स्थितप्रज्ञता है!

संसार-व्यवहार में तो इच्छाओं की प्रचुरता रहेगी ही! स्वजीवन के सुख-दुःखों की इच्छाएँ और परजीवन के सुख-दुःखों की इच्छाएँ बनी ही रहेगी। दुःख के विचारों में उद्वेग और सुख की कल्पनाओं में आनंद होता रहेगा! इससे राग, भय और क्रोध जीवन पर आधिपत्य जमाकर बने ही रहेंगे।

उन्होंने कहा : धार्मिक क्षेत्र में भी कुछ हद तक राग-भय-क्रोध आदि आवश्यक तत्त्व माने गये हैं! परन्तु इन तत्त्वों को 'प्रशस्त' मानकर इस्तेमाल किये जाते हैं...!

उसने कहा : जो मनुष्य स्थिर बुद्धिवाला नहीं होता है, जो स्थितप्रज्ञ नहीं होता है, क्या वैसा मनुष्य राग, द्वेष, क्रोध आदि को 'प्रशस्त' रूप दे सकता है? यानी हृदय से विरागी रहते हुए बाहर से राग की अभिव्यक्ति कर सकता

यही है जिदगी

१११

है? हृदय से अद्वेषी रहते हुए बाहर से द्वेष की अभिव्यक्ति कर सकता है? हृदय से निर्भय रहते हुए बाहर से भय प्रदर्शित कर सकता है? कहाँ है स्थिर बुद्धि?

उद्वेग और आनंद में बुद्धि अस्थिर बन गई है। दुःख में उद्वेग हो ही जाता है! सुख में आनंद हो ही जाता है! व्यवहार के सिद्धांत में उद्वेग को उपादेय माना गया है। आनंद को भी उपादेय माना गया है। इसका तात्पर्य यह है कि व्यवहार-मार्ग में स्थिर बुद्धि संभव नहीं है!

राग, द्वेष और भय से आक्रान्त जीवन जीना है? नहीं, ऐसा जीवन जीने का कोई प्रयोजन नहीं है। ऐसे सुख ही नहीं चाहिए कि जो राग-द्वेष और भय से प्राप्त होते हों। भयाक्रान्त सुख तो वास्तव में सुख ही नहीं है।

एक महर्षि ने तो कहा भी है कि संसार के सभी सुख भयाक्रांत हैं। सभी सुखों के ऊपर भय के बादल मंडराये हुए हैं! इसलिए जीवन ऐसा जीना चाहिए कि बाह्य सुखों की अपेक्षा बहुत ही कम रहे।

कुछ भी हो, इस जीवन में स्थितप्रज्ञता प्राप्त करनी है। स्थितप्रज्ञता प्राप्त करने के लिए जो कुछ त्याग करना पड़ेगा, कर दूँगा! जैसा जीवन अपेक्षित होगा, वैसा जीवन स्वीकार कर लूँगा। आत्मा के द्वारा आत्मा में संतुष्टि का आस्वाद तो पाना ही है! जब संसार के सारे बाह्य बंधन तोड़ दिये हैं, सारे रिश्ते छोड़ दिये हैं, श्रमण जीवन के व्रत-नियमों को सहर्ष स्वीकार कर लिया है, तब स्थितप्रज्ञता प्राप्त करना, स्थितप्रज्ञता से प्राप्त आत्मानन्द की अनुभूति करना मेरे लिये अनिवार्य है। स्थितप्रज्ञता के अभाव में यदि जीवनयात्रा समाप्त हो गई... तो निःसीम पश्चात्ताप होगा।

स्थिर बुद्धि और स्थितप्रज्ञता, आत्मानुभूति को चाहने वालों के लिये केवल आवश्यक नहीं, अनिवार्य है। कुछ तुच्छ व्यवहारों की शृंखला को तोड़कर भी स्थिर बुद्धि और स्थितप्रज्ञता का अभ्यास कर ही लेना चाहिए। व्यवहार-परस्त दुनिया के प्रत्याघातों की अब कोई परवाह नहीं करनी है।



५६. चलें सूक्ष्म विश्व की यात्रा पर

संपूर्ण विश्वदर्शन संपूर्ण ज्ञान से होता है। विश्व जितना इन्द्रियों के माध्यम से जाना जाता है और देखा जाता है, वह तो बहुत ही अल्प है। इन्द्रियातीत विश्व अनंत... अपार है। प्राचीन धर्मग्रंथों में पढ़ते हैं कि पूर्णज्ञानी-केवलज्ञानी आत्मा संपूर्ण विश्व को देखती है, जानती है।

विश्व में जड़ द्रव्य अनंत हैं, चेतन द्रव्य भी अनंत हैं! सभी द्रव्यों की भूतकालीन अवस्थाएँ अनंत हैं, भविष्यकालीन अवस्थाएँ भी अनंत हैं। अवस्था को 'पर्याय' भी कहते हैं। केवलज्ञानी इन सभी पर्यायों को जानते हैं और देखते हैं! जानने और देखने के दो उपकरण होते हैं - केवलज्ञान और केवलदर्शन। ये दोनों उपकरण गुणात्मक होते हैं।

इस सिद्धान्त से यह फलित होता है कि सूक्ष्म विश्व में जिस प्रकार सारे द्रव्यों का नित्य अस्तित्व है वैसे सारे पर्यायों से युक्त द्रव्यों का भी अस्तित्व है। भूतकालीन सभी द्रव्यों का, सभी पर्यायों से युक्त अस्तित्व है वैसे भविष्यकालीन सभी द्रव्यों का, सभी पर्यायों से युक्त अस्तित्व भी होता है! तभी तो पूर्णज्ञानी, भूतकालीन और भविष्यकालीन सभी द्रव्यों को सभी पर्यायों के साथ देख सकते हैं!

स्थूल विश्व में जिस वस्तु का नाश होता दिखाई पड़ता है, सूक्ष्म विश्व में, उस वस्तु का, उस पर्याय में अस्तित्व रहता है! तभी तो भूतकालीन पर्याय के रूप में उसका ज्ञान पूर्णज्ञानी को होता है! यदि द्रव्य की अवस्था का - पर्याय का अस्तित्व समूल नष्ट होता तो वह ज्ञान का विषय नहीं बन सकता। उसी प्रकार, भविष्यकालीन द्रव्यों के पर्याय यानी सभी पर्याययुक्त सभी द्रव्य का अस्तित्व नहीं होता तो उन द्रव्यों का, सभी पर्यायों के साथ, ज्ञान नहीं हो सकता।

ऐसा ज्ञान होता है अवश्य! इसलिए मानना ही पड़ेगा कि सूक्ष्म विश्व सभी द्रव्यों से... सभी पर्यायों से परिपूर्ण है! नष्ट होना और उत्पन्न होना; इन्द्रिय-प्रत्यक्ष विश्व की क्रियाएँ हैं। जिस प्रकार प्रत्यक्ष विश्व में, मनुष्य की मृत्यु हो जाती है, परन्तु उसकी फोटो रह जाती है! फोटो एक पर्याय है, एक अवस्था है! मनुष्य मर गया... उसकी एक अवस्था फोटो के रूप में रह गयी!

सूक्ष्म विश्व में सभी द्रव्यों के सभी पर्यायों की ध्रुव सत्ता है। बाह्य विश्व में उत्पत्ति-स्थिति और नाश की प्रक्रिया निरन्तर चालू रहती है।

यही है जिदगी

११३

वीतरागी पूर्णज्ञानी बनता है!

सूक्ष्म विश्व में प्रवेश करने के लिये राग-द्वेष के विकारों से संपूर्णतया मुक्त होना अनिवार्य है। सूक्ष्म विश्व में न रागी प्रवेश कर सकता है, न द्वेषी प्रवेश कर पाता है! ऐसा क्यों?

क्योंकि वास्तविकता ऐसी ही है। राग-द्वेष से मुक्त आत्मा में पूर्ण ज्ञान का निःसीम प्रकाश जगमगाने लगता है। यह प्रकाश शाश्वत होता है, अविनाशी होता है। इस ज्ञान-प्रकाश में प्रतिक्षण... प्रतिपल... संपूर्ण स्थूल और सूक्ष्म विश्व पूर्णरूपेण दिखता रहता है। सभी पदार्थ दिखते हैं, सभी पदार्थ की सभी अवस्थाएँ दिखती हैं।

पूर्ण दर्शन में राग नहीं होता, द्वेष नहीं होता! राग-द्वेष होते हैं अपूर्ण दर्शन से! कब मिटेंगे राग और द्वेष?

हालाँकि मैं जानता हूँ कि मेरी आत्मा की राग-द्वेष से मुक्त अवस्था भी सूक्ष्म विश्व में है ही! परन्तु उस अवस्था की, उस पर्याय की अनुभूति सूक्ष्म विश्व में प्रवेश किये बिना संभव नहीं है। कब होगा सूक्ष्म विश्व में मेरा प्रवेश? मैं नहीं जानता हूँ!

पदार्थों की प्रिय-अप्रिय अवस्थाओं के दर्शन से राग-द्वेष हो ही जाते हैं! पर्याय-दर्शन मिटे कैसे? दर्शन होता है पर्याय का ही! पर्याय के बिना द्रव्य का अस्तित्व असंभव है! द्रव्य की परिभाषा ही यही है ना - 'गुणपर्यायवद् द्रव्यम्'!

प्रिय-अप्रिय के विकल्पों से मुक्ति मिल जाय तो मान लूँगा कि मैं सिद्धशिला पर पहुँच गया! अशांति, संताप और उद्वेग के मूल स्रोत हैं ये प्रियाप्रियत्व के विकल्प! प्रियाप्रिय के विषय होते हैं द्रव्यों के पर्याय! द्रव्यों की भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ! जहाँ देखो वहाँ पर्याय! जहाँ जाओ वहाँ पर्याय!

सूक्ष्म विश्व में प्रवेश जब होगा और क्षेत्र-काल के बंधनों से मुक्त सभी द्रव्यों का... सभी पर्यायों के साथ ज्ञान-दर्शन होगा... तभी न होगा राग, न होगा द्वेष। विश्वास है कि एक दिन मैं इस अवस्था को उपलब्ध कर लूँगा।



५७. अकेलापन अखरने न लगे

आकाश मेघाच्छादित था। धीमी-धीमी बरसात बरस रही थी। मैं सोच रहा था। मेरे कमरे की एक खिड़की खुली थी। मुझे नींद नहीं आ रही थी। मेरी दृष्टि खिड़की की ओर थी। नीरव शांति थी। मैंने खिड़की के द्वार पर एक चिड़िया को बैठे हुए देखा। शान्त बैठी थी... अकेली थी। मुझे मालूम नहीं कि उसका कोई स्नेही होगा या नहीं! यह भी नहीं जानता कि उस चिड़िया के मन में कैसे विचार आते-जाते होंगे! यह तो जानता हूँ कि चिड़िया को मन होता है... और मन होता है इसलिए कुछ विचार तो आते-जाते रहते ही हैं!

मैं चिड़िया को देख रहा था और उसके विषय में सोच रहा था... परन्तु उसने मुझे देखा होगा या नहीं... मैं नहीं जानता! वह मेरे विषय में सोचती होगी या नहीं... यह भी नहीं जानता! परन्तु मेरे मन में प्रश्न पैदा हुआ : 'मैं इस चिड़िया के विषय में सोचता हूँ, करुणा से सोचता हूँ, परन्तु वह मेरे सामने भी नहीं देखती... वह मेरे विषय में सोचती होगी?' प्रश्न का समाधान मैंने स्वयं कर लिया : 'वह क्यों मेरे सामने देखे? वह कैसे मेरे विषय में सोचे? उसे मुझसे कोई अपेक्षा नहीं है... और मेरे विषय में सोचने की उसकी मानसिक क्षमता ही नहीं है।'

उसने अपने पंख हिलाये... अपने पैर आगे-पीछे किये... और पुनः स्थिर हो गयी... अपने में खो गयी!

नींद नहीं आ रही थी... चिन्तन-यात्रा शुरू हो गई थी। मेरी आँखें बंद थी। भीतर से मंद-मंद परन्तु मधुर ध्वनि कर्णगोचर हो रही थी...। जैसे कोई बहते निर्झर की आवाज हो! लगा कि हृदयगिरि में कोई छोटा-सा झरना बह रहा है...। किनारे पर जा पहुँचा...! ओह... यह तो था एकत्व का पुनीत झरना! स्वच्छ निर्मल जलप्रवाह था...। देखने का मजा था... सुनने का मजा था...! आनंद ही आनंद! एकत्व का... निर्द्वन्द्व का आनंद था।

जब आँखें खुली... वह चिड़िया वहीं बैठी थी... और बरसात भी मंद गति से बरस रही थी... मेरे कमरे में मैं अकेला ही था। एकत्व अच्छा लगा... एकत्व से प्यार हो गया। एकत्व के आनंद की क्षणिक अनुभूति, अनेकत्व के आनंद की क्षणिक अनुभूति से ज्यादा मिष्ट लगी... ज्यादा स्वच्छ लगी।

अनेकता के अभाव में 'अकेलापन' तभी अखरता है, तभी बेचैन बनाता है,

यही है जिंदगी

११५

जब हमने एकान्त के क्षणों में 'एकत्व का आनंद' अनुभूत नहीं किया होता है। अनेक व्यक्ति और अनेक वस्तु के साथ जीवन जीने की आदत मनुष्य को इस तरह परेशान करती है, जिस तरह शराब की आदत शराब के अभाव में शराबी को परेशान करती है।

यह नहीं भूलना चाहिए कि अनेक प्रिय व्यक्तियों का संयोग और अनेक इष्ट वस्तुओं की प्राप्ति पराधीन है! प्रारब्ध के अधीन है। अनेक प्रिय स्वजनों का क्षण में वियोग हो जाता है... अनेक अभीष्ट पदार्थ क्षण में नष्ट हो जाते हैं... मनुष्य अकेला रह जाता है... ऊपर आकाश और नीचे धरती! उस समय यदि उसके पास 'एकत्व' के आनंद की साधना नहीं है, तो उसको 'ब्रेन-हेमरेज' हो सकता है, या वह पागल... शून्यमनस्क बन सकता है... अथवा आत्महत्या कर सकता है।

अनेकों के साथ रहते हुए भी, हृदयगिरि में एकत्व का झरना बहने दो! कभी-कभी... एकान्त के क्षणों में उस झरने के पास बैठा जाए... उस झरने में डूबा जाए, उस आनंद को मन भर कर पीया जाए... तो ही अनेकों के अभाव में अकेलेपन की उदासी, दिल-दिमाग पर नहीं छायेगी। अनेकों के अभाव में 'एकत्व की साधना' का अवसर दिखेगा, एकत्व में डूबने का आनंद मिलेगा! मन में उदासी का प्रवेश ही नहीं होगा।

ऐसा कोई अच्छा कार्य, मनपसन्द कार्य खोज लेना चाहिए जिसे कि एकान्त के क्षणों में... दिनों में... वर्षों में करते रहें... आनंद पाते रहें और कभी भी 'मुझे अकेलापन नहीं सुहाता है...' ऐसी शिकायत नहीं करें। शिकायत तो नहीं करें, अपने मन में भी ऐसा गम नहीं लायें कि 'मैं अकेला हूँ... मेरा कोई नहीं...।'

'मैं अकेला हूँ, मेरा कोई नहीं है,' अदीन भाव से चिन्तन करते-करते कब सो गया... पता ही नहीं रहा। प्रातःकाल हुआ... आकाश स्वच्छ था... और चिड़िया उड़ गयी थी...!



५८. बाहर नहीं... भीतर देखो

आसपास सर्वत्र नीरव शांति थी। श्वान भी मौन थे और पासवाले वृक्ष पर विहंगम भी निद्राधीन थे। चन्द्र बादलों की ओट में था, मैं जाग्रत था। अंतर्यात्रा अनवरत गति में थी। परन्तु रास्ते में एक नया सुन्दर एपार्टमेंट आया और खड़ा रहा।

खुली आँखों ने उस बिल्डिंग का सौन्दर्य देखा, नाविन्य देखा... और भव्यता देखी। धीरे-धीरे आँखें निमिलीत होती गईं और अन्तः-चक्षु का उन्मिलन होने लगा...! मेरे सामने एक खंडहर खड़ा था... न था उसमें सौन्दर्य, न था नाविन्य और नहीं थी भव्यता। खंडहर में दिखाई दिये कुछ सर्प! दिखाई दिये कुछ पक्षी... और पत्थरों के ढेर। खंडहर में से आ रही थी तीव्र दुर्गंध।

वहाँ से आगे बढ़ गया। कुछ कदम ही आगे बढ़ा और मेरे सामने एक नवयौवना स्त्री दिखाई दी। मेरे चर्मचक्षु ने उस रूपवती नारी में यौवन देखा, लावण्य देखा... उन्मत्तता देखी और कमनीयता देखी। मेरे देह में कम्पन हुआ... मेरे मन में स्पन्दन पैदा हुए। संयोग की कल्पनाएँ उभरने लगी... परन्तु शीघ्र ही मेरे अन्तःचक्षु ने उस नारी में, नारीदेह में कुछ अजीब-सा परिवर्तन देख लिया। उस देह में यौवन नहीं था, वृद्धत्व था! लावण्य नहीं था, कुरुपता थी! उन्मत्तता नहीं थी, विवशता थी... दुर्बलता थी। कमनीयता नहीं थी, जुगुप्सा थी। खूब डरावनी थी वह देहाकृति। न रहा राग, न रहा आकर्षण, न रही संयोग की कोई कल्पना, मैं चल दिया वहाँ से...।

आगे-आगे चलता रहा। नगर से बाहर निकल गया था। चलते-चलते एक भूमिगृह के द्वार पर जा पहुँचा। 'क्या होगा इस भूमिगृह में?' जिज्ञासा जगी और भूमिगृह के सोपान उतरने लगा। पता नहीं कितने सोपान थे, परन्तु भीतर अन्धकार था, दुर्गंध थी और डरावना प्रदेश था। मैंने नासिका पर वस्त्र बाँध लिया और आगे बढ़ता गया। एक दीवार के सामने जा पहुँचा। दीवार पर दोनों हाथ फेरता हुआ दरवाजा खोजने लगा। भाग्य से दरवाजा मिल गया...! दरवाजा खोलकर भीतर गया... और मेरी आँखों ने क्या अद्भुत दृश्य देखा! रत्नों के प्रकाश में भव्य... विशाल खजाना देखा। अमूल्य खजाना था वह। मेरी आँखें चकाचौंध हो गई थीं। भूगर्भ में ऐसा खजाना पाकर दिमाग पागल-सा हो रहा था...। और... उसी समय कोई 'करन्ट' सा लगा... आँखें बन्द हो

यही है जिंदगी

११७

गई... मन मूर्च्छित-सा हो गया। एक भयानक स्वप्न ने मुझे घेर लिया...। जहाँ मैंने खजाना देखा था वहाँ काले पत्थरों का ढेर ही था और उन पत्थरों के इर्दगिर्द डरावने भूत नाच रहे थे। मेरे चारों ओर भयानक सर्पों के फूँकार हो रहे थे। भूतों के अट्टहास्य सुनकर मेरी काया पसीने से स्नान कर रही थी। मैं शीघ्र ही वहाँ से भागा...। एक साथ तीन-तीन सोपान चढ़ता हुआ भूमिगृह से बाहर निकल आया...।

पास में ही एक सरिता बह रही थी। पूर्व दिशा ने लाल चूनरी ओढ़ ली थी। आकाश के झरोखें में विहंगमों ने नौबत-शहनाई बजानी शुरू कर दी थी। मेरे श्वासोच्छ्वास की तीव्र गति अब कुछ मन्द हो रही थी। सरिता के तट पर जा पहुँचा, एक पाषाण-चट्टान पर जा बैठा। मैं अकेला ही था, निःसर्ग की गोद में था। मन में प्रश्न थे।

‘मैंने जो कुछ देखा - क्या वह सही था या मिथ्या था? कौन वास्तविक था? मेरे चर्मचक्षु का दर्शन वास्तविक था या मेरे अन्तःचक्षु का दर्शन वास्तविक था? क्या सत्य था, क्या मिथ्या था?’

‘राग और द्वेष से आवृत चर्मचक्षु से क्या सम्यग्दर्शन हो सकता है? देखने का, दर्शन करने का उपकरण ही अशुद्ध हो, तो क्या शुद्ध का दर्शन हो सकता है? देखने का उपकरण ही मिथ्या हो, तो क्या सत्य का दर्शन हो सकता है?’

कैसी गंभीर भूल कर रहा हूँ जीवन में? बाह्य इन्द्रियाँ, जो कि राग-द्वेष से आवृत हैं, उन पर भरोसा करके, इन्द्रिय-प्रत्यक्ष ज्ञान को सही मान रहा हूँ! वास्तविक मान रहा हूँ! जो वास्तविक है उसको अवास्तविक मान रहा हूँ, अवास्तविक को वास्तविक मान रहा हूँ! काल्पनिक को सत्य मान रहा हूँ और सत्य को काल्पनिक!

आज मेरी अंतर्यात्रा दिलचस्प रही! मेरे अन्तःचक्षु ने गृह, स्त्री और संपत्ति की वास्तविकता का दर्शन करवाया। एक दिव्य ध्वनि सुनायी दी : ‘पदार्थ के पर्याय देखकर ही मत रुक जाओ, मूलभूत द्रव्यों को भी देखो! पर्यायों की परिवर्तनशीलता को देखो! परम सुख पाओगे!’



५९. भक्ति की शक्ति

परमात्मभक्ति का महोत्सव था। सुन्दर मंडप बनाया गया था। रजत के सिंहासन पर वीतराग परमात्मा की नयनरम्य मूर्ति स्थापित की गई थी। घी के दीपक जल रहे थे और सुगंधित धूप की सुगंध फैल रही थी। संगीतकारों की मंडली प्रभुभक्ति के गीत गा रही थी। अनेक स्त्री-पुरुष शांति से गीत सुन रहे थे। वातावरण में भक्ति की सुगंध थी। वहाँ श्रद्धा थी, विश्वास था।

मैं भी वहाँ उपस्थित था। मेरा मन परमात्मा की 'अनंत शक्ति' के विषय में सोच रहा था। 'अंतराय कर्म' के क्षय से आत्मा में अनंत शक्ति का आविर्भाव होता है, ऐसा धर्मग्रन्थों में मैंने पढ़ा है। मेरे मन में प्रश्न था - 'परमात्मा की अनंत शक्ति का उपयोग क्या? शारीरिक शक्ति का उपयोग, अर्थशक्ति का उपयोग, अणुशक्ति का उपयोग... और दूसरी अनेक शक्तियों का उपयोग तो मेरे ख्याल में है, यानी मैं उन शक्तियों का उपयोग तो जानता हूँ, परन्तु आत्मशक्ति का उपयोग क्या? परमात्मा की अनंत शक्ति का उपयोग क्या?

दुनिया में अनंत दुःख हैं, अनंत वेदनाएँ हैं, क्यों परमात्मा की अनंत शक्ति इन अनंत दुःखों को नहीं मिटाती? क्या वह शक्ति दुःखनाश नहीं कर सकती है?

दुनिया में अनंत पाप हैं! अनंत दोष हैं... क्या परमात्मा की अनंत शक्ति इन अनंत पापों का नाश नहीं कर सकती? पापनाश करने की क्षमता क्या परमात्म-शक्ति में नहीं है?

दुःखनाश करने की और पापनाश करने की शक्ति होनी चाहिए परमात्मा में, क्योंकि एक सूत्र में परमात्मा से माँगा गया है :

दुःख-खओ कम्म-खओ, समाहिरणं च बोधिलाभो अ।

संपज्जउ मह एअं तुह नाह! पणाम करणेणं...।।

'हे नाथ! तुझे प्रणाम करने से मुझे दुःखक्षय, कर्मक्षय, समाधि-मृत्यु और बोधिलाभ की संप्राप्ति हो!'

यदि दुःखनाश करने की, कर्मनाश करने की, समाधि-मृत्यु देने की और बोधिलाभ देने की परमात्मा में शक्ति नहीं होती, तो यह सब माँगने की बात महर्षि नहीं करते!

यही है जिंदगी

११९

उन महर्षि ने अपने दिव्य ज्ञान में, अपने अनुभव-ज्ञान में परमात्म-शक्ति का परिचय प्राप्त किया होगा, परन्तु मेरे पास तो नहीं है वैसा दिव्य ज्ञान, नहीं है अनुभव-ज्ञान... तो मैं परमात्म-शक्ति का परिचय कैसे प्राप्त करूँ? मेरे जैसे दूसरे असंख्य जीव भी कैसे परिचय प्राप्त कर सकते हैं? ऐसा दिव्य ज्ञान भी परमात्म-शक्ति से मिल जाना चाहिए। जब बोधिलाभ और समाधि-मृत्यु परमात्मा दे सकते हैं, तो दिव्य दृष्टि भी वे ही दे सकते हैं! रही बात हार्दिक प्रणाम करने की, प्रतिदिन वैसा प्रणाम करता हूँ मैं... फिर भी जब फल प्राप्त नहीं होता है तो निराशा छा जाती है।

यों तो संसार में देखा जाता है कि करुणावंत पुरुष, दुःखी जीवों से प्रणाम की भी अपेक्षा नहीं रखते और दुःख दूर करने का प्रयत्न करते हैं। तो फिर अनंत करुणा के सागर परमात्मा दुःखी जीवों के प्रणाम की अपेक्षा क्यों रखें? प्रणाम की अपेक्षा रखे बिना भी जीवों के दुःख दूर कर सकते हैं न? प्रणाम करने वालों के तो दुःख दूर कर ही देने चाहिए न?

परमात्मा के प्रति श्रद्धा है, भक्ति है, बहुमान है... प्रतिदिन उनका नाम-स्मरण करता हूँ, उनकी मूर्ति का दर्शन-वंदन करता हूँ... और उनका ध्यान भी धरता हूँ... फिर भी क्यों दुःखनाश और कर्मनाश नहीं होता? क्यों पापकर्म के उदय सताते रहते हैं? क्यों दुःख के बादल छाये हुए रहते हैं?

हे परमात्मन्, जो तेरे प्रति श्रद्धा नहीं रखते, जो तेरी भक्ति नहीं करते, जो तेरी शरणागति स्वीकार नहीं करते, उनके दुःखों का और कर्मों का नाश तू नहीं करता है, वह तो ठीक है, परन्तु जो तेरी शरण में हैं, जो निशदिन तेरा नाम जपते हैं और अन्तःकरण से तेरे प्रति स्नेह रखते हैं, ऐसे जीवों के तो तू पाप नष्ट कर दे! दुःखनाश कर दे! अन्यथा तेरी अनंत शक्ति पर जीवों का विश्वास कैसे स्थिर रहेगा?’

जब मैं विचार-निद्रा से जगा और परमात्मा की मूर्ति के सामने देखा, मूर्ति मेरे प्रति स्मित बिखेर रही थी!



६०. 'अहं' का वहम छोड़ें

'अहं' को लेकर ही सारी द्विधाएँ उत्पन्न होती रहती हैं! 'अहं' के कितने सारे रूप हैं! 'मैं बलवान, मैं बुद्धिमान, मैं कुलवान, मैं विद्वान, मैं धनवान...' इन कल्पनाओं को, धारणाओं को सुरक्षित रखता हुआ मैं जीवनयात्रा कर रहा हूँ। यात्रा कितनी दुःखपूर्ण, तनावपूर्ण और अशांतिमय हो गई है! क्लेश... विवाद... झगड़े और विसंवादों में कैसा उलझ गया हूँ?

जीवनयात्रा को सुखपूर्ण और शांतिपूर्ण बनाने के लिये मैंने त्याग किया, तप किया, दान दिया और शील का पालन किया, परन्तु फिर भी आन्तर सुख, आन्तर शांति नहीं मिली। कैसे मिल सकती है? हृदय में 'अहं' की कल्पनाएँ सुरक्षित हैं! हाँ, जब उन अहंजन्य कल्पनाओं को पुष्टि मिलती है, कल्पनाएँ साकार बनती हैं... तब आनंद होता है, परन्तु वह आनंद क्षणजीवी होता है, अल्पकालीन होता है। जब 'अहं' को ठेस लगती है, 'अहं' पर आक्रमण होता है तब दुःख और अशांति से तड़पने लगता हूँ।

सुख और दुःख की कल्पनाओं से मन को मुक्त करना चाहता हूँ! इसलिये 'अहं' की कल्पना से मुक्त होना चाहता हूँ।

नाऽहं! नाऽहं! नाऽहं!

मैं नहीं हूँ... मैं नहीं हूँ... मैं नहीं हूँ!

मैं अपने अस्तित्व को ही भूल जाना चाहता हूँ। अस्तित्व के साथ व्यक्तित्व का व्यामोह मेरे मन को घेर लेता है। उच्चतम व्यक्तित्व की कामना मन में उभर आती है। व्यक्तित्व की वासना ज्यों-ज्यों प्रबल बनती जाती है त्यों-त्यों अशांति और अस्थिरता भी प्रबल बनती जाती है। इसलिये 'अहं' को ही मिटाना होगा। किसी भी प्रकार से 'अहं' की वासना से मुक्ति पानी होगी।

मुझे कुछ क्षणों का ऐसा अनुभव भी है कि अहं की विस्मृति में कैसा आनंद मिलता है! कैसी अवर्णनीय अन्तःप्रसन्नता की अनुभूति होती है। हालाँकि वह अनुभूति कुछ क्षणों की ही थी। फिर भी न भूल सकूँ वैसी अनुभूति थी। इसलिये चाहता हूँ कि वैसी अनुभूति का समय बढ़े! जीवनपर्यंत वैसी ही अनुभूति करता रहूँ! मेरे 'अहं' की विस्मृति शीघ्र ही हो... इसके लिये मुझे एक उपाय भी मिल गया है! वह उपाय है परमात्मा की प्रेमपूर्ण स्मृति!

यही है जिंदगी**१२१**

‘अहं’ की वासना ज्यों-ज्यों विलीन होती जायेगी त्यों-त्यों ‘मम’ की वासना भी मंद होती जायेगी। ‘अहं’ के साथ ‘मम’ का गहरा सम्बन्ध है। मैं और मेरा!

यदि मैं ही नहीं हूँ, तो मेरा क्या है? कुछ नहीं! ‘अहं’ को मम होता है। ‘अहं’ नहीं तो ‘मम’ नहीं।

‘नाऽहं! न मम!!’

महामंत्र है यह! मोह के जहर को उतारनेवाला है यह महामंत्र। इस महामंत्र का स्मरण किये बिना, जाप किये बिना मोह का जहर नहीं उतरेगा। तप करने पर, शास्त्र पढ़ने पर और सेवा करने पर भी मोह का जहर नहीं उतरेगा।

‘मेरा कुछ नहीं,’ यह विचार तो मैं कभी-कभी करता था, परन्तु ममत्व से मुक्ति नहीं पा सका। क्योंकि ‘मैं नहीं हूँ,’ यह विचार तो मैंने कभी किया ही नहीं! ‘मैं नहीं हूँ’, इस विचार के बिना ‘मेरा कुछ नहीं है,’ यह विचार कोई निश्चित प्रभाव पैदा ही नहीं कर सकता है। केवल बोलने का ही रह जाता है... ‘मेरा कुछ नहीं है।’

‘मैं नहीं हूँ’ यानी मैं रूपी नहीं हूँ, मैं नामी नहीं हूँ, मैं कुछ भी नहीं हूँ। मेरा कुछ भी नहीं है। आज दिन तक मैंने मोहवश सारी दुनिया को... कि जो मिथ्या है, उसको मेरी माना था... दुनिया के पदार्थों में ममत्व किया था... इससे मैं दुःखी बना, अशान्त बना... भटकता रहा। अपने नाम और रूप को यथार्थ मानता रहा। राग-द्वेष, हर्ष-शोक और खुशी-नाखुशी के द्वन्द्वों में उलझता रहा। भ्रमणाओं में भ्रमित होता रहा।

अब भ्रमणाओं के घनघोर बादल बिखर गये! महामंत्र मिल गया मुझे। मेरे परम प्रियतम परमात्मा ने मुझ पर परम कृपा की!

‘नाऽहं न मम...’

इस महामंत्र की निरन्तर रटना होती रहे मेरे घट-घट में! इस महामंत्र का अविरत गुंजन चलता रहे मेरी आत्मा के असंख्य प्रदेशों में...!



६१. खुदा को खुद ही रूबरू देखना है

उसने खूब आत्मीयता से कहा : आपको शिष्य-साथी बढ़ाने चाहिए, ज्यादा शिष्य होने पर आपका प्रभाव बढ़ेगा... जब आपके पास ऐसे लोग आते हैं... तो आपको इन्कार नहीं करना चाहिए...।

मैं जानता हूँ कि उसका मेरे प्रति स्नेह है, सद्भाव है, इसलिये वह मेरी उन्नति में ही प्रसन्न रहता है, मेरी कीर्ति बढ़े, यश बढ़े... तो वह हर्ष से पुलकित हो जाता है। मैंने उसकी सद्भावना को ठेस न लगे, उसका ख्याल करते हुए कहा :

तेरा यह खयाल सामाजिक दृष्टि से सही है। समाज में यह खयाल व्यापक है कि जिस गुरु के ज्यादा शिष्य, वे गुरु बड़े! जिस गुरु के ज्यादा अनुयायी, वे गुरु महान! परन्तु, तुझे केवल सामाजिक दृष्टि से नहीं सोचना चाहिए, आध्यात्मिक दृष्टि से भी थोड़ा सोचना चाहिए। आध्यात्मिक दृष्टि से तू सोचेगा तो तुझे सामाजिक खयाल गलत लगेंगे।

पर द्रव्यों से, पर द्रव्यों के संयोग से प्राप्त पूर्णता वास्तव में पूर्णता नहीं होती है, वह पूर्णता अपूर्णता की ओर ले जाने वाली एक भ्रमणा ही होती है। मेरे अधिक शिष्य होंगे तो संघ-समाज में मैं ज्यादा सम्मान्य बनूँगा! मेरा प्रभाव बढ़ेगा...। यह विचार कितना भयावह है?

उसने कहा : ऐसे विचार तो नहीं होने चाहिए, परन्तु 'मैं अधिक से अधिक मनुष्यों का मोक्षमार्ग में सहायक बनूँ, उनके आत्मविकास में सहयोगी, आलंबन बनूँ...' ऐसे विचार से तो शिष्य बनाये जा सकते हैं न?

मैंने कहा : 'किसको मोक्षमार्ग पर चलना है? किसको मोक्षमार्ग पर चलने के लिये मार्गदर्शन चाहिए? किसको आत्मविकास करना है? कहाँ है श्रद्धा? कहाँ है शरणागति और कहाँ है समर्पण? शिष्य वह मनुष्य ही बन सकता है कि जिसमें गुरु के प्रति अपूर्व श्रद्धा हो! संपूर्ण शरणागति हो और निष्काम समर्पणभाव हो। क्या ये बातें आज के स्वार्थी, सुखशील और दंभी मनुष्य में संभव है? त्याग और वैराग्य की बातें बड़ी लुभावनी हैं। हाँ, स्वार्थी मनुष्य त्याग और वैराग्य का दिखावा कर सकता है... वह ही दंभ है।

दुःखों से पीड़ित होकर जो साधु बनते हैं, वे साधु बनकर भौतिक-शारीरिक सुख खोजते रहते हैं और जो सुखों का त्याग करके साधु बनते हैं,

यही है जिंदगी**१२३**

वे ज्यादातर अहंकार और तिरस्कार के गुलाम बन जाते हैं। 'मैं लाखों रुपये छोड़कर साधु बना हूँ इसलिये दूसरे साधुओं की अपेक्षा मैं V.I.P. हूँ! मैं विशेष महत्त्व रखता हूँ!' फिर वोही मानपान और खानपान के चक्कर चलने लगते हैं।

विरत होना सरल है, विरक्त होना बहुत विकट है। इसलिये तो भगवान उमास्वाती ने कहा है :

‘तत्राप्य विरतिरन्तं विरागमार्गविजयो दुरधिगम्यः।’

साधु बन जाना सरल है, परन्तु वैराग्य को स्थिर रखना बहुत ही मुश्किल काम है। वैराग्य यानी शम! वैराग्य यानी प्रशम! वैराग्य यानी उपशम! कहाँ खोजने जाऊँ इन शम-प्रशम और उपशम को? चारों ओर अशांति, उद्वेग और आक्रोश की अग्नि-लपटें दिखायी दे रही हैं, ईर्ष्या, स्पर्धा और विद्वेष का असाध्य व्याधि फैल गया है। सर्वविरतिमय साधुजीवन देना सरल है, परन्तु उस साधुजीवन को शांति, समता और विरक्ति के भावों से हराभरा बनाना अति-अति दुष्कर कार्य है।

सर्वविरतिमय साधुजीवन स्वीकारने पर भी इन्द्रियों का संयम, कषायों का उपशमन, गारवों का शमन, परिषहों पर विजय... आदि के लिये पुरुषार्थ करना होता है। कौन चाहता है यह पुरुषार्थ? ऐसा पुरुषार्थ? ऐसा पुरुषार्थ करने के लिये जो निर्दभ हृदय से तत्पर हों, वैसे व्यक्ति को सहयोग देने के लिये मैं सर्वदा तैयार हूँ। मार्गदर्शन देने के लिये तैयार हूँ... परन्तु वैसा पुरुषार्थ करने के लिये सानुकूल वातावरण भी चाहिए न? कहाँ मिलेगा वैसा वातावरण?

इसलिये, शिष्य-भक्त और अनुयायी की फिकर छोड़ कर मेरी तो एक ही तमन्ना है : I want to see God face to face! महर्षि अरविन्द की यह भावना मेरी तमन्ना बन गई है! मुझे परमात्मा की नजर से अपनी नजर मिलानी है!



६२. लगाव नहीं अलगाव रखें

जब मनचाही दो-चार अनुकूलताएँ मिल गई, तब मैंने मान लिया कि ये अनुकूलताएँ सदैव बनी रहेंगी! चार-पाँच वर्ष तक वे अनुकूलताएँ वैसी की वैसी बनी रही, मेरा विश्वास दृढ़ हो गया। चार-पाँच वर्ष में उन वस्तुओं से और व्यक्तियों से लगाव हो गया, आन्तर स्नेह बंध गया... और एक दिन मेरी धारणाएँ गलत सिद्ध हो गईं! मेरा विश्वास गलत सिद्ध हो गया...। अपनेपन के मेरे खयाल गलत सिद्ध हुए।

मैंने अपने भीतर को टटोला! मेरी आत्मभूमि पर बहता था जो वैराग्य का झरना, मैं उसको खोजने लगा...। खूब-खूब खोजा उस वैराग्य के स्रोत को, परन्तु नहीं मिला...। वह सूख गया था... केवल निशान बचा था। मेरे श्वास रुक गये... आँखें गीली हो गयीं... मैं बैठ गया। 'यह क्या हो गया? वैराग्य का स्रोत सूख गया? अब मैं कहाँ जाकर स्नान करूँगा? कहाँ जाकर शीतलता प्राप्त करूँगा? किस जगह जाकर अपना खेद-उद्वेग दूर करूँगा?'

हालाँकि यह मेरी ही भूल का परिणाम था। पाँच-पाँच वर्ष तक मैंने आत्मभूमि की ओर देखा ही नहीं था... वैराग्य के झरने की खबर भी नहीं ली थी... उसमें स्नान भी नहीं किया था। मैं राग और रागी के विश्वास में बहता रहा था। स्नेह और प्यार का विषप्रयोग कर रहा था।

और जिस हृदयगिरि से वैराग्य का प्रवाह निकला था... वह हृदयगिरि ही जड़-सा बन गया था... अत्यंत घनीभूत बन गया था। हृदयगिरि द्रवित हो... तभी पुनः वैराग्य का प्रवाह निकल सकता था।

सही बात थी, पाँच-पाँच साल से हृदय को द्रवित करने वाली कोई घटना ही नहीं घटी थी न! हाँ, जब वैसी कोई अनहोनी दुःखदायी घटना बनती है... तब तो हृदय द्रवित होता है! एक बार द्रवित होने के बाद, दुःखपूर्ण संसार का दर्शन-चिन्तन भी उस विरक्ति के प्रवाह को प्रवाहित बनाये रखता है।

हृदयगिरि को द्रवीभूत करने वाली दुर्घटना बन ही गई...! आज नहीं तो कल, दुर्घटना बनने वाली ही थी... इस बात का कोई अफसोस नहीं है...! अन्तःचक्षु खोलने वाली दुर्घटनाएँ होती रहें... तो मैं ज्यादा प्रसन्न बँूँगा... मुझे ज्यादा खुशी होगी।

यही है जिदगी

१२५

एक बात का अब निर्णय हो ही गया है... हृदय में वैराग्य का झरना बहता ही रहना चाहिए। विरक्ति का शुभतम भाव अखंड रहना चाहिए।

केवल साधुजीवन में ही नहीं, गृहस्थ जीवन में भी वैराग्यभाव उतना ही उपयोगी और उपकारक सिद्ध होता है। जब तक द्वन्द्वों में जीना है, विसंवादों में जीना है... तब तक वैराग्यभाव सिर्फ आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य रूप से होना चाहिए।

भीतर को राग से अलिप्त रखना ही तो वैराग्य है।

भीतर को द्वेष से निर्लेप रखना ही तो विरक्ति है।

बाहर की दुनिया में तो राग-द्वेष होने वाले ही हैं। भीतर तक वे नहीं पहुँचने चाहिए। भीतर को छूने नहीं चाहिए। हृदय 'राग-प्रूफ' बन जाना चाहिए। हालाँकि, बाह्य जीवन और आन्तर जीवन में भेद तो आ ही गया है। आना भी चाहिए था! बाह्य दुनिया जिस प्रकार के व्यवहारों की अपेक्षा रखती है, भीतर में उन व्यवहारों का कोई भी महत्त्व नहीं है। भीतर में जो बातें सोच-समझ कर रखने की, उन बातों का बाह्य दुनिया में कोई मूल्यांकन नहीं है, कोई महत्त्व नहीं है।

भीतर की... वैराग्य-प्लावित बातें, इस दुनिया को कहने लायक भी तो नहीं है! मुझे भी नहीं कहना है! कहना तो केवल इतना ही है कि भीतर की शांति, आन्तर-प्रसन्नता और आत्मानन्द का अनुभव करते रहने के लिये वैराग्य-भाव ही एक सही मार्ग है।

सही रास्ता, सरल न भी हो, विकट हो सकता है... परन्तु उस रास्ते पर चलने में एक प्रकार का मजा है! कांटों पर चलने में वैसा मजा कभी अनुभव किया है! वह भी एक मजा है! तभी तो भगवान उमास्वातीजी ने 'प्रशमरति' में कहा है :

**‘दृढतामुपैति वैराग्य भावना, येन येन भावेन ।
तस्मिन् तस्मिन् कार्यः कायमनोवाग्भिरभ्यासः ।।’**

मन-वचन और काया से वैसा प्रयत्न करो कि वैराग्य भावना बलवती बन जाए! वैराग्य का स्रोत तब तक बहता चले... जब तक वीतरागता के सागर में न मिल जाए!



६३. सपने देखो... मगर सच्चे-सच्चे

उसके मुख पर उदासी फैली हुई थी।

यू तो मकान के पास खड़ा बबूल का पेड़ भी उदास था और उस पेड़ के नीचे बैठा हुआ भिखारी भी उदास दिखता था। मध्याह्नकालीन उदासी पूरी गली में छाई थी। कहीं से भी हँसने की आवाज नहीं आ रही थी... कोई भी व्यक्ति हँसता हुआ नहीं दिखायी दे रहा था।

उसने उदास स्वर में पूछा : 'मेरा मोक्ष कब होगा?'

उसके प्रश्न का उत्तर मुझे नहीं देना था। मेरे पास कहाँ वैसा विशिष्ट ज्ञान था कि मैं उसका भविष्य बता सकूँ? वास्तव में उसको भी 'मोक्ष' पाने की इच्छा होगी या नहीं, मैं नहीं जानता, परन्तु दुःखों से छुटकारा पाने की, अशांति और संताप से छुटकारा पाने की इच्छा तो थी ही, यह मैं जानता हूँ। परन्तु उसका प्रश्न सुनकर मेरा मन भी कुछ उदास हो गया! मनुष्य जब किसी गहरे विचार में खो जाता है तब क्या उसके मुँह पर उदासी दिखायी देती होगी? क्या गंभीरता को लोग उदासी मान लेते होंगे?

उसका प्रश्न मेरे चिन्तन का विषय बन गया!

'क्या मुझे मोक्ष चाहिए?' मैंने स्वयं को प्रश्न किया।

'मैं ही खो गया हूँ फिर मोक्ष किसको चाहिए?' प्रश्न का जवाब प्रश्न में था। जब तक 'मैं और मेरा' से मेरी मुक्ति नहीं होगी तब तक मोक्ष की तलाश वृथा है। 'अहं' से मुक्ति और 'मम' से मुक्ति वर्तमान जीवन का 'मोक्ष' बन सकता है। इस मोक्ष को पाये बिना वह 'मोक्ष' - सर्व कर्मों के क्षय से प्राप्त होने वाला मोक्ष नहीं पाया जा सकता है।

मैं और मेरा-की कल्पना से असंख्य इच्छाएँ पैदा होती रहती हैं और वे इच्छाएँ ही दुःखी करती हैं, अशान्त करती हैं! इच्छाओं से मुक्त नहीं होना है और शांति की तलाश है! कैसा विसंवाद चल रहा है जीवन में?

शांति की तलाश... तलाश ही बनी रहेगी क्या? अशांति ही जीवन का पर्याय बनी रहेगी क्या?

वह मेरे सामने ही बैठा था... मैंने उसके सामने देखा... मेरे मुँह से शब्द निकले : 'जब तू इच्छाओं से संपूर्ण मुक्त होगा तब तेरा मोक्ष होगा। जब मैं इच्छाओं से मुक्त बनूँगा तब मेरा मोक्ष होगा। इच्छाओं से तब मुक्ति मिलेगी, जब हम 'मैं और मेरा' - की कल्पना से मुक्त होंगे।'

यही है जिंदगी

१२७

उसकी उदासी चली गई... उसकी आँखों में नयी रोशनी आयी और वह बोला : 'सच बात है, सच बात है...।'

स्वप्न!

निद्रा के स्वप्न और जागृति के स्वप्न!

निद्रा के स्वप्न पर अपना अधिकार नहीं होता, जागृति के स्वप्न पर अपना अधिकार होता है।

भविष्य के सुहाने स्वप्न देखने की क्या मनुष्य को आदत होती है?

भविष्य के दुःस्वप्न देखने की भी मनुष्य की क्या सहजवृत्ति होती है?

भविष्य की कोई न कोई कल्पना! किसी कल्पना से भय... अव्यक्त भय लगता है, किसी कल्पना से अव्यक्त खुशी की अनुभूति होती है। जब अनुकूल परिस्थिति आती है, तब स्वर्ग की कल्पनाएँ... स्वर्ग के स्वप्न देखता हूँ। जब प्रतिकूलताएँ घेर लेती हैं तब नर्क के स्वप्न उभरने लगते हैं।

स्वप्न का स्वर्ग जब दूर-दूर जाता है, स्वर्ग की जगह उज्जड़... बीहड़ जंगल दिखायी देता है, तब मनुष्य निराश, उदास और भग्नहृदय हो जाता है। फिर भी स्वप्न देखने की आदत से मुक्ति नहीं पाता है।

कभी कोई स्वप्न साकार बनता है... स्वप्न देखने की आदत बलवती बन जाती है। देखता जाता है स्वप्न। गाता जाता है निष्फलता के करुण गीत और जिंदगी का जीर्ण जनाजा उठाकर चला जाता है परलोक की यात्रा पर...।

जिंदगी का स्वप्न पूरा हो जाता है।

स्वप्न देखने का काम पूरा नहीं होता।

जागृति में स्वप्न देखने की आदत से मुक्त होना, वर्तमान को सुखमय बनाने का उत्तम उपाय है। मन की आदत से छूटना सरल तो नहीं है। स्वप्न देखता है मन। स्वप्नों को छोड़कर वास्तविकता की भूमि पर टिकना मन के लिये मुश्किल तो होगा, परन्तु सुखप्रद-आनंदप्रद भी होगा।

यदि जागृति के स्वप्न को साकार करना है तो दृढ़ मनोबल रखना होगा, संघर्ष के लिये निरन्तर तैयार रहना होगा। निष्फलता में निराश नहीं होना होगा। सफलता नहीं मिले वहाँ तक पुरुषार्थ करते रहना होगा।

दो मार्ग है।

स्वप्न देखो मत, अथवा स्वप्न को साकार बनाने का भरसक प्रयत्न... निरन्तर संघर्ष करते रहो।



६४. रूप-अनुरूप की धूप

एक भव्य चित्र-प्रदर्शनी थी।

प्रदर्शनी देखने हजारों लोग आए थे। प्रदर्शनी में लगे हुए चित्र बिकते थे। एक ग्राम्य प्रदेश का चित्र था, उसमें एक ग्राम्य गरीब महिला का आकर्षक चित्र था। बहुत ही सुन्दर चित्र था। एक श्रीमन्त ने ५० हजार रुपये में वह चित्र खरीदा और प्रदर्शनी के बाहर निकला।

प्रदर्शनी के द्वार पर एक स्त्री खड़ी-खड़ी भिक्षा माँग रही थी। उसने उस श्रीमन्त से पाँच पैसे माँगे... श्रीमन्त गुस्सा हो गया और उसका तिरस्कार करता हुआ निकल गया। उसके हाथ में चित्र था... उस स्त्री ने उस चित्र को देखा, वह उसी का चित्र था!

बिम्ब की उपेक्षा हुई थी, प्रतिबिंब का मूल्य हुआ था!

संसार में ऐसा ही हो रहा है न? आत्मा की ही उपेक्षा हो रही है, चेतना की ही उपेक्षा हो रही है और उसके प्रतिबिंबों का मूल्यांकन हो रहा है! प्रतिबिंबों के मूल्यांकनों में झगड़े हो रहे हैं, प्रतिबिंबों से राग-द्वेष हो रहे हैं...।

आत्मद्रव्य की सिद्धि के लिये हजारों ग्रन्थ लिखे गये, लाखों तर्क किये गये, परन्तु आत्मद्रव्य की सरासर उपेक्षा की गई। तर्कों से आत्मद्रव्य की सिद्धि करके, नास्तिक पर विजय प्राप्त करके, विजयोन्मत्त विद्वान् आत्मा की ही उपेक्षा कर रहा है!

आत्मद्रव्य के अस्तित्व की सिद्धि किसलिये? दूसरों पर विजय पाने के लिये या अपने पर विजय पाने के लिये? आत्मस्वरूप का निर्णय किसलिये? वह स्वरूप प्राप्त करने के लिये या अपनी तर्कशक्ति का अभिमान पुष्ट करने के लिये? तर्कसिद्ध आत्मस्वरूप का ज्ञान क्या केवल बुद्धि की संतुष्टि के लिये है?

कुछ ऐसा ही हो रहा है जीवनयात्रा में। जीवनयात्रा हो रही है, अंतर्यात्रा का प्रारम्भ ही नहीं हुआ है। अनेक शास्त्र पढ़े, अनेक तर्क किये... और आत्मा का अस्तित्व सिद्ध किया। आत्मस्वरूप का निर्णय भी किया... परन्तु दूसरों को समझाने के लिये! आत्मा के विशुद्ध स्वरूप से प्यार नहीं किया। आत्मा के प्रतिबिंबों से ही प्यार और नफरत करता रहा। आत्मविषयक शास्त्रज्ञान प्राप्त किया, परन्तु आत्मानुभूति का आनंद प्राप्त नहीं किया।

आत्मानुभूति होती है ध्यान में! विषय-कषाय जब उपशान्त हों तभी ध्यान में स्थैर्य प्राप्त होता है। प्रतिबिंबों के खेल में विषय-कषाय उपशान्त नहीं होते, प्रदीप्त होते हैं। कब यह खेल समाप्त होगा? कब आत्मानुभूति की अंतर्यात्रा प्रारम्भ होगी?

यही है जिंदगी

१२९

महर्षि पिप्पलाद ने अपनी माता सुवर्मा से सुना कि उसके पिता महर्षि दधीचि ने, देवराज इन्द्र और अन्य देवताओं की प्रार्थना स्वीकार कर, अपने देह का त्याग कर दिया था! दधीचि की अस्थियों को लेकर विश्वकर्मा ने वज्र बनाया और उस वज्र से इन्द्र ने असुरों का संहार किया एवं स्वर्ग पर अपना अधिकार पुनः प्राप्त कर लिया। यह वृत्तांत जानकर महर्षि पिप्पलाद का मन देवों के प्रति घृणा से भर गया। उन्होंने संकल्प किया कि तप के द्वारा भगवान आशुतोष को प्रसन्न कर मैं उनसे देवताओं को नष्ट करने का वरदान माँगूँगा।

पिप्पलाद ने गोमती नदी के तट पर तपश्चर्या आरम्भ कर दी। तपश्चर्या से महर्षि का शरीर तृण जैसा कृश हो गया। भगवान आशुतोष प्रसन्न हुए, प्रकट हुए और बोले : 'वत्स! तुम्हारी तपश्चर्या से मैं प्रसन्न हुआ हूँ, वर माँगो!'

पिप्पलाद ने कहा : 'यदि आप मुझ पर प्रसन्न हुए हैं तो अपना रुद्र स्वरूप धारण कर, समस्त देवगणों को नष्ट कर डालिए।'

भगवान ने कहा : 'वत्स, मेरा रुद्र स्वरूप केवल देवताओं को ही भस्म नहीं करेगा, उससे सारा जगत नष्ट हो जायेगा। तुम पुनः सोचो।'

पिप्पलाद ने भगवान के रुद्र स्वरूप के दर्शन किये, पिप्पलाद ने अनुभव किया कि व्यापक विनाश का आह्वान करते ही उनका स्वयं का रोम-रोम जला जा रहा है! उनको लगा कि कुछ ही क्षणों में वे चेतनाहीन हो जायेंगे...।

पिप्पलाद ने आर्तनाद किया और आँखें खोल दीं। भगवान का सौम्य स्वरूप उनके सामने आया...। पिप्पलाद ने पूछा : 'यह क्या भगवन्, यहाँ तो मैं स्वयं ही दग्ध हो रहा हूँ...।' भगवान ने कहा : 'वत्स, सारा संसार नष्ट होगा तो तुम कैसे बच सकोगे? बेटा, इसे समझो, किसी का भी अमंगल चाहने पर स्वयं पहले अपना अमंगल होता है।'

बस, पिप्पलाद की अंतर्यात्रा प्रारम्भ हो गई। पिता के प्रतिबिंब को लेकर उनके मन में रोष... घृणा और वैराग्नि प्रदीप्त हुई थी, बिंब का अनुभव होते ही, महर्षि दधीचि की शाश्वत आत्मा का बोध होते ही, वह वैराग्नि शान्त हो गई। कषाय का दावानल बुझ गया। विनाश की कल्पना विनष्ट हो गई, विश्वमंगल की शुभकामना प्रकट हुई।

विशुद्ध आत्मस्वरूप की अनुभूति के लिये उन्होंने तपश्चर्या और ध्यान का मार्ग लिया। प्रतिबिम्बों के मोह को जलाया तपश्चर्या से और आत्मानुभूति का आनंद पाया ध्यान से।

बिम्ब की उपेक्षा न हो, प्रतिबिम्बों का व्यामोह न हो!

६५. दाँव पर सब कुछ लगा दो

कुछ पाना! कुछ छोड़ना!

मनुष्य कुछ छोड़ता जाता है, कुछ पाने के लिये!

जो पाता है, एक दिन उसको छोड़ता है! मानव-मन की एक आदत हो गई है - कुछ पाना, कुछ छोड़ना! जीवन यानी पाना और छोड़ना! अनंत इच्छाओं का केन्द्र बना है, पाना और छोड़ना। असंख्य प्रवृत्तियों का केन्द्र बना है पाना और छोड़ना! अंत ही नहीं है इस चक्र का।

एक दिन जिसको पाना चाहता था आज उसको ही छोड़ना चाहता हूँ! एक दिन जिसको छोड़ना चाहता था आज उसको पाना चाहता हूँ। कैसा है मन?

'कोलरेडो' में जब सबसे पहली दफा सोने की खदानें मिली तो सारा अमरीका दौड़ पड़ा था कोलरेडो की तरफ। लोगों ने कोलरेडो में जमीन खरीद ली। एक करोड़पति ने अपनी सारी संपत्ति लगाकर पूरी पहाड़ी ही खरीद ली। बड़े-बड़े यंत्र लगाये। छोटे-छोटे लोग छोटे-छोटे खेतों में सोना खोज रहे थे, यह बड़ा आदमी था, बड़ी मशीनें लगाकर सोना खोज रहा था! बड़ी खुदाई की, परन्तु सोने का कोई पता नहीं लगा। लोगों में घबराहट फैलनी शुरू हो गई। उस करोड़पति ने सारी संपत्ति लगा दी थी न! वह बहुत घबरा गया। अपने स्नेही-स्वजनों से कहने लगा : 'हम तो मर गये।' जब पहाड़ी ली थी तब बोला था : 'हम तो मालामाल हो गये!' आज जब सोना नहीं मिल रहा है तब बोलता है : 'हम तो मर गये!'

उसने विज्ञापन दिया कि 'मैं पूरी पहाड़ी बेचना चाहता हूँ, खुदाई का सारा सामान साथ होगा।' घर के लोगों ने कहा : 'कौन खरीदेगा? सब लोग जब जान गये हैं कि पहाड़ खाली है, उसमें सोना नहीं है! उसमें लाखों रुपये खराब हो गये हैं, अब कौन पागल होगा जो इसको खरीदने आएगा?'

परन्तु एक पागल मिल गया खरीदने वाला! बेचने वाले को मन में हुआ कि उसको कह दें कि 'पागलपन मत करो, क्योंकि मैं मर गया हूँ।' परन्तु उसको तो अब छोड़ना था... पहाड़ बेचना ही था... क्यों कहे ऐसा? उसने बेच दिया। बेचने के बाद कहा : 'आप भी अजीब पागल मालूम होते हो!' उस आदमी ने कहा : 'जिन्दगी का कोई भरोसा नहीं है, जहाँ तक तुमने खोदा, वहाँ तक सोना न हो! लेकिन आगे हो सकता है! और जहाँ तुमने नहीं खोदा है वहाँ पर

यही है जिंदगी**१३१**

सोना नहीं होगा, यह तो तुम नहीं कह सकते!' उसने कहा : 'हाँ, यह तो मैं नहीं कह सकता।'

आश्चर्य! बहुत बड़ा आश्चर्य! होता है ऐसा संसार में। पहले दिन ही एक फूट की गहराई में, सोने की खदान शुरू हो गई! वह आदमी जिसने पहले खरीदी थी पहाड़ी, छाती पीटकर पहले भी रोता था और बाद में तो और भी ज्यादा छाती पीटकर रोने लगा! उसने पहाड़ी खरीदने वाले को कहा : 'देखो भाग्य का खेल!' उसने कहा : 'भाग्य का नहीं, तुमने दाँव पूरा नहीं लगाया, एक फूट और खोदकर देख लेते...।'

पहले पहाड़ी पाने की तीव्र इच्छा बनी, जब सोना नहीं मिला, पहाड़ी बेचने के लिये बेचैन बना! बेच दी पहाड़ी, फिर जब सोना निकला, तब पुनः उसे पाने की इच्छा...।

पाने और छोड़ने की ही क्या यह जिन्दगी है? पाने में भी राग-द्वेष और छोड़ने में भी राग-द्वेष! राग-द्वेष में से क्लेश... अशांति... संताप...। इस प्रकार अनंत जन्म बीत गये।

कुछ ऐसा पा लूँ... फिर कुछ भी पाने की इच्छा ही नहीं रहे!

एक बार जो छोड़ना पड़े, छोड़ दूँ, पुनः कुछ छोड़ने की इच्छा ही न रहे।

सब कुछ दाँव पर लगा देना होगा। कोई घबराहट नहीं चाहिए, कोई अधीरता नहीं चाहिए। बाहर से बरबाद हो जाना पड़े तो बरबाद होना मुझे स्वीकृत है, परन्तु मेरा भीतर का आनंद बढ़ता ही रहेगा! भीतर का आनंद ही तो मुझे पूर्णानन्द की ओर ले जायेगा। बाहर का सब कुछ खो जाए तो खो जाए, यदि मुझे भीतर का आनंद मिलता है!

रास्ता लम्बा है। मैं जानता हूँ कि इस यात्रा में कइयों ने धीरता गँवायी

है, कई वापस लौटे हैं, कई भयभीत होकर मार्गभ्रष्ट बने हैं। मैं जानता हूँ कइयों को उनके मन ने धोखा दिया है। अंतर्यात्रा में भी कुछ पाने की, कुछ छोड़ने की आदत मन नहीं छोड़ता है! प्रिय-अप्रिय की अनेक कल्पनाओं में मन जब उलझता है, तो पाने का और छोड़ने का खेल शुरू हो जाता है। ज्यों यह खेल शुरू हुआ कि राग-द्वेष... ईर्ष्या... अशांति... संताप वगैरह के आन्तर-द्वन्द्व शुरू हो जाते हैं।

सब कुछ दाँव पर लगा दिया है। मन-वचन और काया सब कुछ दाँव पर लगाकर अंतर्यात्रा पर निकल पड़ा हूँ। हालाँकि अभी बहुत आगे जाना बाकी

यही है जिंदगी**१३२**

है। जिस चरमबिन्दु पर पहुँचना है वहाँ तक अभी नहीं पहुँच पाया हूँ, फिर भी धीरता अक्षत है, अभय अखंड है और उत्साह प्रवाहित है। जिस चरमबिन्दु पर पहुँचना है, वहाँ पहुँचने के बाद 'पाना और छोड़ना...' वाला खेल समाप्त हो जायेगा। कोई इच्छा शेष नहीं रहेगी।

हाँ, उस चरमबिन्दु तक पहुँचने की भी तीव्र इच्छा नहीं करता हूँ। उस दिशा में मेरी सहज गति होती रहे!



६६. करुणाभरी कामना

भगवान नृसिंह ने प्रह्लाद पर प्रसन्न होकर कुछ वरदान माँगने के लिए आग्रह किया तब प्रह्लाद ने पहले तो कहा : 'भगवन्, मेरे मन में कोई कामना ही नहीं पैदा हो, वैसा वरदान दो।

भगवान ने 'एवमस्तु' कह कर आग्रह किया कि 'तू अपने लिए कुछ माँग ले।' प्रह्लाद ने सोचा : 'भगवान इतना आग्रह करते हैं माँगने का, तो अवश्य मेरे मन में कोई कामना होनी चाहिए।' उसने बहुत सोचा, काफी मनोमंथन किया, परन्तु ऐसी कोई कामना नहीं मिल... तब प्रह्लाद ने कहा : 'भगवान, मेरे पिता ने आपकी बहुत निन्दा की है और आस्तिकजनों को बहुत कष्ट दिये हैं। वे अपने जीवन में घोर हिंसक रहे हैं। मैं यही चाहता हूँ कि वे इन पापों से छूटकर पवित्र हो जाएं।'

भगवान ने कहा : 'वत्स, धन्य हो तुम, जिसके मन में यह कामना है कि अपने को कष्ट देने वाले की भी दुर्गति न हो।'

प्रह्लाद की कहानी कहने वाले महर्षि के मन में प्रह्लाद की आन्तर-सम्पत्ति की कैसी भव्य कल्पना होगी!

बाह्य भौतिक सम्पत्ति से दुनिया को खुश कर सकता है मनुष्य, परन्तु परमात्मा को तो आन्तर गुणसम्पत्ति से ही प्रसन्न किये जा सकते हैं। आन्तर गुणसम्पत्ति का एक अनमोल रत्न है : **अपराधी के प्रति भी करुणा!** कष्ट देने वालों के प्रति भी निर्वैरवृत्ति!

कब आएगी ऐसी करुणा?

कब पैदा होगी ऐसी निर्वैरवृत्ति?

मैं जानता हूँ कि 'सम्यग्दर्शन' गुण आत्मा में प्रकट होने की यह एक निशानी है : अपराधी का भी अहित नहीं सोचना, अहित नहीं करना। तो क्या आत्मगुणस्वरूप सम्यग्दर्शन मुझे प्राप्त ही नहीं हुआ है? क्या मैं केवल व्यवहारदृष्टि से ही सम्यग्दर्शन का धारक हूँ? और इस भूमिका पर ही संतोष मानकर बैठा रहा हूँ?

जिस पिता हिरण्यकशिपु ने घोर यातनाएँ दी थी, उनके प्रति कुमार प्रह्लाद निर्वैरवृत्ति और करुणा रख सकते हैं।

जिस रानी अभया ने कुत्सित कलंक लगाया था, उनके प्रति श्रेष्ठि सुदर्शन निर्वैरवृत्ति और अपूर्व करुणा रख सकते हैं।

जिन चोरों ने कसौंड़ों रुपयों की चोरी की थी, उनके प्रति सुव्रत श्रेष्ठि निर्वैरवृत्ति और दिव्य करुणा रख सकते हैं।

जिस चंडकौशिक ने तीव्र विद्वेष से भरकर परमात्मा महावीरदेव को दंश दिया, उसके प्रति भी वे निर्वैरवृत्ति और दिव्य करुणा रख सकते हैं।

तो मैं साधारण अपराध करने वालों के प्रति निर्वैरवृत्ति और करुणा क्यों न रख सकूँ?

कभी एक भूल हो जाया करती है। अपराधी के अपराधों को सुधारने की भावना से मैं स्वयं कोई अपराध कर लेता हूँ। जिनको अपने माने हुए होते हैं, उनके अपराध बर्दास्त नहीं होते। जो कभी बड़ा नुकसान कर बैठते हैं, उनका अपराध सहन नहीं होता। उनको सजा करने का विचार आ जाता है। 'वह दुःख पायेगा तभी सुधरेगा...' ऐसा मिथ्या विचार आ जाता है।

जानता हूँ कि ऐसे विचार, तात्त्विक विचारों के क्षेत्र में प्रवेश नहीं पाते हैं। ऐसे विचार कर्मनिर्जरा के हेतु भी नहीं बन पाते हैं, फिर भी मन की निर्बलता के कारण ऐसे विचार आते रहते हैं और वैचारिक क्षेत्र को कलुषित करते हैं।

हालाँकि, मैंने कुछ प्रसंगों में 'अपराधी के प्रति भी करुणा' के दिव्य विचार किये हैं और उसके बहुत ही मधुर परिणाम प्राप्त किये हैं। जब एक व्यक्ति ने आकर मुझसे कहा : 'आपके वे..., आपका घोर अवर्णवाद करते हैं, आपके विरुद्ध प्रचार करते हैं... आपका चरित्र हनन करते हैं... मैंने शांति से सुना और कहा : 'परमात्मा की कृपा से उनको सद्बुद्धि प्राप्त हो... परनिन्दा के पाप से वे मुक्त हों! मुझे कोई प्रतिवाद नहीं करना है।'

उनकी बात सुनकर जब मेरे साथी रोषयुक्त हो गये थे और प्रतिवाद-प्रतिकार की योजना बनाते थे, तब भी मेरे मन में खूब शांति थी, प्रसन्नता थी। मैंने अपने साथियों से कहा था : 'कोई भी प्रतिकार मत करो। उनकी बुद्धि निर्मल हो, वैसी प्रार्थना करो।'

अपराधी अपने अपराधों से दुःखों को निमन्त्रण देता है। वह जैसे पापकर्म बाँधता है कि जिनके परिणामस्वरूप दुःख ही मिले। अपराधी की भविष्यकालीन दुःखमय अवस्था की कल्पना, उसके प्रति करुणा पैदा करती है।

- मन में से सभी अपराध-भावनाएँ नष्ट हो जाए।
- मन में अपराधी जीवों के प्रति भी दिव्य करुणा बहती रहे।
- सभी जीवों की 'अपराध-भावना' दूर हो!
- सभी जीवों के हृदय में प्रेम और करुणा की गंगा बहती रहे!
- सभी अपराधों को सहजता से सहन करने की क्षमता प्राप्त हो!

६७. अध्यात्म यानी क्या?

‘Spiritualism is useless if not practical, it is practical.’

‘शॉ डेसमन्ड’ की ‘नोबडी हेज एवर डाइड’ किताब में जब ये दो वाक्य पढ़े, मैं उस पर चिन्तनशील बना।

अध्यात्मवाद केवल वाचिक वाद-विवाद तक ही सीमित रखा जाए तो उसका कोई मूल्य नहीं रहता।

जीवन में भौतिकवाद!

वाणी में अध्यात्मवाद!

यह है सबसे बड़ा विसंवाद!

अध्यात्मवादियों के जीवन में ही विसंवाद?

इससे अध्यात्मवाद की प्रतिष्ठा को बहुत बड़ा धक्का लगा है।

‘अध्यात्म’ की परिभाषा करते हुए उपाध्याय श्री यशोविजयजी कहते हैं :

‘आत्मानमधिकृत्य या प्रवर्तते क्रिया... तदध्यात्मम्।’

आत्मा को केन्द्र में रखते हुए जो क्रिया सम्पन्न हो, वह अध्यात्म है।

‘मेरी आत्मा पापकर्मों से लिप्त न हो!’

‘मेरी आत्मा पर लगे हुए कर्मों का नाश हो!’

‘मेरी आत्मा के ज्ञानादि गुणों का आविर्भाव हो!’

यह है अध्यात्मदृष्टि।

इस अध्यात्मदृष्टि से जीवन की एक-एक क्रिया सम्पन्न हो।

आत्मा की अजर-अमर-अक्षय स्थिति का भान सदैव रहे।

भौतिक विश्व के द्वन्द्वों में भी मन स्थिर और स्वस्थ रहे।

स्वभाव दशा की चाह बढ़ती रहे!

विभावदशा की रमणता घटती रहे।

शुभाशुभ कर्मों से उत्पन्न परिस्थितियों में भी मेरा धर्मध्यान अखण्ड रहे।

साधनभूत भौतिक पदार्थों में मेरी आसक्ति कभी बंधे नहीं।

क्षणिक के लिए शाश्वत आत्मा को कभी भूलूँ नहीं।

मेरे समग्र जीवन-व्यवहार में मेरी अध्यात्मदृष्टि प्रतिबिम्बित होती रहे।

मेरे विचार, मेरी वाणी और मेरी काया अध्यात्मरस से निरंतर सिंचित रहे।

यही है जिंदगी**१३६**

अध्यात्मवाद मुझमें निरन्तर आनंद-परमानन्द पैदा करता रहे... और मैं विशुद्ध आत्मा का नैकट्य बनाये रखूँ... यही मेरी कामना हो।

⊙ एक दम्पती ने अपने पुत्र को खो दिया।

पुत्र की मौत हो गई।

ज्यों-ज्यों स्नेही और मित्रों को समाचार मिले त्यों-त्यों मिलने के लिये आने लगे और आश्वासन देने लगे।

पिता ने कहा : हम नहीं मानते कि हमारा पुत्र मर गया है! वह हमसे दूर गया है। उसके समाचार हमें मिलते रहते हैं। हम स्वस्थ हैं।

माता ने कहा : 'पुत्र आखिर तो एक आत्मा है! आत्मा अमर है! हम नहीं मानते कि आत्मा भी मरती है। हमें कोई दुःख नहीं है।'

यह था 'प्रेक्टीकल स्पिरिच्युअलिजन्म' - जीवन में जीवंत अध्यात्म!

⊙ एक महामुनि थे।

कैन्सर ने मुनि के शरीर को घेर लिया।

भक्तों ने कहा : 'ऑपरेशन करवा दें।'

मुनि ने कहा : 'क्यों? कैन्सर शरीर को हुआ है, होने दो। मैं तो सच्चिदानन्द आत्मा हूँ। मैं निरोगी हूँ, मैं अमर हूँ। आप मेरी चिन्ता न करें। मैं आत्मभाव में लीन हूँ। सड़ना और गलना तो शरीर का स्वभाव है।'

मुनि ने स्वभावस्थ दशा में देह का त्याग किया।

यह था भौतिकता पर अध्यात्म का विजय!

⊙ एक सद्गृहस्थ थे।

उनके पास करोड़ों रुपये थे।

एक दिन सारी सम्पत्ति नष्ट हो गई।

स्नेही-स्वजन और मित्र... सब दूर हो गये।

मैंने कहा : 'आप पर बहुत बड़ा दुःख आ गया...।'

उन्होंने कहा : 'नहीं जी, मुझे तनिक भी दुःख नहीं है। मैंने सम्पत्ति के माध्यम से अपने आप को सुखी माना ही नहीं था। मैं जानता था, मानता था कि सम्पत्ति चंचल है, कभी भी जा सकती है। सम्पत्ति चली गई! जो नश्वर था वह नष्ट हो गया! मेरी अपनी आत्मगुणों की सम्पत्ति अविनाशी है और वह आज भी है! मैं प्रसन्न हूँ।

यह था जीवित अध्यात्मवाद! इस अध्यात्मवाद ने मुझे खूब प्रभावित किया।

६८. भीतर का सिंगार करो

अपने विचार अपनी दुनिया बनाते हैं। Our thoughts make our world.
जैसे विचार वैसी दुनिया!

यदि विचार निम्न स्तर के होंगे तो दुनिया निम्न स्तर की बनेगी। यदि विचार उच्च स्तर के होंगे तो दुनिया भी उच्च स्तर की बनेगी। या तो जैसी दुनिया बनानी हो वैसे विचार करते रहो या तो अपने विचारों से जैसी दुनिया बने उसको स्वीकार करो।

अपनी वर्तमान दुनिया अपने ही विचारों से बनी हुई है। वर्तमान के अपने विचार अपनी भविष्य की दुनिया का निर्माण कर रहे हैं।

जैसे बाहर की दुनिया है, वैसे अपने भीतर भी अपनी स्वतन्त्र दुनिया है। परन्तु दुर्भाग्य यह है कि हम बाहर की दुनिया को ही देखते हैं, बाहर की दुनिया को मानते हैं, भीतर की दुनिया का खयाल ही नहीं है। भीतरी दुनिया के विषय में घोर अज्ञान है। विचारों से आन्तर दुनिया तो बनती ही रहती है, चाहे मनुष्य जाने या न जाने।

बाहर की दुनिया अच्छी मिलने पर भी, यदि भीतर की दुनिया निम्न स्तर की होगी तो मनुष्य शांति का, प्रसन्नता का अनुभव नहीं कर सकेगा। बाहर की दुनिया निम्न स्तर की मिलने पर भी, यदि भीतर की दुनिया उच्च स्तर की होगी तो मनुष्य अत्यंत शांति और प्रसन्नता का अनुभव कर सकेगा।

दुनिया की, बाह्य दुनिया की शिकायत मत करो।

भीतर की दुनिया का उच्चस्तरीय निर्माण करने की दिशा में आगे बढ़ो। सारे विचार विधेयात्मक - Positive बनाते चलो। निषेधात्मक विचारों को बदलने का प्रयत्न करो।

बाहर की दुनिया को बदलने का प्रयत्न अभी नहीं करना है। तुम्हारा अस्तित्व और तुम्हारा ही व्यक्तित्व ऐसा बनाते चलो कि स्वतः जिसको अपने आपको बदलना होगा वह बदल जायेगा। अपने समय पर ही जीवात्मा बदलता है।

अपने पवित्र, उदात्त और प्रशान्त विचारों से अपनी आन्तर दुनिया को बदलने का कार्य करते रहो। वर्तमान जीवन और पारलौकिक जीवन - दोनों जीवन आनंदप्रद बन जायेंगे।

यही है जिंदगी

१३८

⊙ एक खूबसूरत युवक है।

उसके पास संपत्ति है, पत्नी है, बच्चे हैं। शरीर निरोगी है। यानी उसकी बाह्य दुनिया सुखप्रद है, परन्तु फिर भी वह दुःखी है। उसके विचारों से मालूम हुआ कि-दूसरों की ज्यादा संपत्ति से उसके मन में ईर्ष्या है।

- दूसरी स्त्री के प्रति उसके मन में प्रेम है।
- अपने बच्चों के प्रति उसको प्रेम नहीं है।
- परमात्मभक्ति नहीं है और सत्समागम नहीं है।

यानी उसके निम्न स्तरीय विचारों से उसकी भीतर की दुनिया दुःखपूर्ण-वेदनापूर्ण बनी हुई है।

दूसरा एक युवक है, माता और पिता का स्वर्गवास हो गया है। नहीं है उसके पास संपत्ति, नहीं है सौन्दर्य। उसकी बाह्य दुनिया दुःखों से भरी हुई है, परन्तु फिर भी उसके मुँह पर सदैव स्मित रहता है, आँखों में चमक दिखती है और बदन में स्फूर्ति ही स्फूर्ति रहती है। उसके विचारों से ज्ञात हुआ कि -

- अपनी मर्यादित आय से वह संतुष्ट है।
- अपने परिवार के प्रति कर्तव्यनिष्ठ है।
- परमात्मशक्ति में वह विश्वास करता है।
- परोपकार के कार्यों में दिलचस्पी रखता है।
- दूसरों के गुण ही देखता है।
- अपनी आवश्यकताएँ मर्यादित रखता है।

यानी उसके उच्चस्तरीय विचारों से उसकी भीतर की दुनिया सुखपूर्ण-आनंदपूर्ण बनी हुई है।

उन्नत विचारों से, पवित्र विचारों से अपनी आन्तर दुनिया को सुन्दर और समृद्ध बनाने का संकल्प कर, हे आत्मन्! उस पुरुषार्थ में लग जा। मानव-जीवन के मूल्यवान समय को सार्थक बनाने का भरसक प्रयत्न कर। 'जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि' इस सत्य को हृदयस्थ करके, दृष्टि को दिव्य बना ले!



६९. झगड़ा देखने का

गंगा जैसी नदी थी।

नदी का पट विशाल था। एक किनारे से दूसरे किनारे पर पहुँचने के लिए नदी में नावें चलती थीं।

गौरांग धनी परिवार का लड़का था, उसकी अपनी नाव थी। अपनी नाव में बैठकर वह दूसरे किनारे जा रहा था। सामने से एक नैया आयी और गौरांग की नाव से टकरा गई। गौरांग आगबबूला हो गया। वह अपनी नाव में खड़ा हो गया और उस नाव में देखने लगा - परन्तु वह नाव खाली थी! उसमें कोई व्यक्ति नहीं था। गौरांग का गुस्सा शान्त हो गया। वह बैठ गया और नाव आगे बढ़ी।

किनारा नजदीक था और एक दूसरी नाव गौरांग की नाव से टकरा गई। गौरांग खड़ा हो गया - रोष और क्रोध से वह कांपने लगा। उसने उस नाव में एक व्यक्ति को देखा और उसके साथ लड़ने को तैयार हो गया। यह है मनुष्य का प्राकृत स्वभाव!

नाव टकराने की घटना दोनों समान थी। एक घटना में क्रोध शान्त हो गया, दूसरी घटना में क्रोध धधक उठा।

क्रोध से बचने का उपाय इसी घटना में से मिल गया। ज्ञानदृष्टि से देखें तो हमें दुःख पहुँचाने वाला कोई जीव है ही नहीं! कोई चेतन द्रव्य हमें दुःखी नहीं करता है। हमें दुःख पहुँचाते हैं, जड़ कर्म! नाव जैसे जड़ होती है वैसे 'कर्म' भी जड़ हैं। जैसे नाव पर गुस्सा नहीं किया जाता वैसे कर्म पर भी गुस्सा करने का अर्थ नहीं होता। 'अपने ही कर्मों से मैं दुःखी हो रहा हूँ।' यह है ज्ञानदृष्टि।

एक दूसरा दृश्य : गौरांग अपने घर पर आया। नौकर दूध का प्याला लेकर आया। गौरांग ने दूध पी लिया। नौकर खाली प्याला लेकर जा रहा था... ठोकर लगी, प्याला हाथ में से गिर गया। प्याला काँच का था, फूट गया। गौरांग का क्रोध नौकर पर बरस पड़ा।

शाम का समय था, गौरांग का तीन साल का छोटा मुन्ना खेल रहा था। बच्चे ने काँच का ग्लास उठाया और जमीन पर पटक दिया... प्याला टूट गया...। गौरांग दौड़ता आया और मुन्ने को उठा लिया, देखता है कि उसके शरीर पर चोट तो नहीं आयी!

नौकर पर गुस्सा आया, मुन्ने पर गुस्सा नहीं आया!

घटना दोनों समान थी - काँच का प्याला टूटने की।

नौकर के प्रति प्रेम नहीं था इसलिए उस पर क्रोध आया। मुन्ने के प्रति प्रेम था इसलिए उस पर गुस्सा नहीं आया।

पूर्णज्ञानी महापुरुषों ने इसीलिए कहा है कि संसार के सभी जीवों को अपना मित्र मानो।

प्रेम के बिना मित्रता नहीं। सभी जीवों के प्रति... उनके शुद्ध चैतन्य के प्रति हमें प्रेम होना चाहिए। शुद्ध चैतन्य को ज्ञानदृष्टि से देखते रहें तो समग्र चेतनसृष्टि के प्रति प्रेम के पुष्प खिलेंगे ही। वह प्रेम दिव्य होगा, वह प्रेम निष्काम होगा, वह प्रेम अद्वितीय होगा। प्रेममूला मैत्री बन जाने पर कभी किसी जीव के प्रति दुर्भाव पैदा नहीं होगा।

हम मैत्री की बातें करते हैं, परन्तु प्रेम नहीं करते।

हम अशुद्ध चैतन्य को ही देखते रहते हैं, फिर मैत्री बनेगी कैसे?

कर्मों से अशुद्ध आत्मस्थिति का दर्शन हमें काम-क्रोध आदि विकारों में फँसाये रखता है।

जिस पर हमारा प्रेम होगा, हम उसके सभी अपराध सहन कर लेंगे। प्रेम हमें सहनशील बनाता है। प्रेम हमें अच्छाइयों का दर्शन कराता है। वह प्रेम होना चाहिए विशुद्ध आत्मस्वरूप से, चैतन्य से।

जड़ पदार्थों के साथ राग करते-करते अनंतकाल निकल गया। आदत हो गई है जड़ से राग करने की! उस आदत से मुक्त होना ही है और उसका उपाय है चैतन्य का प्रेम! चैतन्य का प्रेम बढ़ता जायेगा और जड़ का राग घटता जायेगा।

अन्तःकरण से चाहता हूँ कि अब कभी भी किसी जीवात्मा के प्रति तनिक भी दुर्भाव न आ जाए। सभी जीवों के प्रति मेरी मैत्री अखंड रहे। सदैव मेरे हृदय में जीवहित की भावना प्रवाहित रहे। इसलिए परमात्मा से प्रार्थना करता हूँ कि 'हे करुणासागर! शुद्ध चैतन्य का दर्शन करने की मुझे दिव्यदृष्टि प्रदान करो... प्राप्त दिव्यदृष्टि की आप रक्षा करो और मेरे जीवनपथ के प्रदर्शक बनो।'



७०. याद करो... फरियाद मत करो

ब्रिटन की प्रसिद्ध नर्तकी 'एलिजाबेथ ट्विस्टिंग्टन हिंगिस' २५ वर्ष की उम्र में पोलियो की शिकार हो गई, जब कि वह प्रसिद्धि के शिखर पर थी। उसको पूछा गया : 'क्या आपको भाग्य के सामने कोई शिकायत है?' उसने कहा : 'ईश्वर को धन्यवाद! मुझे कोई शिकायत नहीं है, मुझे जीवन में बहुत-कुछ मिला है।'

जिस युग में शिकायत जीवन का पर्याय बन गई है, ऐसे समय बिना फरियाद के प्रसन्नतामय जीवन जीना सरल तो नहीं लगता। परन्तु एक नर्तकी यदि ऐसा जीवन जी सकती है तो, फिर एक सद्गृहस्थ, एक श्रमण तो वैसा जीवन जरूर जी सकता है... परन्तु वैसा जीवन कहाँ देखने को मिलता है?

यह नर्तकी तो भाग्य को भी नहीं कोसती है! ईश्वर को भी उपालंभ नहीं देती है! मनुष्य के सामने फरियाद की तो बात ही नहीं!

एक जगह पढ़ा था कि 'किसी भी जीवात्मा का दोष देखना और उसको कोसना अनार्यता है।'

उसी संदर्भ में पढ़ा था कि 'जो आर्य होता है वह अपने ही कर्मों के दोष देखता है।'

परन्तु मेरा प्रश्न तो यह है कि जो व्यक्ति कर्मों का - भाग्य का भी दोष नहीं देखता है, उसको क्या कहेंगे? वह तो आर्य से भी आगे बढ़ गया!

मनुष्य जब तक यह सोचता रहता है कि 'मुझे यह नहीं मिला है और मेरा वह चला गया,' तब तक वह अशांत बना रहेगा और अशांत मनुष्य शिकायत करता ही रहेगा। अशांति के रणप्रदेश में शिकायतों की धूल उड़ती ही रहेगी।

- मेरा दुर्भाग्य है कि मैं श्रीमन्त नहीं बना।
- मेरा दुर्भाग्य है कि मुझे अच्छी पत्नी नहीं मिली।
- मेरा दुर्भाग्य है कि मैं निःसंतान हूँ।
- मेरा दुर्भाग्य है कि मेरी प्रतिष्ठा नहीं बन पाती।
- मेरा दुर्भाग्य है कि मेरा स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहता।
- मेरा दुर्भाग्य है कि घर में मेरा कहा कोई मानता नहीं।

यही है जिदगी**१४२**

- मेरा दुर्भाग्य है कि लोग मेरा तिरस्कार करते हैं।

भाग्य को इस प्रकार कोसने से क्या? फरियाद करने से भाग्य बदलता नहीं! फरियाद करने से दुनिया बदलती नहीं! तो फिर फरियाद क्यों करनी चाहिए? दृष्टि ही बदलनी होगी सोचने की।

भाग्य ने मुझे क्या-क्या दिया है, कितना दिया है, वह ही मुझे देखना होगा। मैं चाहता हूँ और मुझे नहीं मिला है - इसको परमात्मा की कृपा ही माननी चाहिए।

सदैव प्रसन्नचित्त रहने का रहस्य इस विश्वास में छुपा पड़ा है। कैसी भी विकट परिस्थितियों में स्वस्थता बनाये रखने का रहस्य इस श्रद्धा में छुपा पड़ा है।

भाग्य ने मुझे कितना दिया है! यदि मैं उसका सदुपयोग करूँ तो जीवन सत्कार्यों से भर जाए, मन आनंद से छलकता सागर बन जाए।'

- जो मेरे पास नहीं है उसको मुझे याद नहीं करना है।

- जो मेरे पास से चला गया है, उसको मुझे याद नहीं करना है।

- मुझे किसी व्यक्ति से फरियाद नहीं है, मुझे अपने भाग्य से फरियाद नहीं है।

हाँ, कोई मेरे पास फरियाद लेकर आएगा तो मैं सुनूँगा शांति से। उसकी फरियाद सही होगी तो निवारण का प्रयत्न भी करूँगा। यदि फरियाद सही नहीं होगी तो फरियाद छोड़ देने को समझाऊँगा। फरियाद करने की आदत से छुटकारा पाने का उपाय बताऊँगा।

- जिस मानव-जीवन में परमात्मा को याद करते रहना है, उस जीवन में फरियादों का स्थान ही कहाँ है?

- जिस मानव-जीवन में मोक्षमार्ग की आराधना ही करनी है, उस जीवन में शिकायतों का स्थान ही कहाँ है?

- जिस मानव-जीवन में समग्र जीवसृष्टि से मैत्री-संबंध स्थापित करने हैं, उस जीवन में शिकायतें किससे करनी हैं?

- जिस मानव-जीवन में आत्मपरिणति प्राप्त करनी है, आत्मानन्द की अनुभूति में डूबना है, उस जीवन में फरियादें कैसे कर सकता हूँ?

'मुझे किसी से कोई फरियाद नहीं है, मुझे बहुत कुछ मिल गया है।'



७१. अब पछताए क्या होय?

वह सड़क के किनारे बैठा था।

वह अपंग था, उसके दो हाथ नहीं थे। उसके कोई स्वजन नहीं थे, मित्र नहीं थे। हाँ, कोई न कोई दयालु... करुणावंत मिल जाता था...। रहने को घर नहीं था, परन्तु किसी वृक्ष की छाया, किसी निर्जन मकान का बाह्य भाग... उसका घर बन जाता था।

उसको विशेष कोई तृष्णा नहीं थी। पहनने को एकाध वस्त्र... और पेट भरने को दो-चार रोटियों से ज्यादा वह किसी से माँगता नहीं था।

मैं उसको देखता रहा... उसने भी मेरी ओर देखा...। मैं उसके पास गया, कुछ क्षण मौन खड़ा रहा, फिर कहा :

‘तू रोटी कैसे खाता है? तेरे दोनों हाथ तो हैं नहीं ...।’

‘महात्माजी, रास्ते पर से गुजरते लोगों को पुकारता हूँ: ‘ओ भाई, ओ बहन... मुझे जरा रोटी खिला दो... दया करो... मेरे दोनों हाथ कट गये हैं...।’ यूँ तो लोग मेरे सामने देखते ही नहीं हैं... परन्तु फिर भी दिन में दो-तीन भाई-बहन तो मिल ही जाते हैं... मेरे मुँह में रोटी के टुकड़े डाल देते हैं और चले जाते हैं।’

मैंने उसके पास पानी से भरा प्याला पड़ा हुआ देखा... और पूछा : ‘पानी कैसे पीता है?’

‘पशु की तरह...। जमीन पर झूक कर प्याले में मुँह डालकर पीता हूँ।’ वह तो सहज भाव से बोलता था, परन्तु मेरा हृदय काँप रहा था। मैंने पूछा:

‘तुझे मच्छर भी काटते होंगे... कभी-कभी सूक्ष्म जंतु भी तेरे शरीर पर चढ़ते होंगे... तू उनको कैसे दूर करता है?’

‘कभी जमीन के साथ... दीवार के साथ सर रगड़ता हूँ... शरीर को रगड़ता हूँ... देखिए न...।’ यूँ कह कर उसने अपना शरीर दिखाया... जगह जगह खून के दाग थे... चमड़ी फटी हुई थी...।’

‘तेरे मन में कैसे-कैसे विचार आते हैं?’

‘विचार? कभी-कभी मैं भगवान को कहता हूँ : हे भगवान, किसी इन्सान के हाथ मत कटने देना...। मैंने इन हाथों से बुरे काम किये होंगे... इसलिये मेरे हाथ कट गए... भगवान सबका भला करे।’

यही है जिंदगी

१४४

मेरे साथ वाले सद्गृहस्थ ने उसको रोटी खिलायी, पानी पिलाया... और हम वहाँ से चले।

अपने स्थान पर पहुँचने के बाद भी वह विकलांग भिक्षुक मेरे मन में अनेक गंभीर बातें पैदा करता रहा।

वह सोचता होगा : 'यदि भगवान मुझे दोनों हाथ दे दें तो मैं उन हाथों से कभी भी बुरा काम नहीं करूँगा। हाथों से हिंसा नहीं करूँगा, छीना-झपटी नहीं करूँगा, खराब लिखूँगा नहीं। चोरी नहीं करूँगा... कोई भी बुरा काम नहीं करूँगा...' वह ऐसा सोचता होगा क्योंकि वह इतना तो समझता है कि 'मैंने इन हाथों से बुरे काम किये होंगे इसलिए मेरे हाथ कट गए हैं...' अब, जब उसके हाथ नहीं रहे... तब हाथों की उपयोगिता... महत्ता उसके खयाल में आ रही होगी।

तो क्या यह मानव-स्वभाव है कि जब तक उसके पास मानवदेह है तब तक उसका सदुपयोग... उसकी महत्ता... मूल्यांकन वह नहीं समझ पाता? ज्ञानी पुरुषों ने तो मानवदेह का मूल्य अमूल्य बताया है... मानव-जीवन को दुर्लभ बताया है... परन्तु फिर भी क्यों मनुष्य अपनी दुर्लभ देह का दुरुपयोग कर रहा है? क्या, जब उसके पास मानवदेह नहीं रहेगा तब वह मानवदेह के लिए तरसेगा?

जिसकी आँखें चली गई होती हैं, अन्धापन आ गया होता है तब उसको आँखों का सदुपयोग करने को सूझता है। आँखें होती हैं तब तो आँखों का दुरुपयोग ही करता रहता है।

एक श्रीमन्त को मैंने कहा था : 'तुम्हारे पास अच्छी संपत्ति है तो उसका सदुपयोग कर लो... धर्मकार्य में व्यय करो।' उसने मेरी बात एक कान से सुनी, दूसरे कान से निकाल दी। कुछ वर्ष बाद जब वह मिला, श्रीमन्त नहीं रहा था, निर्धन हो गया था। मैंने उसको कुछ नहीं कहा, परन्तु वह बोला : 'गुरुदेव, अब यदि मेरे पास संपत्ति आएगी तो मैं धर्मकार्य में लगाऊँगा, संपत्ति का सद्व्यय करूँगा।'

साधन जब हमारे पास होते हैं तब हम साध्य भूल जाते हैं! साधन जब हमारे पास नहीं रहते - तब हम साध्य को याद करते हैं! कितनी बड़ी भूल है अपनी?

हमारी एक-एक इन्द्रिय का सदुपयोग हमें करना चाहिए। दुरुपयोग तो करना ही नहीं है। अन्यथा, हमारी इन्द्रियाँ विकल हो जायेंगी। हम जब परवश हो जायेंगे तब हमारे दुःख-दर्द की सीमा नहीं रहेगी।



७२. दुःख की जड़ आसक्ति

कश्मीर-नरेश ललितादित्य विशाल सेना के साथ पंजाब जा रहा था। रास्ते में सागर सी सिन्धु नदी आयी। सिन्धु का जलप्रवाह बढ़ रहा था। राजा ललितादित्य चिन्तामग्न हो गया। 'ऐसे जलप्रवाह को कैसे पार किया जाय?'

राजा के साथ उनका महामंत्री चिंकूण भी था। चिंकूण ने राजा को आश्वासन देते हुए कहा : 'महाराजा, आप चिन्ता नहीं करें, सिन्धु को पार कर हम पंजाब में प्रवेश कर सकेंगे। आपकी धर्मप्रसार की भावना सफल होगी।'

राजा ललितादित्य सेना के साथ सिन्धु के तट पर पहुँचा। मंत्री चिंकूण ने अपनी जेब से एक तेजस्वी मणि निकाली और सिन्धु के जलप्रवाह में डाल दी। शीघ्र ही पानी दो भाग में पृथक् हो गया... सामने वाले किनारे तक मार्ग बन गया। राजा सेना के साथ सामने किनारे पहुँच गया। महामंत्री ने दूसरी मणि जलप्रवाह में डाली और जलप्रवाह पूर्ववत् हो गया। मंत्री ने दोनों मणि निकाल लीं।

राजा आश्चर्यचकित हो गया। उसने चिंकूण को कहा : 'तुझे मेरे खजाने में से जो भी उत्तम वस्तु चाहिए, माँग ले और मुझे ये दो मणि दे दे।'

मंत्री ने कहा : 'महाराजा, आपको चाहिए तो ये दोनों मणि ले लें परन्तु मुझे भगवान बुद्ध की वह मूर्ति देने की कृपा करें कि जो मगध - नरेश ने आपको भेंट भेजी है।'

राजा ने भगवान बुद्ध की मूर्ति चिंकूण को दे दी। चिंकूण मूर्ति पा कर भावविभोर हो गया... विरक्त बना हुआ चिंकूण मूर्ति लेकर अपने वतन चला गया।

कहानी तो इतनी ही है, परन्तु चिंकूण ने मुझे विचारमग्न कर दिया। उसने सहजता से चन्द्रकान्त मणि जैसा मूल्यवान, प्रभावशाली और चमत्कारिक मणि राजा को दिया! और बदले में बुद्ध की मूर्ति माँग ली। क्या सोचा होगा उस प्रज्ञावंत महामंत्री ने अपने मन में?

यह चन्द्रकान्त मणि तो एक नदी से पार उतरने में सहायता कर सकती है... जबकि यह मूर्ति भवसागर से पार उतरने में सहायता करेगी... मुझे भवसागर से पार उतरना है... निर्वाण पाना है...।

यही है जिदगी**१४६**

- क्या ऐसा ही कुछ सोचा होगा उस महामंत्री ने? क्या उसके हृदयगिरि में वैराग्य का झरना बहता ही रहा होगा? महामंत्री के पद पर आसीन वह महापुरुष क्या सचमुच विरागी होगा?

- हाँ, दुनिया में ऐसी कोई वस्तु नहीं है कि जो विरागी त्याग न सके! विश्व का साम्राज्य भी वैरागी त्याग सकता है। रूपसुन्दरियों का अन्तःपुर भी त्याग सकता है... अपनी देह का भी उत्सर्ग कर सकता है।

- अंतरात्मा के धरातल पर वैराग्य का झरना निरन्तर बहते रहना चाहिए। योगमार्ग में विरक्त आत्मा ही प्रवेश पा सकती है। वैराग्य सहज होना चाहिए...। वैराग्य का दिखावा नहीं, वैराग्य का अभिनय नहीं।

- वैराग्य का सम्बन्ध हृदय से है, अन्तःकरण से है। हृदय विरक्त होना चाहिए। विरक्त हृदय उदार, विशाल और करुण होता है। विरक्त अन्तःकरण में ही सम्यग्ज्ञान का रत्नदीप जगमगाता है।

- बाहर से मनुष्य राजा हो, मंत्री हो, श्रेष्ठि हो या मजदूर हो... भीतर से वह विरागी रह सकता है। विरागी मनुष्य, सुख-दुःख में समत्व रख सकता है।

- वैराग्य और समता का घनिष्ठ सम्बन्ध है। विरागी ही सदैव शांति और प्रसन्नता की अनुभूति कर सकता है।

- विरागी निर्बंधन होता है। उसे कोई बाह्य-अभ्यंतर बंधन नहीं होता। द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव के बंधनों से मुक्त होता है वैरागी।

- विरागी ही सच्चा श्रद्धावान् होता है, साधु-संन्यासी होता है। जो विरागी नहीं वह श्रद्धावान् नहीं, साधु नहीं, संन्यासी नहीं। जिस व्यक्ति में राग और आसक्ति का विष भरा हो... वह त्यागी कैसा? केवल वेशपरिवर्तन से साधु-संन्यासी नहीं बन जाते। उपाध्याय श्री यशोविजयजी ने सच ही कहा है :

‘त्यागात् कंचुकमात्रस्य भुजंगो न ही निर्विषः।’

- हृदय सदैव अनासक्त बना रहे - यही एक मनःकामना है...



७३. दंभ एक ग्रंथि है

चीन के तत्त्वज्ञानी कन्फ्यूशियस 'यु' राज्य के 'शी' प्रान्त में परिभ्रमण कर रहे थे। एक जगह, एक कब्र के पास एक महिला करुण विलाप कर रही थी। कन्फ्यूशियस ने उस महिला को रुदन का कारण पूछा। महिला ने कहा : 'इस जगह एक बाघ ने मेरे ससुर को मार डाला था, उसके बाद मेरे पति को भी बाघ ने इसी जगह मार डाला और अभी-अभी मेरे पुत्र को भी...' वह स्त्री करुण रुदन करने लगी।

'तो तुम इस जगह को छोड़कर दूसरी जगह क्यों नहीं चली जाती?' कन्फ्यूशियस ने उस स्त्री से कहा।

'क्योंकि यहाँ का राजा जुल्म नहीं करता है... इस राज्य में प्रजा निर्भय और निश्चित है।'

कन्फ्यूशियस ने अपने शिष्यवृन्द की ओर देखा और बोले : 'यह बात तुम सबको याद रखने योग्य है : सुराज्य हो तो बाघ का त्रास भी सहन किया जा सकता है।'

राज्य में जुल्म नहीं हो,
गाँव-नगर में जुल्म नहीं हो,

परिवार में जुल्म नहीं हो... वैसे स्थान में रहना चाहिए। स्थान निराकुल व निरापद होना चाहिए। यदि वैसा स्थान प्राप्त हो और दूसरी अनेक तकलीफें भी हो, तो भी वह स्थान नहीं छोड़ना चाहिए। यदि सुराज्य में ज्यादा धनदौलत नहीं मिलती हो तो भी सुराज्य का त्याग नहीं करना चाहिए।

जो लोग इस बात को नहीं जानते हैं, वे लोग धनलालसा से आकर्षित होकर जुल्मी देशों में जाते हैं (इस्लामी देशों में) और दुःख पाते हैं। जहाँ पर फौजी शासन होता है अथवा तानाशाही होती है वहाँ जुल्म का शासन होगा ही। वैसे देशों में धर्मपुरुषार्थ नहीं हो सकता। शांति और प्रसन्नता से जीवन नहीं जी सकते।

सुराज्य को मनुष्य जब नहीं समझ पाता है, सुराज्य के लाभों को नहीं समझ पाता है तब सामने चलकर वह आफतों को निमंत्रण दे देता है। सुराज्य के लाभों को गँवा देता है। धर्मपुरुषार्थ तो नहीं, वैषयिक सुख-भोगों से भी वह

वंचित रहता है। दुःख-त्रास और विडंबनाओं से उसका जीवन भर जाता है।



एक प्रश्न मन में उठा :

- क्या निर्ग्रन्थता के साथ निर्दंभता का कोई सम्बन्ध है?
- क्या दम्भ ग्रन्थि नहीं? जैसे राग ग्रन्थि है, द्वेष ग्रन्थि है, वैसे दम्भ ग्रन्थि नहीं है?
- निर्ग्रन्थ के जीवन में जैसे राग-द्वेष हेय माने गये हैं वैसे दम्भ भी हेय नहीं है?
- 'दम्भ हेय है, त्याज्य है,' इतना कह देने से नहीं चलेगा! जीवन व्यवस्था में दम्भ को स्थान मिला हो और कह दें कि 'दम्भ हेय, दम्भ त्याज्य है,' तो प्रश्न का समाधान कैसे होगा?
- गृहस्थ की जीवन व्यवस्था में तो दम्भ नितान्त आवश्यक मान लिया गया है, परन्तु निर्ग्रन्थ के जीवन में भी दम्भ आवश्यक? क्यों?
- 'दम्भ, मुक्तिरूपी लता को जलाने वाली आग है, दम्भ मोक्षमार्ग में रुकावट करनेवाली अर्गला है, दम्भ जहर है...' ऐसी दम्भ-निन्दा धर्मग्रन्थों में की गई है।
- धर्मग्रन्थों को पढ़नेवाले और सुननेवाले सभी लोग दम्भ-निन्दा को जानते हैं फिर भी 'इतना दम्भ तो करना पड़ता है...' ऐसी बातें करते हैं।
- क्या श्रमण-जीवन में, निर्ग्रन्थता के मार्ग में दम्भ आवश्यक है? हाँ, जब तक श्रमण-साधु सामाजिक बना रहेगा तब तक उसको दम्भ का सहारा लेना पड़ेगा।
- परन्तु, सामाजिक मान-प्रतिष्ठा के व्यामोह में फँसे हुए बाह्य निर्ग्रन्थ निर्दंभ जीवन नहीं जी सकते। सामाजिक कार्यों में रागी-द्वेषी और दम्भी जीवों के संपर्क, अनिवार्यरूप से होते हैं। 'संसर्गजन्यागुणदोषाः'।
- निर्दंभता के बिना निर्ग्रन्थता नहीं, यह बात निर्ग्रन्थ साधु के हृदय में स्थिर होनी चाहिए। निर्दंभ बनने का उसका संकल्प दृढ़ होना चाहिए।
- 'मुझे सामाजिक प्रतिष्ठा नहीं चाहिए, मुझे तो आध्यात्मिक निष्ठा चाहिए' ऐसा आन्तरनाद गूंजता रहे... तो निर्ग्रन्थता की प्राप्ति हो सकती है और आन्तर संतोष की अनुभूति हो सकती है।



७४. करुणा माँगें... परमात्मा की

मैंने एक व्यक्ति को पूछा : 'पुनः वही तपश्चर्या क्यों करना चाहते हो?' उसने कहा : 'और तो कुछ नहीं, परन्तु घरवालों की ओर से सहानुभूति तो मिलेगी।'

मनुष्य चाहता है अपने प्रति किसी की सहानुभूति... किसी की प्रेमसिक्त करुणा! जिसको वह चाहता है, जिसको वह अपने स्वजन मानता है, उनकी ओर से विशेष रूप से यह अपेक्षा रहती है।

- यदि सहानुभूति मिलती है, तो मनुष्य अपने आप को सुखी मानता है!
- यदि सहानुभूति नहीं मिलती है, तो मनुष्य अपने आप को दुःखी मानता है!

- सुख और दुःख परसापेक्ष बना दिये... यही क्या घोर अज्ञान नहीं है? यह मनोवृत्ति जीवन को विवश-परवश करने वाली नहीं है?

- दूसरों की सहानुभूति पाने के लिए तपश्चर्या! कष्ट सहन करने वालों के प्रति लोगों में करुणा पैदा होती ही है! रास्ते पर ऐसे खेल करने वालों को मैंने देखा है कि जो लोगों में - दर्शकों में अनुकम्पा पैदा करने के लिए लड़के के मुख में कटारी घुसेड़ते थे... खून बहता... दर्शकों के मुँह से 'अररर...' जैसे करुण स्वर निकल जाते...। फिर वह लड़का... खून से सने हुए मुँहवाला लड़का दर्शकों के पास जाकर पैसा माँगता था... और दर्शक कुछ न कुछ देते थे!

मैं तपश्चर्या करूँगा तो घर के लोग मेरे प्रति कठोरतापूर्ण व्यवहार नहीं करेंगे... वे सोचेंगे - 'उसका आज उपवास है... उसको परेशान मत करो...' मैं कोई काम करूँगा तो घर के लोग कहेंगे - 'यह काम तुम मत करो, क्योंकि तुम्हारी तपश्चर्या चल रही है...।'

- कोई हमारे लिए ऐसे सहानुभूति भरे शब्द बोलता है, तो हमें खुशी होती है! हमें खुशी चाहिए... इसलिए स्वजनों की सहानुभूति चाहिए... इसलिए तपश्चर्या!

- माता जब बच्चे की उपेक्षा करती है, बच्चे के प्रति ध्यान नहीं देती है तब बच्चा रोता है... पैर पछाड़ता है... भोजन नहीं करता है... स्नान नहीं करता

है... तब माता को उसके प्रति ध्यान देना पड़ता है... अपने उत्संग में लेना पड़ता है! बच्चे की तपश्चर्या सफल होती है!

- सत्याग्रह भी एक प्रकार की तपश्चर्या ही होती है न? कष्ट सहन कर, दूसरों की अनुकम्पा प्राप्त करने की एक परम्परा दुनिया में चल पड़ी है।

- क्या ऐसी परम्परा को देखकर योगीश्वर आनंदघनजी ने कहा होगा कि:

‘कोई पतिरंजन अति घणुं तप करे, पतिरंजन तन-ताप,

ए पतिरंजन में नहीं चित्त धर्युं रंजन धातु-मिलाप...’

- तपश्चर्या से तुम अपने स्नेही को अपने वश करने का प्रयत्न करते हो - यह सही रास्ता नहीं है। तुम उसके आदर्शों को मान कर चलो! वह तुम पर खुश हो जायेगा!

- परमात्मा को प्रसन्न करना है क्या? महात्माओं की कृपा प्राप्त करनी है क्या? तो उनके उपदेशों का अपने जीवन में पालन करते चलो! वही श्रेष्ठ तपश्चर्या है! उपदेशों का पालन नहीं करना है और कृपा-अनुकम्पा चाहिए? इसलिए घोर तपश्चर्या करते हो? मार्ग गलत है। विचार विकृत हैं।

- एक व्यक्ति के जीवन में कुछ पापाचार हैं। दूसरों की नहीं, परन्तु आसपास वालों को तो उसके प्रति अनादर हो ही जाए, तिरस्कार हो ही जाए, वैसी उसकी प्रवृत्तियाँ हैं। वह व्यक्ति भी समझता है यह बात। उसने तपश्चर्या शुरू कर दी। बस, लोगों को उसके प्रति कुछ अनुकम्पा पैदा हो गई! ‘कैसा भी है, परन्तु तपस्वी तो है!’ वह भी निर्भय हो गया... कि अब मैं अपनी प्रवृत्ति करता रहूँगा... लोगों को मेरे प्रति तिरस्कार नहीं होगा!’ और बात तो वही करता है ‘तप करने से कर्मों की निर्जरा होती है!’

- ऐसी तपश्चर्या से कर्मनिर्जरा नहीं होती है। ऐसी तपश्चर्या से आत्मविशुद्धि नहीं होती है। ऐसी तपश्चर्या से अन्तःतृप्ति नहीं होती है!

- और तपश्चर्या से दुनिया के रागी-द्वेषी जीवों को खुश करने की मनोवृत्ति तो कितनी अज्ञानमूलक मनोवृत्ति है?

- दुनिया के रागी-द्वेषी और मोही जीव अपने प्रति खुश हो तो क्या, नाखुश हो तो क्या? उनकी खुशी भी क्षणिक और नाखुशी भी क्षणिक! आज खुश, कल नाराज!

- ऐसे लोगों की अनुकम्पा-सहानुभूति भी क्षणिक होती है। क्षणिक सहानुभूति से क्या खुशी?

यही है जिंदगी**१५१**

- तू अपने हृदय में दृढ़ निश्चय कर ले : मुझे रागी-द्वेषी जीवों की सहानुभूति नहीं चाहिए। सहजता से परस्पर सहानुभूति होनी चाहिए। दूसरों के प्रति मेरी सहानुभूति वैसी ही रहेगी।

- सहानुभूति की याचना तो नहीं होनी चाहिए।

- याचना से प्राप्त सहानुभूति दीनता पैदा करती है, विवशता पैदा करती है। हीनभावना पैदा करती है।

**कृपा चाहिए परमात्मा की,
अनुकम्पा चाहिए परमात्मा की,
सहानुभूति चाहिए संतों की...**

- कि जिससे मैं अदीन भाव से जीवन बसर कर सकूँ! परनिरपेक्ष जीवन जी सकूँ।



७५. मुझे निर्भय होना है

मैं निर्भय कैसे बनूँ?

- जड़ और चेतन पदार्थों की अनंत अपेक्षाओं से हृदय भरा हुआ है... अपेक्षाओं की माया-मरीचिका में मन सम्भ्रान्त बना है।

- मन को द्वैत पसन्द है, अद्वैत को असंभव मान लिया है। व्यवहारमार्ग पर मन दौड़ रहा है... स्वभाव ही द्वैतप्रेमी बन गया है।

- कुछ छुपाने की वृत्ति है, कुछ देना है, कुछ पाना है... कर्तृत्व का अभिमान है...। मन इन बातों में ही उलझा हुआ रहता है...। मन का भटकाव निरंतर चालू है।

- मोह-सेना से घिरा हुआ हूँ। मोह-सेना को शत्रु-सेना भी मानने को मन तैयार नहीं है...। फिर, उस सेना से लड़ने की तो बात ही कहाँ? लड़ने के लिए जो ब्रह्मास्त्र चाहिए वह भी मेरे पास कहाँ है? मुझे लड़ना ही कहाँ है?

- मैंने अपना स्वाभाविक आनंद खो दिया है...। मेरे आनंदवृक्ष पर असंख्य भय-सर्प लिपटे हुए हैं... मैं आँखें खोलकर देखता भी नहीं हूँ। मेरे आनंदवृक्ष को भय-सर्पों से मुक्त करने का विचार भी मुझे नहीं आता है... फिर, मैं क्यों ज्ञानदृष्टिरूप मयूरी का प्रवेश मेरे आत्मवन में करवाऊँ?

- मोह के प्रहार मुझे प्रहार ही नहीं लगते... मुझे तो वे अलंकार लगते हैं। मोहवृत्ति और मोहजन्य प्रवृत्ति मुझे प्रिय हैं... फिर मैं क्यों आत्मज्ञान का कवच अपने बदन पर धारण करूँ?

- आत्मज्ञान के अभाव में भयों का चक्रवात मुझे आकाश में घुमाता है... मैं व्याकुल हूँ, व्यथित हूँ, भयों से बचने के लिए परमात्मा को पुकारता हूँ...।

- चित्त में चारित्र नहीं है, दृष्टि में ज्ञान नहीं है, हृदय में श्रद्धा नहीं है... मैं कैसे भयमुक्त बन सकता हूँ? कैसे विवादाहित हो सकता हूँ?

- यदि मुझे निर्भय होना है, आत्मानन्द की अनुभूति करनी है... मेरा निश्चल निर्णय है, तो मुझे अद्वैतगामी होना ही पड़ेगा। द्वैत का मोह छोड़ना ही पड़ेगा। मुझे अपने स्वभाव को ही अद्वैतप्रिय बनाना होगा।

भयाक्रान्त भवसुखों की अपेक्षाओं का त्याग करना पड़ेगा। मन को निरपेक्ष

यही है जिदगी

१५३

बनाना पड़ेगा। 'संसार' का एक-एक सुख भय से आक्रान्त है, इस सत्य को स्वीकार कर, मन को भवसुखों से निःस्पृह करना पड़ेगा।

- मेरे पास ऐसी कोई वस्तु नहीं होनी चाहिए, ऐसी कोई बात नहीं होनी चाहिए कि जिसको छुपाना पड़े। मेरा जीवन खुली किताब जैसा होना चाहिए। जो चाहे वह मेरी जीवन-किताब पढ़ सके।

- 'मुझे दूसरों को कुछ देना है,' यह विचार भी नहीं चाहिए। 'मुझे दूसरों से कुछ पाना है,' यह विचार भी नहीं चाहिए। संसार के साथ लेन-देन का व्यवहार केवल व्यवहार बना रहे! मन उस व्यवहार से मुक्त रहे!

- मुझे संसार के सभी जड़-चेतन पदार्थों को 'ज्ञेय' रूप में देखने होंगे। बिना राग-द्वेष देखने होंगे। बिना राग-द्वेष देखने की ज्ञानदृष्टि मुझे प्राप्त करनी होगी। मुझे केवल 'ज्ञाता' बनना होगा।

- ज्ञाता बनने कि लिए 'ज्ञानदृष्टि' चाहिए। ज्ञानदृष्टि कहाँ से प्राप्त करूँ? शास्त्रों से? धर्मग्रन्थों से? शास्त्रों के अर्थघटन में तीव्र मतभेद प्रवर्तित हैं। उन्हीं धर्मग्रन्थों के माध्यम से व्यवहार को - द्वैत को पुष्ट किया जा रहा है। व्यवहार भी शुद्ध नहीं, अशुद्ध और अशुभ! केवल विधि-विधानों में और वाद-विवादों में शास्त्रवेत्ता उलझे हुए हैं।

- ज्ञानदृष्टि प्रकट होती है, विशुद्ध चारित्र में से। वह चारित्र चित्त में होना चाहिए। मेरे चित्त में चारित्र कहाँ है? मेरे देह पर चारित्र के उपकरण हैं, मेरे चित्त में असंयम की गंदगी भरी हुई है। असंयम में से ज्ञानदृष्टि नहीं प्रकट होती है, अज्ञान ही प्रकट होता है।

- चित्त में चारित्र के फूल खिल जाएं... तब तो बेड़ा पार लग जाए!

- दृष्टि में ज्ञान के दीप जलते रहे... तो फिर और क्या चाहिए? निरन्तर प्रकाश की गंगा में स्नान किया करूँ।

- निर्भय तभी बन सकता हूँ... बनना भी है... परन्तु निर्भय बनने की प्रक्रिया विकट है, शर्तें ज्यादा कठोर हैं। मैं तन-मन से निर्बल हूँ, इन शर्तों का पालन कैसे करूँ?

- निर्भयता का मार्ग मेरे मन को पसंद आ गया है, परन्तु उस मार्ग पर चलने की शक्ति कहाँ है मन के पास? तो क्या दूसरा कोई शक्य-सरल मार्ग है ही नहीं इस काल में? करुणावंत सर्वज्ञ भगवन्तों ने इस कलिकाल के जीवों के लिए निर्भयता प्राप्त करने का दूसरा कोई सरल मार्ग बताया तो होगा ही!

यही है जिंदगी**१५४**

परम करुणावंत सर्वज्ञ परमात्मा की शरणागति और उनके आगे सभी दुष्कृत्यों का प्रकाशन - यह एक मार्ग लगता है निर्भयता प्राप्त करने का।

- दूसरा मार्ग : दुष्कृत्यों के फलस्वरूप जो भी दुःख आने संभवित हों, उन दुःखों को सहजता से स्वीकार करना।

- तीसरा मार्ग : परपदार्थों की अपेक्षाएँ कम करता चलूँ। अपेक्षाओं की वृद्धि तो होनी ही नहीं चाहिए।

निर्भयता में ही सुख है।

निर्भयता में ही आनंद है।

मुझे निर्भय होना ही है...



७६. निर्दभ बनने के लिए निरपेक्ष बनना जरूरी

महात्मा भर्तृहरि एक गाँव के बाह्य-प्रदेश में पनघट के पास एक वृक्ष की छाया में विश्राम कर रहे थे। पनघट पर दो पनिहारियाँ पानी भर रही थीं। दोनों की निगाहें महात्मा भर्तृहरि की ओर गईं। एक पनिहारी ने दूसरी से कहा :

‘देख तो उस महात्मा को। इसने राज्य का त्याग कर दिया... संसार की मोहमाया छोड़ दी... परन्तु तकिये के बिना नहीं चलता। हाथ का तकिया बनाकर सोया है।’

ये शब्द भर्तृहरि ने सुन लिये। भर्तृहरि तो सरल स्वभाव के महात्मा थे। पनिहारी की बात सुनकर उन्होंने आत्मनिरीक्षण किया... और तुरंत ही मस्तक के नीचे से हाथ हटा लिया। पनिहारी ने देखा कि भर्तृहरि ने हाथ हटा लिया, उसने दूसरी पनिहारी से कहा : ‘अरे, इस महात्मा को मेरी बात से बुरा लगा... देख, उसने हाथ हटा लिया... संसार छोड़ा, परन्तु रीस नहीं छोड़ी।’

भर्तृहरि ने ये शब्द भी सुने। उनको हँसी आ गई : इस दुनिया को कोई खुश नहीं कर सकता। हे आत्मन्, तू अपनी राह पर चलता रहे।

- ‘दुनिया के लोग क्या कहते हैं? दुनिया के लोग क्या सोचेंगे? दुनिया के लोगों को क्या अच्छा लगता है?’ ये विचार क्यों करने चाहिए? इन विचारों में कितना औचित्य है?

- जिसको दुनिया से कुछ पाना है, दुनिया को कुछ देना है... वे भले ही इन विचारों में औचित्य देखते हों, परन्तु जिन्होंने दुनिया से नाता तोड़ दिया है, दुनिया से कुछ पाना नहीं है... वे दुनिया के लोगों के विषय में क्यों सोचें? लोग खुश हों या नाराज, महात्माओं को क्या लेना-देना?

- ये वे लोग हैं कि जिन्होंने सीताजी की प्रशंसा भी की थी और निन्दा भी की थी। सीताजी ने लोगों का कुछ भी नहीं बिगाड़ा था... फिर भी लोगों ने सीताजी के जीवन में हस्तक्षेप किया था। सीताजी के स्वच्छ निर्मल व्यक्तित्व को कलंकित किया था।

- ‘शिष्ट लोगों का विचार तो करना चाहिए न?’ ऐसा मत पूछो। कौन हैं शिष्ट लोग? क्या रामराज्य में कोई शिष्ट पुरुष नहीं था? क्या श्रीराम स्वयं

यही है जिदगी

१५६

शिष्ट नहीं थे? क्यों उन्होंने लोगों की असत्य बात मान ली? क्यों सीताजी को नहीं पूछा?

- क्या बहुत सारे धर्मग्रन्थ पढ़ लेने मात्र से मनुष्य शिष्ट बन जाता है? क्या बहुत धन कमा लेने से मनुष्य शिष्ट बन जाता है? क्या बड़ी उम्र होने से मनुष्य में शिष्टता आ जाती है?

- जो मनुष्य द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव का सापेक्ष विचार नहीं कर सकता है, वह क्या शिष्ट कहलायेगा? जो मनुष्य अहंकार और तिरस्कार से भरा हुआ है, वह मनुष्य शिष्ट कहलायेगा?

- कोई तो बताये... शिष्ट पुरुष कहाँ है? स्वोत्कर्ष और परापकर्ष में डूबे रहने वाले लोगों को शिष्ट कौन मानेगा? आज तो सर्वत्र स्वोत्कर्ष और परापकर्ष का असाध्य रोग व्यापक बन गया है। ऐसे असाध्य रोग से पराभूत लोगों की परवाह सच्चा संत, सच्चा साधक नहीं कर सकता है।

- संतों पर श्रीमन्तों का प्रभुत्व देखता हूँ। श्रीमन्तों पर सत्ताधीशों का अधिकार देखता हूँ। सत्ताधीशों पर अर्थ और काम का आधिपत्य देखता हूँ। ऐसे लोगों में शिष्टता हो सकती है क्या? नहीं, शिष्टता का लोप हो गया है...।

- जो शिष्ट नहीं हैं, अशिष्ट हैं... ऐसे लोग कुछ भी बोलें, कुछ भी सोचें... हमें उनकी परवाह नहीं करनी है।

- अशिष्ट और अभद्र लोग खुश हों या नाखुश हों - हमें हर्ष-शोक नहीं करना है। ऐसे लोग निन्दा करें या प्रशंसा करें, हमें समभाव में रहना है।

- प्रशंसा करने वालों को शिष्ट मान लेने की भूल नहीं करनी है। निन्दा करने वालों को अशिष्ट मान लेने की जल्दबाजी नहीं करनी है। आज निन्दा करनेवाले कल प्रशंसक बन सकते हैं। आज प्रशंसा करनेवाले कल निन्दक बन सकते हैं।

- दुनिया से निरपेक्ष संत ही निर्दंभ जीवन जी सकता है। दुनिया की निगाह में अच्छा दिखने की अपेक्षा, मनुष्य को दंभी बनाती है।

- आत्मसाक्षी से जीवन जीना होगा। निर्भयता से - निश्चिंतता से जीवन जीना होगा। यदि हमारे जीवन में बुराई है, तो बुराई को स्वीकार करना होगा... बिना किसी हिचकिचाहट के।

यही है जिंदगी

१५७

- लोगों के कहने से कोई संत नहीं बन जाता। लोगों के कहने से कोई शैतान नहीं बन जाता।

- दुनिया में रहना है पर दुनिया से निरपेक्ष रहना है। लोगों के बीच रहना है पर लोगों से निरपेक्ष रहना है। इस निरपेक्षता में निराकुलता होनी चाहिए। निराकुलता का जन्म क्या निरपेक्षता से नहीं होता?

- सापेक्षता में आकुलता है,
- निरपेक्षता में निराकुलता है।



७७. संबंध जब शोषण करते हैं

कभी ऐसा भी होता है कि हम जिसका हित करते हैं वह हमें अहितकारी मान लेता है। हम जिसको सुखी करना चाहते हैं वह हमें दुश्मन समझ लेता है।

उस समय मन अस्वस्थ बन जाता है... मन बेचैन बन जाता है। नहीं होना चाहिए मन अस्वस्थ, मैं मानता हूँ, परन्तु हो जाता है... और बौखला उठता है-

‘नहीं करना है उसका हित, वह यदि मुझे अहितकारी मानता है, दुश्मन मानता है, तो फिर मैं क्यों उसके लिए हित-प्रवृत्ति करूँ? जैसे उसके कर्म होंगे वैसा फल पायेगा...।’

वैसे ही, कभी ऐसा भी होता है कि जिसके प्रति हमारे हृदय में प्रेम होता है, स्नेह होता है, वह व्यक्ति हमारे शुभ आशय में शंका करता है... और चिल्लाता है: ‘तुम मेरे प्रति द्वेष रखते हो... तुम मुझे दुःखी करना चाहते हो... तुम्हारे मन में मेरे प्रति दुर्भावना है...’ वगैरह...।

तब मन चंचल हो जाता है... विषाद में डूब जाता है। कैसे उसको समझाऊँ कि ‘भैया, तेरे प्रति मुझे कोई दुर्भावना नहीं है... तेरे प्रति मुझे सच्चा प्रेम है...।’ यदि मैं ऐसा कह भी देता हूँ, तो भी वह मेरी बात पर विश्वास नहीं करता...।

मन उद्विग्न हो जाता है।

- मन में प्रश्न पैदा होता है :

क्या दूसरों का हित करना ही छोड़ दूँ?

क्या दूसरों से सारे सम्बन्धों को तोड़ दूँ?

- ‘दूसरों के लिए मेरे मन में हित की भावना बनी रहनी चाहिए, प्रवृत्ति मुझे अपने आत्महित की ही करनी चाहिए,’ ऐसा एक समाधान मिलता है।

- ‘दूसरों से केवल औपचारिक सम्बन्ध बनाये रखने चाहिए, हृदय को निर्बन्धन रखना चाहिए,’ ऐसा दूसरा समाधान मिलता है।

- हित को अहित मानना, हितकारी को अहितकारी मानना... सुख को

यही है जिंदगी

१५९

दुःख मानना और दुःखदायी को सुखदायी मानना...। ऐसी एक अवस्था होती है जीवों की! जब तक चेतना की आध्यात्मिक विकासयात्रा शुरू नहीं होती है, तब तक यह अवस्था बनी रहती है। ऐसे जीवों के प्रति रोष क्यों करना?

मैं जो बात हितकारी मानता हूँ उसके लिए, वह उस बात को अहितकारी मानता है... मान सकता है...। जो वस्तु जैसी है वैसी परखने की क्षमता सभी जीवों में नहीं होती है। समझाने पर समझने की क्षमता भी सभी जीवों में एक समान नहीं होती है। तो फिर जैसे अज्ञानी जीवों के प्रति दुर्भाव क्यों रखना?

- सम्बन्धों का बंधन।

सम्बन्ध बंधन ही नहीं लगते हैं... जब तक आपस में प्रेम होता है। प्रेम नष्ट हो जाता है और सम्बन्ध का मृत कलेवर मस्तक पर उठाए जीना पड़ता है... वह बड़ा त्रास देता है।

दुनिया की निगाहों में सम्बन्ध का बड़ा महत्त्व है...। कुछ हद तक सम्बन्ध बनाये रखना आवश्यक भी है... परन्तु सम्बन्ध बंधन... अकाट्य बंधन तो हरगिज नहीं बनना चाहिए।

- सम्बन्धों में कर्तव्यपालन अनिवार्य होता है। यदि सम्बन्ध बनाये रखने हैं, तो पारस्परिक कर्तव्यों का पालन करना ही होगा। यदि कर्तव्यपालन में क्षति हुई तो सम्बन्ध दुःखदायी बन जायेगा।

कर्तव्यपालन का मार्ग सरल नहीं है। कर्तव्यपालन में कभी अपने स्वार्थों का विसर्जन करना भी आवश्यक होता है, वह यदि नहीं होता है, तो सम्बन्ध दुःखदायी बंधन बन जाता है।

- सम्बन्ध बाँधना सरल है, निभाना सरल नहीं है। सम्बन्ध बाँधता है मनुष्य सुख पाने के लिए ही, परन्तु सम्बन्ध दुःख का निमित्त भी बन जाता है।

- 'बिना किसी सम्बन्ध, क्या मैं जी सकता हूँ?' मैंने अपनी चेतना से एक दिन पूछ ही लिया। चेतना स्तब्ध हो गई। कभी इस प्रश्न पर गंभीरता से सोचा ही नहीं था। सम्बन्ध जीवन का पर्याय बन गया है।

सम्बन्ध के बिना जीवन की कोई कल्पना भी नहीं हो सकती। किसी न किसी व्यक्ति से या वस्तु से संबंध तो बना ही रहता है।

व्यक्तियों से संबंध।

वस्तुओं से संबंध।

यही है जिंदगी**१६०**

संबंधों की जाल कर्मों की जाल से कम नहीं हैं। संबंधों के बंधन कर्मों के बंधन से कम नहीं हैं।

ज्यों-ज्यों संबंध कम होते जाते हैं त्यों-त्यों कर्म भी कम होते जाते हैं। संबंधों के बंधन टूट जायेंगे तब कर्मों के बंधन भी टूट जायेंगे। दोनों का अंत एक साथ होगा।

यदि यही सिद्धांत है तो...

- संबंध बढ़ाने की प्रवृत्ति स्थगित करनी होगी।
- संबंधों के माध्यम से महानता की कल्पना को गलत मानना पड़ेगा।
- संबंधों की उपयोगिता कम करनी होगी।
- अनिवार्य संबंधों से हृदय को अलिप्त रखने का अभ्यास करना होगा।
- निःसंगता की ओर प्रतिपल आगे बढ़ना होगा। 'कब मेरी आत्मा ऐसी अवस्था प्राप्त करेगी? कब सभी संबंधों के बंधन टूटेंगे?' यह प्रश्न तो आज भी बिना प्रत्युत्तर ही खड़ा है...।



७८. वीतरागी की लगन लगाएँ

‘मैं किसी भी मनुष्य को दुःखी नहीं कर सकता, न काया से, न वचन से। कभी भूल से किसी को दुःखी कर देता हूँ, तो बाद में हृदय उद्विग्न हो जाता है। तो क्या यह मेरी मानसिक कमजोरी है?’

यह एक मित्र का प्रश्न है, मेरा भी यह एक प्रश्न है।

- केवल मनुष्य ही नहीं, किसी भी जीव को मैं दुःखी करना नहीं चाहता हूँ। किसी भी जीव को दुःखी करना यानी अपने आप को दुःखी करना। जब जानता हूँ कि मेरे कारण किसी जीव को दुःख हुआ है, मेरा हृदय दुःखी हो ही जाता है।

- परन्तु, जब कोई व्यक्ति आकर मुझे कहता है : ‘आप हमारे दुःख दूर नहीं करते हैं, आप हमारी उपेक्षा करते हैं, आपके मन में हमारे प्रति स्नेह नहीं है...’ तो मेरा मन बहुत दुःखी हो जाता है और रोष भी आ जाता है।

- हालाँकि दुःखी जीवों के दुःख दूर करने की मेरी भावना तो बनी ही रहती है, शक्य प्रयत्न भी करता रहता हूँ, परन्तु कभी प्रयत्न सफल नहीं बन पाता है... तब मैं क्या करूँ?

- किसी का मुझ पर ऐसा अधिकार तो हो नहीं सकता कि मैं उनके दुःख दूर करूँ ही। यदि मैं उनके दुःख दूर नहीं कर सकता हूँ, तो वे मुझे दोषी अपराधी मान लें। मैं, मुझ पर किसी का भी ऐसा अधिकार मान्य नहीं रख सकता हूँ...। परन्तु मेरा मन दुःखी तो होता ही है... उनके दुःख दूर नहीं कर सकने के कारण...।

- व्यवहार-दशा ही कुछ ऐसी है कि इच्छा नहीं होते हुए भी दूसरों के दुःख में निमित्त होना पड़ता है। सहजीवन व्यवहार का ही एक भाग है। सहजीवन में सहवर्ती मनुष्यों को कभी-कभार तन-वचन से दुःख पहुँचता है।

- दूसरों की सभी अपेक्षाएँ कौन पूर्ण करता है? मैं भी दूसरों की सभी अपेक्षाएँ पूर्ण नहीं कर सकता हूँ, इसलिए दूसरे दुःखी होते हैं... मैं क्या करूँ? फिर भी मेरा मन अशान्त हो जाता है।

- मैं करुणाशून्य नहीं हो सकता।

- मैं दयाहीन नहीं हो सकता।

यही है जिदगी

१६२

- मैं भावरहित नहीं बन सकता।
- क्या इसको मैं अपनी कमजोरी मानूँ? मानसिक अशक्ति मानूँ?
- क्या कठोरता का नाम शक्ति है? निर्दयता का नाम शक्ति है? ऐसी शक्ति मुझे नहीं चाहिए।
- एक महर्षि का वचन मुझे याद आ रहा है : करुणावंत सदैव दुःखी होता है, दूसरों के दुःखों से! दूसरों के दुःख उसके स्वयं के दुःख बन जाते हैं।
- तो क्या मेरा मन सदैव दुःखी रहेगा? दुःखों का अंत दुनिया में होने वाला नहीं है... अनादि-अनंत विश्व में दुःख भी अनादि-अनंत हैं।
- 'जब तक जीवात्मा दूसरों को दुःख देता रहेगा तब तक उसके दुःखों का अंत नहीं होगा...' यह बात तो सच ही है।
- व्यवहार-दशा में मनुष्य दूसरों को दुःखी किये बिना नहीं जी सकता है। इसलिए ऐसी जीवनपद्धति खोजनी होगी कि जिसमें किसी भी जीव को दुःख पहुँचाये बिना जी सकें।
- स्वयं भी पूर्ण शांति का अनुभव कर सकें। शांति के सागर में निमग्न रह सकें।
- वर्तमान जीवन तो द्वन्द्वात्मक ही है। शांति और अशांति, आनंद और उद्वेग, सुख और दुःख...। इन द्वंद्वों में मानसिक संतुलन बनाये रखना होगा।
- मानसिक संतुलन भी तो सदैव नहीं बना रहता है न? कभी-कभी संतुलन खो जाता है। भावों के आवेग संतुलन को धक्का दे देते हैं।
- स्वयं के दुःखों से जितना विचलित नहीं होता हूँ, उतना मैं दूसरों के दुःख देखकर विचलित हो जाता हूँ। वह विचलन मैं ज्यादा सहन नहीं कर सकूँगा, ऐसा मुझे लगता है। यदि इस बात को मेरी कमजोरी कहूँ, तो यह कमजोरी मुझमें है ही।
- यह कमजोरी क्या मुझे दूसरों के दुःख दूर करने में निष्फल तो नहीं बनायेगी? इस बात से कभी-कभी मैं चिंतित हो जाता हूँ।
- दूसरों के दुःख दूर करने का सामर्थ्य तो मुझमें होना ही चाहिए। वह सामर्थ्य जैसे भी प्राप्त होता है, करना है। मानव-जीवन की सार्थकता इसी में ही मानी है न!
- दूसरी बात : दूसरों के दुःख दूर करने का अर्थ होता है अपने ही दुःख दूर करना।

यही है जिंदगी**१६३**

परंतु ऐसा क्यों दिखाई देता है : दूसरों के दुःख दूर करने में मैं अपने आपको दुःखी महसूस करता हूँ। क्या इतना दुःख सहन करना इस मार्ग में आवश्यक होगा? अनिवार्य होगा?

- निर्मल पानी देनेवाली नदियों में लोग मलमूत्र डालते हैं न?

- मीठे-मधुर फल देनेवाले वृक्ष पर लोग पत्थर मारते हैं न? प्रहार करते हैं न?

- सुख देनेवालों को दुःख देना इस दुनिया का नियम है क्या? चाहे नियम न हो, परन्तु वैसा ही हो रहा है।

- जड़-भावहीन वस्तुओं के साथ दुर्व्यवहार करने से उन वस्तुओं पर भावात्मक दुष्प्रभाव नहीं पड़ता है, परन्तु चेतन-संवेदनशील व्यक्ति के साथ दुर्व्यवहार करने से, उस व्यक्ति पर भावात्मक दुष्प्रभाव पड़ता ही है।

- हाँ, यदि व्यक्ति वीतराग बन जाए, राग-द्वेषरहित हो जाए, तो उस पर कोई भावात्मक दुष्प्रभाव नहीं पड़ता है। दुनिया कितना भी दुर्व्यवहार करे उनके साथ, वे कभी दुःखात्मक संवेदन नहीं करेंगे!

- सभी प्रश्नों का समाधान वीतरागता में है!



७९. अनजान क्या आत्मीय नहीं हो सकते?

उसने एक दिन एक अपरिचित व्यक्ति का अपमान कर दिया। अपमान करने की दूसरी कोई वजह नहीं थी... एक ही वजह थी... वह व्यक्ति अपरिचित था! मेरा मन अस्वस्थ बन गया, मैंने नाराजगी से पूछा : 'क्यों रे... उसके साथ अभद्र व्यवहार क्यों किया?' 'वह अपरिचित था...' उसने प्रत्युत्तर दिया।

'क्या वह भविष्य में परिचित नहीं हो सकता है?'

वह मौन रहा...

मेरा भीतर मन बोलता रहा...

- अपरिचितता क्या अपमानपात्र है?

मुझे कोई अपरिचित मान कर मेरा अपमान करे तो? मेरे साथ अभद्र व्यवहार करे तो?

दुनिया में क्या परिचय की ही प्रतिष्ठा है? परिचय का ही बोलबाला है?

- आज का अपरिचित... कल परिचित हो सकता है!

- आज अपरिचित मान कर जिसका तिरस्कार किया हो, कल उसी के सामने नतमस्तक होना पड़ सकता है!

- श्री राम, लक्ष्मण एवं सीता के साथ परिभ्रमण कर रहे थे... 'तापी' नदी के तट पर 'अरुण' गांव में पधारे। सीताजी तृषातुर थे। गांव में प्रवेश करते ही एक जीर्ण गृह देखा। वह एक दरिद्र ब्राह्मण का घर था, ब्राह्मण का नाम था कपिल। उसकी पत्नी का नाम था सुशर्मा।

सुशर्मा ने श्रीराम का स्वागत किया, सम्मान दिया। कपिल ने इससे पहले तीनों का तिरस्कार किया था, अनादर किया था।

परन्तु वही कपिल जब यक्षनिर्मित रामपुरी में पहुंचा, राजसभा में प्रवेश किया तब श्री राम... लक्ष्मण और सीता को देखते ही कपिल ब्राह्मण घबराया!

'अरे... ये तो वे ही हैं... जिनका मैंने घोर अपमान किया था... मैं जिन पर आगबबूला हो गया था! अरे भगवान... अब मेरा क्या होगा? मैं तो आया था दान लेने... मेरी दरिद्रता मिटाने... परन्तु...

यही है जिंदगी**१६५**

सीताजी ने प्रेम से सुशर्मा को अपने पास बुलाया और प्रेम से कुशलता पूछी। लक्ष्मणजी ने कपिल को निर्भय किया। उसकी दरिद्रता दूर कर दी।

- तब कपिल को कितना पश्चात्ताप हुआ होगा? अपरिचितों में कोई भगवान भी होते हैं... कोई महात्मा भी होते हैं... कोई बड़े सत्ताधीश भी हो सकते हैं... कोई बड़े ज्ञानी भी हो सकते हैं... इसलिए किसी भी अपरिचित का अनादर या तिरस्कार नहीं करें।

○ स्मित के साथ आदर दें।

○ सभ्यता से बात करें।

अपरिचित के प्रति विश्वास करना या नहीं करना - यह बात तो व्यक्ति-निष्ठ है। मैं नहीं कह सकता कि सभी अपरिचितों पर विश्वास कर लें। विश्वास नहीं करें तो चलेगा, तिरस्कार नहीं करना है।

- विश्वास परिचय के बाद किया जाता है।

- दूसरी बात, क्या सभी परिचित भी विश्वसनीय होते हैं? क्या परिचित भी विश्वासघात नहीं करते हैं कभी?

- अपरिचित कभी... पूरी निष्ठा से विश्वास निभाते हैं, परिचित कभी घोर विश्वासघात करते हैं!

- विश्वासपात्र कौन? परिचित या अपरिचित?

दोनों में से कोई नहीं! और दोनों में से कोई भी!

- धर्मग्रन्थ कहते हैं : मनुष्य के पुण्यकर्म का उदय होता है तो उसे विश्वासपात्र व्यक्ति मिल जाता है। मनुष्य के पापकर्म का उदय होता है तो कोई भी व्यक्ति विश्वासघात करता है!

पुण्यकर्म का उदय बदलता रहता है!

पापकर्म का उदय भी बदलता रहता है!

'तो क्या करें?' प्रश्न उठता है मन में!

हम किसी का विश्वासभंग नहीं करें! परिचित का या अपरिचित का!

किसी के साथ विश्वासघात नहीं करें, यह होगी हमारी गुणात्मक योग्यता!

- गुणात्मक योग्यता वाला मनुष्य ही विश्वसनीय बनता है।

- गुणवान मनुष्य अपरिचित होगा तो भी विश्वसनीय होगा।

यही है जिंदगी**१६६**

हनुमान, सुग्रीव, विभीषण... वगैरह श्रीराम के परिचित कहाँ थे? फिर भी वे श्रीराम के परिचित हो गये थे और विश्वसनीय बन गये थे न?

बीहड़ जंगल में सीताजी को राजा वज्रजंघ जो मिला था, अपरिचित ही था न? परन्तु कितना परम विश्वसनीय बन गया था?

- कोई हमारा विश्वासघात करता है, तो हमें अपने पापकर्म का उदय मानना चाहिए।

- हम यदि किसी का विश्वासभंग करते हैं, तो अपनी अयोग्यता मान लेनी चाहिए।

- परिचित और अपरिचित - सभी के विश्वास का सम्पादन करना चाहिए।

जीवनयात्रा में कभी कोई परिचित अपरिचित बन जाता है... कभी कोई अपरिचित परिचित बन जाता है! यह एक वास्तविकता है। हमें इसमें आश्चर्य नहीं होना चाहिए। उद्वेग भी नहीं होना चाहिए।

- जन्म-जन्मान्तर की कहानी तो इस वास्तविकता से भरी पड़ी है! मृत्यु... एक ऐसा परिवर्तन कर देती है कि परिचित परिचित नहीं रहते, अपरिचित हो जाते हैं।

अपरिचित क्षेत्र में प्रवेश जैसे रोमांचक होता है, वैसे अपरिचित व्यक्तियों का परिचय भी रोमहर्षक होता है! अपरिचितों से परिचय करने की कला चाहिए।

अपरिचित आत्माओं से...

अपरिचित महात्माओं से...

अपरिचित परमात्मा से...

परिचय करते रहें...। परिचय में प्रेम हो, आदर हो... तो वह परिचय पापों का नाश कर सकता है।

अपरिचित का स्वागत स्मित के साथ करो...



८०. वर्तमान में जीना सीखो

‘जॉन रस्किन’ विचारक मनुष्य था। वह अपनी मेज पर एक पत्थर रखता था। उस पत्थर पर ‘आज’ लिखा हुआ था।

‘मेरे हाथ से कहीं वर्तमान यों ही न निकल जाए, इसलिए मैं यह पत्थर अपने पास रखता हूँ।’ यह था जॉन रस्किन का प्रत्युत्तर।

जिस प्रकार मनुष्य धन-संपत्ति का, स्नेह-संबंधों का, शरीर एवं परिवार का मूल्यांकन करता है, उस प्रकार क्या वर्तमान समय का मूल्यांकन करता है?

श्रमण भगवान महावीर स्वामी ने कितना गहन एक सूत्र दिया है। ‘समयं गोयम! मा पमायए’ एक क्षण का भी प्रमाद मत कर, गौतम।’

परमात्मा तो पूर्ण ज्ञानी होते हैं। वे एक-एक क्षण का महत्त्व जानते ही हैं। उन्होंने मोक्षमार्ग के यात्रियों को यह महत्त्व समझाया। ‘एक-एक क्षण मूल्यवान है, उसका मूल्यांकन करो, सदुपयोग करो।’

- तीव्र वेदना की अनुभूति होती है यह सोचकर कि तमाम उम्र भ्रमों में जीता रहा। अपना कीमती वक्त अंतहीन उलझनों में गुजारने के सिवाय कुछ भी नहीं किया है।

- समाज में सर्वत्र अनवरत शिकायतों का अंतहीन सिलसिला चल रहा है... कब राहत मिलेगी इस दमघोंट उमस से?

- गर्दभरा मटमैला आसमान देखता हूँ...

- क्या जरा सी भी फुहार नहीं बरसेगी आसमान के किसी कोने से?

- मुझे अपने वर्तमान क्षण को... हर वर्तमान क्षण को ज्ञानवारि से नवपल्लवित करना है... क्या घनघोर वर्षा होगी?

- शास्त्रों का... धर्मग्रन्थों का ज्ञान है... फिर भी एक विराट खालीपन से मेरा दम घुटता है। यह रिक्तता भरीपूरी जिन्दगी में निरर्थकता का अहसास पैदा करती है।

- मेरे भीतर... पंख फड़फड़ाता आतम-पंखी... अनंत आकाश में उड़ान भरना चाहता है... सिद्धशिला तक उसे पहुँचना है... परन्तु मैंने सभी दरवाजे-खिड़कियाँ बन्द कर लिए हैं। क्या इससे मेरे भीतर का वह पंखी... घुटनभरी मौत का शिकार हो जायेगा?

यही है जिंदगी

१६८

क्या आत्मज्ञान पाने के लिए विगत में लौटना आवश्यक है? अतीत के असंख्य स्मृति-खंडों में भटकना जरूरी है?

- क्या अद्वैत अवस्था प्राप्त करने के लिए अनागत की अनंत कल्पनाओं में उलझना, बुद्धिमत्ता होगी मेरी? सिर्फ अन्दाजों से तृप्ति हो सकती है?

- मुझे तो पल-पल... क्षण-क्षण जागृति में जीना है। एक-एक क्षण को आनंद से तरबतर करना है।

- एक दरिद्र मनुष्य बोलता रहता है : मुझे श्रीमन्त होना है... धनवान होना है...।

- एक रुग्ण मनुष्य बोलता रहता है : मुझे पहलवान बनना है... रोगहीन-तन्दुरुस्त बनना है...

- एक मूर्ख मनुष्य बोलता रहता है : मुझे तीव्र मेधावी... प्रज्ञावन्त बनना है...

हम इन लोगों की बातें सुनकर हँसते हैं न? कोई टोकता भी है : 'हँसो मत... उनको दुःख होगा...।'

हाँ, मेरी बात पर भी आप मत हँसना। 'यह क्या वर्तमान में जीयेगा? अतीत-अनागत के अनंत महासागर में गोते खाने वाला...। वर्तमान का विचार भी नहीं कर सकता...।' मुझे दुःख होगा...।

- सोचना हो ऐसा तो सोच सकते हो। मनुष्य की योग्यता का यदि अतीत के सहारे मूल्यांकन करते हों तो मूल्यांकन कर लें। मेरा अतीत मैं भूल जाऊँगा... क्या आप याद रखेंगे?

- आप क्या याद रखते हैं और क्या भूल जाते हैं - यह भी मुझे नहीं सोचना है, यह सोचना भी वर्तमान क्षण का प्रमाद ही होगा न? इसलिए मैं तो मेरे सामने वाले पत्थर पर लिखूँगा : 'क्षण'।

- जॉन रस्किन के 'आज' से भी मेरा 'क्षण' मुझे ज्यादा जाग्रत रख सकेगा। मुझे प्रमत्त नहीं होने देगा।

- श्रमण भगवान महावीरस्वामी का 'समय' तो बहुत सूक्ष्म कालखंड है। वह समय-समय की जागृति तो इस जन्म में संभव नहीं लगती है...।

- मन सशक्त चाहिए, मन समर्थ चाहिए वैसी जागृति के लिए।

- वातावरण पवित्र चाहिए, निर्मल चाहिए... वैसी जागृति के लिए।

यही है जिंदगी**१६९**

- जीवन-व्यवस्था स्वस्थ-तन्दुरुस्त चाहिए वैसी जागृति के लिए।

मन निर्बल है,

वातावरण दूषित है,

जीवन-व्यवस्था जैसा कुछ है ही नहीं...

- जब इस अवदशा को सोचता हूँ, तब हजारों बिच्छुओं के डंकों की चुभन होती है... तिलमिलाहट भरी घोर यातना होती है... और ऐसा महसूस करता हूँ कि जैसे चेतना की तहें छीली जा रही हों...

- 'नहीं सोचना है ऐसा कुछ भी...' निर्णय मेरा डगमगा जाता है... सोचने लगता हूँ। पता नहीं लगता कि जागृति की किसी खुशनुमा सुबह की ओस में कब स्नान करूँगा?

- प्रमाद की कुछ अवस्थाएँ जीवन के साथ तीव्रता से जुड़ी हैं। प्रमादाचरण से छुटकारा मिलने की कोई सम्भावना नहीं दिखती है... और प्रमाद प्रिय भी लगता है मेरे मन को...

कैसी उलझन पैदा हो गई है?

- याद करता हूँ उन अप्रमत्त साधक महापुरुषों को... भावपूर्ण नमन करता हूँ।

- श्रमण भगवान महावीर स्वामी के वचनों को याद करता हूँ... सत्य मानता हूँ।

मेरे 'क्षण' को वे सभी अनवरत आनंद से भरपूर रखें... प्रसन्नता से जीवंत रखें... तो ही कृतार्थ हो सकता हूँ।



८१. जीवन तेरे रूप अनेक

देखना... केवल देखना... उसमें आनंद है...।

- मैंने पहाड़ देखा, पहाड़ का सौन्दर्य देखा...। मुझे इच्छा हुई कि मैं पहाड़ में खो जाऊँ... उसके शिखर पर पहुँच जाऊँ। जब मैं पहाड़ पर गया... वहाँ मुझे पत्थर ही पत्थर नजर आए... वृक्ष ही वृक्ष नजर आए। वह सौन्दर्य मुझे नहीं दिखा, जो मैंने दूर से देखा था।

- उसने पुष्प देखा, पुष्प का सौन्दर्य देखा। पुष्प पाने की इच्छा हुई। उसने उसे पा लिया... परन्तु ज्यों-ज्यों दिन ढलता गया, पुष्प का सौन्दर्य नष्ट होता गया...। वह रो पड़ा...।

- विश्व के सभी पदार्थों का सौन्दर्य देख कर, उन पदार्थों को प्राप्त करने की इच्छा जागृत होती रहेगी तब तक दुःख, अशांति और वेदना बनी रहेगी।

- ज्ञान हो, बोध हो, परन्तु इच्छा नहीं होनी चाहिए।

सच बात है। सम्बन्धों के विषय में भी इच्छा ही दुःख देती है।

- जानता हूँ कि इच्छाएँ राग में से पैदा होती हैं। रागदशा को निर्मूल करने का सर्वज्ञ परमात्मा का उपदेश कितना यथार्थ है।

वीतरागता प्रगट होने पर इच्छाएँ नहीं रहती हैं। इसलिए प्रतिदिन वीतराग की उपासना करता हूँ। पर, यह उपासना कब पूर्ण होगी? मन कब इच्छाओं से मुक्त होगा?

- मुझे बनना है केवल ज्ञाता और दृष्टा।



हम दोनों परमात्मा के मंदिर में गये।

उसने कहा : इस मूर्ति का पाषाण कितना सुन्दर है! कितना मूल्यवान है!

शिल्पी ने कितनी सुन्दर मूर्ति बनायी है!

मैं सुनता रहा, मौन।

थोड़ी क्षणों के बाद मैंने कहा :

मैं इस पाषाण की मूर्ति में परमात्मा का स्वरूप देखता हूँ। मुझे आँखों में करुणा का सागर दिखता है। हृदय में वीतरागता का शाश्वत दीपक जलता दिखायी देता है। मुख पर सर्वज्ञता का तेज दिखायी देता है...।

यही है जिदगी**१७१**

- वह सुनता रहा, मौन।

फिर वह बोला :

आज दिन तक मैं परमात्म-स्वरूप में पत्थर देखता रहा, आज मैंने पत्थर में परमात्म-स्वरूप को देखा।

- पत्थर की मूर्ति में परमात्म-स्वरूप का दर्शन कैसे हो?

पहले तो परमात्म-स्वरूप का दर्शन करने की प्रबल इच्छा होनी चाहिए न? इसी इच्छा से प्रेरित होकर परमात्म-मंदिर में जाया जाए।

परमात्म-मंदिर में शांति हो, प्रसन्नता हो, पवित्रता हो। इसीलिए मंदिर में घी के दीपक जलते हैं न? इसीलिए सुगन्धी धूप होता है न?

परन्तु... जो लोग परमात्म-स्वरूप का दर्शन करने नहीं आते हैं मंदिर में, जो केवल भौतिक सुख पाने के लिए आते हैं, वे मंदिर के वातावरण को दूषित करते हैं।

- दूषित हृदय वाले मंदिर की पवित्रता कैसे समझेंगे?



स्मित!

Have a friend for a smile and a smile for a friend.

- अपनी आन्तर प्रसन्नता को स्मित के रूप में प्रगट होने दो।

- स्मित आन्तर प्रसन्नता की अभिव्यक्ति है। परन्तु वह स्मित सहज होना चाहिए।

एयर होस्टेस का भी स्मित होता है और सेल्समेन का भी स्मित होता है... परन्तु वह स्मित 'व्यवसाय' की दृष्टि का होता है, सहज नहीं होता।

- स्मित का घोर अकाल पड़ा है... और समस्या विकट तो यह है कि अन्न की तरह स्मित विदेशों में आयात नहीं किया जा सकता।

- आन्तर प्रसन्नता से अभिव्यक्त स्मित, मित्रता का अभिवादन है। मानवता का सच्चा स्वीकार है। यदि मित्र को, स्नेही को, स्वजन को देखने पर तुम्हारे मुख पर स्मित नहीं खिलता है, तो तुम निश्चित ही व्यथित हो अथवा चिंतित हो।

मेरे परिचित एक मुनिराज के मुँह पर मैंने कभी भी स्मित नहीं देखा। हास्यरस की किताब भी वे गंभीरता से पढ़ते हैं।

यही है जिंदगी**१७२**

- मुनि के मुख पर तो स्मित की गंगालहर उड़ती रहनी चाहिए... क्योंकि वह तो 'मोबाइल तीर्थ' है न।

- स्मित एक शान्त... शीतल गंगाप्रवाह है...।

निर्दोष-निर्दभ... सहज स्मित सदैव तुम्हारे मुख पर देखना चाहता हूँ।

स्पर्धा और तुलना। इन दो बातों ने मनुष्य के जीवन को घोर अशांति में डुबो दिया है। 'यह व्यक्ति मुझसे ज्यादा धनवान नहीं होना चाहिए, मैं उससे ज्यादा धनवान बनूँ...'

'इस व्यक्ति से मैं विशेष प्रसिद्ध बनूँ...'

'इस व्यक्ति को मैं मुझसे आगे नहीं बढ़ने दूँगा...'
'ऐसी तो असंख्य स्पर्धाएँ चल रही हैं मनुष्य के जीवन में...!

और हर बात में हो रही है तुलना।

साज-सज्जा में तुलना,

रहन-सहन में तुलना,

बोलने-चलने में तुलना...

संपत्ति की तुलना...

- दूसरों से बढ़कर है, तो अहंकार।

- दूसरों से निम्न स्तर का है, तो दीनता।

इस स्पर्धा और तुलना की उलझन में फँसा मनुष्य कैसे 'आत्मतत्त्व' का विचार कर सकता है? कैसे उसके मन में परमात्मा का प्रतिबिंब पड़ सकता है?

- जीवन के हर क्षेत्र में ये दो विकृतियाँ प्रविष्ट हो गई हैं। आध्यात्मिक विकास में तो ये दो विकृतियाँ बाधक हैं ही, सरल और सरस जीवनप्रवाह में भी अवरोधक बनी हुई हैं।



८२. आसक्ति से बचते रहना

प्रश्न : कोऽन्धः? अन्धा कौन?

उत्तर : यो विषयानुरागी।

जो विषयानुरागी होता है।

विषयासक्त मनुष्य अपनी आँखों से देखते हुए भी अन्धा है। विषयासक्ति मन का अन्धापन है। मन का अन्धापन मनुष्य को विवेकभ्रष्ट करता है। विवेकभ्रष्ट मनुष्य जो भी प्रवृत्ति करता है, उसके परिणाम-स्वरूप वह दुःख ही पाता है।

एक नया-नया आत्मसाधक पुरुष, अपने गुरुदेव के पास गया और प्रश्न किया :

‘गुरुदेव, मुझे ‘आसक्ति’ के विषय में स्पष्ट बोध करने की कृपा करें।’

गुरुदेव ने कहा : ‘वत्स, तू कल एक पिंजरा और कुछ स्वादिष्ट फल लेकर आना।’

दूसरे दिन वह पुरुष लोहे का एक पिंजरा और स्वादिष्ट फल लेकर गुरु के पास पहुँचा। एक वृक्ष की छाया में दोनों बैठे। गुरु ने कहा : ‘वत्स, एक फल तू बाहर निकाल कर वृक्ष से थोड़ा दूर रख दे।’

उसने फल रख दिया। वृक्ष के ऊपर बैठे हुए बंदर ने वह फल देख लिया। धीरे से वह नीचे उतरा और फल लेकर वृक्ष पर जा बैठा। फल खाया... और दूसरे फल की आशा में वह उस पुरुष की ओर देखता रहा! गुरु ने कहा :

‘वत्स, थोड़े दूर जाकर इस पिंजरे में फल रखना और पिंजरे को खुला रखना।’ उस पुरुष ने गुरु की आज्ञा का पालन किया।

बंदर वृक्ष से नीचे उतरा, पिंजरे के पास गया... ज्यों ही उसने पिंजरे में हाथ डालकर फल उठाया, त्यों ही पिंजरा बंद हो गया! बंदर का हाथ फँस गया। यदि वह फल को छोड़ देता है तो हाथ बाहर निकल सकता है, परन्तु वह फल छोड़ता नहीं है।

गुरु ने उस पुरुष को कहा : ‘वत्स, जाकर पिंजरे का द्वार खोल दे।’ उसने खोल दिया। बंदर मुक्त हो गया और फल लेकर वृक्ष पर जा बैठा। फल खा लिया।

यही है जिंदगी

१७४

गुरु ने पुनः पिंजरे में फल रखवाया... फिर से बंदर नीचे आया, फल लेने पिंजरे में हाथ डाला और हाथ फँस गया। हाथ में से फल छोड़ता नहीं है और चिल्लाता है।

गुरु ने फिर से बंदर को मुक्त करवाया। बंदर वृक्ष पर चढ़ गया। गुरु ने उस पुरुष के सामने देखा और बोले :

‘वत्स, इसी को कहते हैं आसक्ति! इसी को कहते हैं विषयासक्ति! बंदर इसी विषयासक्ति से अन्धा बना था। फल की आसक्ति ने उसको बार-बार पिंजरे में फँसाया।

- संसार के वैषयिक सुखों को अहितकारी मानते हुए भी हम क्यों नहीं छोड़ते? कारण है आसक्ति।

पाँचों इन्द्रियों के विषयों में आसक्ति!

- विषयों में रसानुभूति होते ही आसक्ति पैदा हो जाती है। इसलिए विषयों में रसानुभूति ही न हो, वैसा उपाय करना चाहिए।

वह उपाय है सत्समागम।

सत्संगत्वे निःसंगत्वम्।

- सत्पुरुषों का समागम ही आसक्ति से मुक्ति दिला सकता है।

- अनासक्त योगी ही सत्पुरुष कहलाते हैं। आसक्त पुरुष योगी नहीं होता, मुनि नहीं होता, साधक नहीं होता... वह तो होता है गंभीर मरीज!

- विषयों में जैसे आसक्ति नहीं चाहिए, वैसे व्यक्तियों में भी आसक्ति नहीं चाहिए। अपने प्रति श्रद्धा, स्नेह और आदर रखने वालों में भी आसक्ति नहीं चाहिए। यदि यह आसक्ति नहीं होगी तो दूसरों के प्रति द्वेष नहीं होगा, तिरस्कार नहीं होगा।

- सत्पुरुषों की खोज करनी पड़ेगी। आज सबसे ज्यादा अकाल पड़ा है, सत्पुरुषों का।

- धार्मिक क्षेत्र में और आध्यात्मिक क्षेत्र में भी अनासक्त योगीपुरुषों का अकाल पड़ा है। दूसरे क्षेत्रों में तो घोर अकाल है सत्पुरुषों का।

- एक अन्धा दूसरे अन्धों का पथ-प्रदर्शक बना है! है न काल की विडंबना?

- अन्धा कहता है : मैं ही ज्ञानी हूँ... मैं ही ध्यानी हूँ... मैं ही सच्चा हूँ... मैं ही सब कुछ हूँ...!

यही है जिंदगी**१७५**

- इसीलिए कहता हूँ कि सत्पुरुषों की खोज खूब सावधानी से करना। अन्यथा, नाम अनासक्ति का होगा और काम आसक्ति का होगा। आसक्ति के बंधन दृढ़ हो जायेंगे।

- विषयासक्ति अन्धापन है।
- विषयविरक्ति दिव्य दृष्टि है।
- दिव्य दृष्टि के प्रकाश में ही परमात्मा का पथ दिखायी देता है।
- मार्ग को देखे बिना उस पर चलना कैसे संभव हो सकता है?
- अन्धापन मिटाना होगा, दिव्य दृष्टि प्राप्त करनी होगी।



८३. मोक्ष कहाँ है? क्या है?

- करीबन दो हजार वर्ष पूर्व, एक विद्वान के मन में उग्र विचार आया : 'साधु को वस्त्र नहीं पहनना चाहिए। क्योंकि वस्त्र पहनने से वस्त्र पर ममत्व होता है, और ममत्व आत्मा का मोक्ष नहीं होने देता है।'

- उस साधु ने वस्त्र उतार फेंके, नग्न रहने लगा। जो साधु वस्त्र पहनते थे, उनको वह साधु नहीं मानता था, उनके प्रति उसने विरोध जाहिर किया।

- 'दिशाएँ ही मेरे वस्त्र हैं,' ऐसा वह लोगों को समझाने लगा। जो उनकी बात मानते उनको वह अपना अनुयायी मानने लगा।

- उसने वस्त्र का ममत्व छोड़ा, परन्तु अनुयायियों का ममत्व जोड़ा, अपने 'संप्रदाय' का ममत्व बाँध लिया।

- दिशाएँ क्या कभी वस्त्र बन सकती हैं? वस्त्र जो काम करता है, वह काम क्या कभी भी दिशाएँ कर सकती हैं?

कोई नंगा मनुष्य आपके पास आकर कहे कि 'मुझे वस्त्र चाहिए...' आप उसको क्या कहेंगे कि 'ये दिशाएँ ही वस्त्र हैं, तू पहन ले।'

- हजारों... लाखों लोगों ने यह आश्चर्यजनक बात मान ली। दुनिया है ना? मूर्खों ने मान ली और बुद्धिमानों ने भी मान ली।

वस्त्र का राग यदि मोक्षप्राप्ति में बाधक है तो वस्त्र और वस्त्रधारी का द्वेष मोक्षप्राप्ति में बाधक नहीं है क्या? मोक्षप्राप्ति में क्या-क्या बाधक है, यह जानते हो?

- अपने पंथ का राग, दूसरे पंथों के प्रति द्वेष करवाता है। यह राग-द्वेष, वस्त्र के राग-द्वेष से क्या ज्यादा हानिकर्ता नहीं है?

- खैर, 'वस्त्र के प्रति राग हो जाता है' इस दृष्टि से वस्त्र का त्याग कर दिया, परन्तु 'शरीर के प्रति राग हो जाता है,' तो क्या शरीर का त्याग कर दोगे?

- शरीर पर राग होता है न?

- शरीर पर का राग मोक्षप्राप्ति में बाधक है न?

- तो क्या आत्महत्या कर लेनी चाहिए?

यही है जिंदगी

१७७

- आत्महत्या से शरीर छूट जायेगा। 'कर्मण शरीर' और 'तैजस शरीर' जो सूक्ष्म शरीर है, वे छूट जायेंगे क्या?

- एक व्यक्ति में से एक संप्रदाय खड़ा हो गया।

- किसी भी संप्रदाय का प्रारम्भ एक व्यक्ति से होता है। हर व्यक्ति को अपनी समान विचारधारा के कुछ लोग तो मिल ही जाते हैं। बस, कुछ लोगों का समूह बना... बन गया संप्रदाय। अपने संप्रदाय के प्रति राग और दूसरों के प्रति द्वेष।

- ऐसे राग-द्वेष करने वाले 'मोक्ष' का उपदेश देते हैं दुनिया को।

- खुद जमीनकंद खाने वाले दूसरों को जमीनकंद नहीं खाने का उपदेश दे तो?

- स्वयं वेश्या, दूसरी महिलाओं को 'सती' बनने का उपदेश दे तो?

- दुनिया में मिल जायेंगे ऐसे उपदेशों को सुनने वाले! दुनिया में मूर्खों की कभी भी कमी नहीं रही है।

- वस्त्र पहनने से ही मोक्ष मिलता है - यह बात जैसे असत्य है वैसे 'नग्न रहने से ही मोक्ष मिलता है' - यह बात भी झूठ है।

- राग-द्वेष का त्याग करने से ही आत्मा का मोक्ष होता है, यह बात सत्य है।

किसी व्यक्ति के प्रति राग-द्वेष नहीं।

- किसी वस्तु के प्रति राग-द्वेष नहीं... केवल समतायोग।

समतायोगी ही कर्मबन्धनों को तोड़ता है। समतायोगी को कर्मबंधन तोड़ने नहीं पड़ते हैं, बंधन स्वतः टूट जाते हैं।

- समतायोगी इन्द्रियों का विजेता होता है।

- समतायोगी कषायों का विजेता होता है।

ऐसा समतायोगी वस्त्रधारी भी हो सकता है और वस्त्ररहित मनुष्य भी हो सकता है।

- समतायोगी की दृष्टि में वन और सदन में कोई भेद नहीं होता है, दिन और रात में कोई भेद नहीं होता है।

- समतायोगी की दृष्टि में कोई पापी नहीं होता, कोई पुण्यशाली नहीं होता...। कोई निर्धन नहीं होता, कोई श्रीमन्त नहीं होता...।

यही है जिदगी

१७८

- मोक्ष ऐसे समतायोगी का होता है।

समतायोगी तो 'मोक्षेऽप्यनिच्छः' होता है यानी मोक्ष पाने की भी इच्छा उनमें शेष नहीं रहती है। सभी इच्छाओं से मुक्त मनुष्य ही सभी कर्मों से मुक्ति पा सकता है।

- परन्तु मोक्ष चाहिए किसको?

- इन्द्रियों की परवशता का त्याग करना नहीं है और बातें बनाते हैं, मोक्ष की।

- कषायों का सहारा छोड़ना नहीं है और बातें करते हैं, मोक्ष की। निरी आत्मवंचना... निरी परवंचना...

- जब तक इन वंचनाओं से मुक्ति नहीं पायेंगे तब तक कर्मों से मुक्ति कैसे पायेंगे?

हे प्रभो, मुझे राग-द्वेष से मुक्त कर दो... मुझे समतायोगी बना दो...।

कब मैं समतायोगी बनूँगा?

कितने जन्म लेने पड़ेंगे समतायोगी बनने के लिए? पता नहीं...



८४. ओफ्फोह! ये क्या हो रहा है?

चुप-चुप गिरती, नामालूम-सी बारिश के दरमियान में मौन धारण किये बैठा था। संघ और जिनशासन के विषय में सोच रहा था...

एक हाँफती-सिसकती-सी आन्तर-आवाज, विचारों की तह पर रेंगती हुई... बाहर तैर आयी थी।

- अपने आपको 'जैन' कहलाने वालों के हृदय में, 'जिन' के प्रति, जिनवचनों के प्रति श्रद्धा का दीपक जल रहा है क्या? 'जिन' का अर्थ भी जानते हैं क्या?

- श्रद्धा केवल नामशेष ही रह गई है?

- केवल कुछ धार्मिक क्रियाकलापों में ही शासनपरस्ती रह गई है क्या?

- छोटी-बड़ी शोभायात्रा-जुलूस निकालने में ही शासन-प्रेम मान लिया जाए?

- और सम्यग्ज्ञान?

एकान्तवाद से भरपूर धर्मोपदेश देनेवालों में सम्यग्ज्ञान?

- जिनको नहीं है निश्चय-व्यवहार का ज्ञान, जिनके पास नहीं है उत्सर्ग-अपवाद का ज्ञान, जिनको नहीं है नय और निक्षेप का ज्ञान... जिनके पास नहीं है जिनागमों का ज्ञान... वैसे धर्मोपदेशक क्या सम्यग्ज्ञान दे सकते हैं? जो स्वयं सम्यग्ज्ञानी न हो, वह दूसरों को सम्यग्ज्ञान कैसे दे सकता है?

- आज जिनशासन के कौन सरताज हैं? अपने आपको सरताज मान लेने वाले तो अनेक हैं, परन्तु वह एक मिथ्या गर्व है, पाखण्डी अभिमान है।

- अज्ञान और अनाचारों में पथभ्रष्ट बने हुए अनेक जैनों की घोर उपेक्षा कौन कर रहा है? इन लोगों को ज्ञान का प्रकाश देने का एवं सदाचारों का अमृत प्रदान करने का कर्तव्य किसका है?

- सारी की सारी बुराइयों को 'काल' और 'कर्मों' पर छोड़कर शासन के सूत्रधार कहलाने वाले महापुरुष अपनी-अपनी गा रहे हैं... क्या यह एक जघन्य अपराध नहीं है?

- जैन-परिवार केवल भारत में ही नहीं, विश्व के अनेक देशों में हजारों की संख्या में फैले हुए हैं, लाखों जैन विदेशों में रहे हुए हैं, उन लोगों को श्रद्धा,

यही है जिदगी

१८०

ज्ञान और चारित्र की प्रेरणा कहाँ से मिलेगी? उन सभी जीवों को जिनवचनों का अमृत कौन पिलाता है? क्या किसी की भी जिम्मेदारी नहीं है?

- श्रद्धा की जड़े हिल गई हैं...

ज्ञान का दीपक बुझ-सा गया है...

चारित्र के फूल कुम्हला-से गये हैं...

फिर, मानव-जीवन की सफलता किस बात को लेकर गाई जाए?

- **अश्रद्धा परमं पापम्** - 'अश्रद्धा घोर पाप है' - जो आज जन-जन में व्यापक होता जा रहा है।

- अज्ञान का घोर अन्धकार ज्यादा प्रगाढ़ होता जा रहा है, मनुष्य इस अन्धकार में भटक रहा है...

चारित्र क्षत-विक्षत होता हुआ विलख रहा है...

- फिर भी शास्त्र और शास्त्रकारों की दुहाई देते हुए अनेक 'पण्डित' शारदीय मेघों की तरह गर्जना करते हैं।

- एक बूंद भी आकाश से बरस नहीं रही है... केवल मेघों की गर्जना...

फिर भी कुछ मोर नाचते जरूर हैं। केकारव भी करते हैं...।

- अन्धा अनुकरण हो रहा है फैशनों को अपनाने में। नहीं है शरीर-स्वास्थ्य का खयाल, नहीं है मर्यादाओं के पालन का खयाल...।

अनेक बुरे व्यसनों में लोग बुरी तरह फँस रहे हैं। फलस्वरूप लोग अनेक रोगों के शिकार बनते जा रहे हैं। वैषयिक सुखों की तीव्र लालसा भड़क उठी है।

- धार्मिक स्थानों में भी सत्ताकांक्षी लोगों ने अनेक झगड़े खड़े कर रखे हैं। अज्ञानी और अल्पज्ञ लोगों के अहंकार ने मंदिरों में एवं धर्मस्थानकों में क्लेशपूर्ण वातावरण पैदा किया है।

- श्रीमन्तों की सरगर्मी भी धर्मस्थानों में ज्यादा उगलती है। श्रीमन्ताई के औद्धत्य से बचने वाले श्रीमन्त कितने? श्रीहीन श्रीमन्तों की संख्या बढ़ती जा रही है।

- अल्पज्ञ लोग 'सर्वज्ञ' की तरह धर्मक्षेत्र में हस्तक्षेप करने लगे हैं। एकान्तवाद की बोलबाला हो रही है। 'अनेकान्तवाद' शास्त्रों में बन्द पड़ा है। शास्त्र-निरपेक्ष बातें बहुत हो रही है।

यही है जिंदगी**१८१**

- कौन किसको कहे? कोई किसी की सुनने को ही तैयार नहीं है। सुनाने को सभी तैयार हैं।

- नये-नये भव्य जिनमंदिर बन रहे हैं, दर्शन कर अपूर्व आह्लाद होता है, परन्तु जिनप्रतिमाओं के चक्षुओं में जब उपालम्भ का भाव पढ़ता हूँ, तब हृदय चित्कार कर उठता है...

- 'मेरे वचनों की, मेरी आज्ञाओं की अवहेलना... उपेक्षा कर के क्या तुम मेरी भक्ति करते हो? इस प्रकार क्या तुम मोक्षमार्ग पर चल सकते हो? भ्रमणा में मत रहो... मोक्षमार्ग पर चलने के लिए मेरी आज्ञाओं को ठीक रूप में समझो।'

हे प्रभो, यह तो मैंने अपने हृदय में उठने वाली बातें कह दी है... तेरे संघ और शासन के मौजूदा हालात को देखकर, जो दुःख और वेदना दिल में पैदा हुई...उगल दी है...। यदि मेरी कोई भूल होती हो... तो मुझे क्षमा कर देना... मेरी धारणाएँ बदल देना... अन्यथा संघ और शासन की शान को पुनःस्थापित कर देना...



८५. वहाँ नहीं, यहाँ देखें!

एक दिन मयूर को अपनी कर्कश आवाज से खेद हुआ। उसने देवी सरस्वती को कहा : 'देवी, मैं आपका वाहन हूँ। फिर भी मेरी आवाज कर्कश क्यों? कोयल की आवाज, मेरी आवाज से मधुर क्यों? क्या मेरे लिए यह दुःखप्रद घटना नहीं है?'

देवी ने कहा : 'वत्स, मधुर स्वर से कोयल सुखी है, तू अपने सुन्दर पिच्छों से सुखी बन।'

मयूर ने कहा : 'ऐसी सुन्दरता से क्या, जबकि आवाज मधुर न हो?'

देवी ने कहा : 'जो विशेषता तुझे मिली है, इससे संतोष मान ले... दूसरों की विशेषताओं को देखकर ईर्ष्या नहीं करनी चाहिए, ईर्ष्या से दुःख बढ़ता है।'



- मनुष्य के मन की बात मयूर ने कह दी है, ताकि मनुष्य को दुःख न लगे! मनुष्य को कितना भी सुख मिला हो, वह उससे संतुष्ट नहीं होता है। वह दूसरों के सुखों को देखता रहता है और ईर्ष्या से जलता रहता है।

- ईर्ष्या आग है। जिस हृदय में वह रहती है उसी हृदय को जलाती रहती है।

- एक व्यक्ति कहता है : 'मेरे लड़के तो अच्छे हैं परन्तु मेरी पत्नी लड़ाकू है, मेरे मित्र की पत्नी कितनी शान्त और प्रसन्न है...' वह अपने आपको पत्नी के विषय में दुःखी मानता है, वह कभी पुत्रों को लेकर अपने आपको सुखी अनुभव नहीं करता!

- दूसरा व्यक्ति कहता है : 'मेरा परिवार तो अच्छा है, परन्तु मेरे पास रुपये नहीं हैं, मेरे भाई के पास लाखों रुपये हैं...' यह व्यक्ति अपने भाई के रुपयों को ही देखा करता है और इस बात से वह दुःखी है...

- एक महानुभाव कहते हैं : 'मेरे पास लाखों रुपये हैं, परन्तु समाज में मेरी गिनती नहीं होती है, मेरा मित्र समाज में प्रमुख व्यक्ति माना जाता है...' ये महानुभाव मित्र की सामाजिक प्रतिष्ठा को देखकर दुःखी है।

- मनुष्य के पास जो होता है, उससे उसको संतुष्टि नहीं है। जो सुख

यही है जिदगी**१८३**

उसके पास नहीं है, इससे वह दुःखी होता है। एक सामान्य बात भी मनुष्य क्यों नहीं समझता है कि एक मनुष्य के पास सभी प्रकार के सुख नहीं हो सकते। जो सुख अपने पास हो, उसमें संतोष मानना और दूसरों का सुख देखकर प्रसन्न होना ही सुख का सच्चा मार्ग है।

- परसुखतुष्टिर्मुदिता।

दूसरों के सुख देखकर संतुष्ट होना 'मुदिताभावना' है, यानी प्रमोद भावना।

प्रमोद भावना से प्रभावित मनुष्य कभी अपने आपको दुःखी अनुभव नहीं करता है। वह सदैव सुखी होता है।

- मन को बदलना पड़ेगा। विचारधारा बदलनी पड़ेगी। मनुष्य बदल सकता है अपनी विचारधारा को। मानसिक दुःखों से तभी मुक्ति मिल सकती है।



हे भगवंत!

मुझे नहीं चाहिए ज्ञान, मुझे नहीं चाहिए अज्ञान... मुझे चाहिए विशुद्ध प्रेम। ज्ञान ने मुझे अभिमानी बनाया है, अज्ञान ने मुझे उदंड बनाया है।

हे वीतराग!

मुझे नहीं चाहिए पवित्रता, मुझे नहीं चाहिए अपवित्रता.. मुझे चाहिए विशुद्ध प्रेम। पवित्रता ने मुझे चिंतित बनाया है, अपवित्रता ने मुझे अशान्त-व्याकुल बनाया है।

हे अरिहंत!

मुझे नहीं चाहिए धर्म, मुझे नहीं चाहिए अधर्म... मुझे चाहिए विशुद्ध प्रेम! धर्म ने मुझे रजोगुण दिया है, अधर्म ने मुझे तमोगुण दिया है...।

हे करुणामय!

मुझे विशुद्ध प्रेम प्रदान करो।

समग्र जीवसृष्टि को मैं मित्रता प्रदान कर सकूँ। सारी सृष्टि मुझे मित्रता की दृष्टि से देखे। आप ही ऐसी दिव्य दृष्टि प्रदान कर सकते हैं। मैंने आपकी शरण ली है, आप ही मेरे सर्वस्व हैं।

यही है जिंदगी**१८४**

आप मुझे दर्शन देंगे? मैं जानता हूँ कि आप अरूपी हैं, इसलिए मैं आपका दर्शन नहीं कर सकता, परन्तु मैंने यह भी जान लिया है कि आप 'रूपी' भी हैं! आपके दर्शन कोई कर सकते हैं, परन्तु तब तो दर्शन की प्यास ही नहीं रहती है न? बिना प्यास, दर्शन का आनंद कैसे मिलेगा? जब प्यास है दर्शन की, आप मेरे लिये 'अरूपी' रहते हैं... जब दर्शन की प्यास ही नहीं रहेगी, आप मेरे लिये 'रूपी' बनेंगे... क्या मतलब? क्या मेरे हृदय में विशुद्ध प्रेम पैदा होगा तब दर्शन देंगे? तो शीघ्र ही मेरे हृदय को उस प्रेमामृत से भर दो।

हे अंतर्यामी।

आप मेरे निर्दभ हृदय को जानते हैं। आप मेरे आर्तनाद को सुनते हैं। आप मेरे मनोभाव को प्रत्यक्ष देखते हैं... फिर भी आप उदासीन भाव क्यों धारण किये बैठे हो? या तो आप मुझे स्पष्ट कह दें : 'तू अयोग्य है... तेरी पात्रता नहीं है... तुझे विशुद्ध प्रेम नहीं मिल सकता...' आप चाहें जितने प्रहार करें...

तो फिर मुझे योग्यता-पात्रता कौन प्रदान करेगा? आप ही को प्रदान करनी होगी... क्योंकि आपके सिवा और किसी से भी मैं याचना नहीं करता, नहीं करूँगा।



८६. आनंदमय जीवन हो

उपनिषद् के पौर ऋषि को शिष्य ने प्रश्न किया :

‘गुरुदेव, जीवनदर्शन क्या है?’

पौर ऋषि ने कहा : ‘आनंद!’

‘प्रभो, हमें जीवनदर्शन कराने की कृपा करें।’

‘वत्स, इस एक शब्द में ही जीवनदर्शन समाया है।’

‘महात्मन्, हम नहीं समझ पाये...।’

‘आनंद अपने जीवन का उद्भवस्थान है। आनंद ही अपना केन्द्रबिन्दु है, आनंद अपना स्वभाव है... और आनंद ही अपना अन्तिम लक्ष्य है।’

- आनंद अमृत है!

विषयानन्द नहीं, आत्मानन्द अमृत है।

प्रिय विषयों के अभाव में आनंद की अनुभूति होती रहे, वैसी साधना आवश्यक है।

- मैंने ऐसे लोग देखे हैं कि जो शास्त्रज्ञ हैं... परन्तु विषाद से मुक्त नहीं हैं।

मैंने ऐसे लोग देखे हैं कि जो मंदिरों में जाकर परमात्मा की पूजा करते हैं, परन्तु उद्वेग से मुक्त नहीं हैं।

मैंने ऐसे लोग देखे हैं कि जो घोर तपश्चर्या करते हैं, परन्तु उनकी मुखाकृति पर उदासीनता छायी हुई है।

इन लोगों के पास ‘आनंद’ नाम का अमृत नहीं है। ये लोग स्वभाव दशा से हजारों कोस दूर होते हैं।

- प्रतिक्षण आनंदमय होना चाहिए।

कोई खेद नहीं, कोई उद्वेग नहीं, कोई विषाद नहीं।

- पूर्ण ज्ञानी पुरुषों ने कहा है कि श्रद्धावान्, ज्ञानवान् और चारित्रवान् मनुष्य कभी भी खेदयुक्त, विषादयुक्त नहीं होता है।

- आँखों में आनंद हो।

- होठों पे आनंद हो।

यही है जिंदगी

१८६

- शब्दों में आनंद हो।

- दिल में आनंद हो।

- मन में से आनंद की अविरत धारा प्रवाहित हो। कैसी भी बाह्य परिस्थिति हो... धन चला गया हो, स्नेही-स्वजनों का वियोग हो गया हो... दुनिया ने कलंकित कर दिया हो... शरीर रोगग्रस्त बन गया हो... फिर भी मन में से आनंद का प्रवाह बहता रहे।

- एक दिन, स्वामी रामतीर्थ को सरदार पूरणसिंह ने पूछा था : 'आपके ज्ञान का रहस्य क्या है?'

'मेरे ज्ञान का रहस्य इतना ही है : हर हालत में खुश रहना।'

'इससे क्या लाभ?'

'जब से मैं पूर्ण निश्चित बना हूँ तब से सृष्टि की शहनशाहत का अनुभव करता हूँ।'

- कितनी अच्छी और रहस्यपूर्ण बात कही है स्वामी रामतीर्थ ने? सम्यग्ज्ञान मनुष्य को निश्चित निर्भय बनाता ही है। निश्चित-निर्भय बना मनुष्य सदैव आनंद का अनुभव करेगा ही।

- आनंदपूर्ण व्यक्ति के सान्निध्य मात्र से ही दूसरों के क्लेश-उद्वेग दूर हो जाते हैं।

- जिन लोगों के निकट ऐसे आनंदपूर्ण व्यक्तित्व वाले महापुरुष हों, वे धन्य बनते हैं। ऐसे महापुरुषों के सान्निध्य से जिनको आनंद का अमृत प्राप्त होता है, वे धन्यातिधन्य बनते हैं।

- आनंद का अभ्यास करना चाहिए। जब कभी प्राकृतिक सौन्दर्य से हरे-भरे क्षेत्र में जाएँ, आँखें मूंदकर... प्रकृति का ही, प्रफुल्ल प्रकृति का ही दर्शन करें... आनंद को भीतर में भरते रहें।

- जब कभी किसी रमणीय तीर्थ में जाएँ... लोगों की भीड़ न हो, कोलाहल न हो... नयनरम्य परमात्म-प्रतिमा के सामने बैठ जाएँ... आँखें मूंदकर उस पवित्र वातावरण को भीतर में भरें... आनंद से परिपूर्ण परमात्मा से आनंद प्राप्त करें।

- जब कभी किसी प्रसन्नमना महामुनि के पास जाएँ... उनके सामने मौन बैठ कर, आनंद की अनुभूति करें।

यही है जिंदगी

१८७

- जब कभी किसी दुःखी जीवों की सहायता कर, उनके विषाद को दूर करें, उनके मुख पर आनंद के फूल खिलें... तब आप भी आनंद से भर जाया करें।

शांतिनिकेतन में कविवर रवीन्द्रनाथ, अपने निवासस्थान के आगे मैदान में बैठे थे। आँखें बंद थी और होठों पर स्मित था। कलाकार नंदलालबाबू आकर पास में ही बैठ गये थे। रवीन्द्रनाथ ने जब आँखें खोलीं... नन्दबाबू को देख, पूछा :

‘कब आए नन्दबाबू?’

‘आधा घण्टा हुआ, आप भावसमाधि में थे...’

‘मैं आनंद का अभ्यास कर रहा था।’

‘आनंद का अभ्यास? वह कैसे?’

‘हाँ, ऐसे मधुर और तेजोमय वातावरण को हृदय में भरते रहने से आनंद का अभ्यास होता है। नंदबाबू, आनंद तो अमृत है अमृत!

- सभी जीव आनंद को प्राप्त करें...

- सभी जीवों के खेद... उद्देग... विषाद दूर हों...



८७. अपने को ऊँचाइयों पर पहुँचना है

एक प्रश्न : ऐसा पुरुष कहाँ मिलेगा कि जो चंदन सा हो, जो स्वाति की जलबूंद सा हो? जो पारसमणि सा हो? जो कल्पवृक्ष का जीवंत उदाहरण हो?

- मेरे पास इस प्रश्न का उत्तर नहीं है। कुल के जैन और वेश के साधु बढ़ते जा रहे हैं... परन्तु वे इस प्रश्न के उत्तर नहीं बन सकते।

- उदात्त, भावनाशील और महान आदर्शों को जीने वाले मनुष्यों का अकाल पड़ा है। ऐसे लोग ही देश का, समाज का, धर्म का और समय का सौभाग्य होते हैं। ऐसे पुरुष ही सृष्टि का जीवन्त वैभव होते हैं। आज वह वैभव कहाँ है?

- आज कितने लोगों के सीने में हृदय धड़कते हैं? कितने लोगों में भावना, संवेदना... करुणा नाम के तत्त्व जीवन्त हैं? कितने लोगों में ममता, आत्मीयता, शालीनता और स्नेह-सौजन्य का अमृत पाया जा सकता है?

- तो फिर चन्दन से लोग... पारसमणि से लोग... कल्पवृक्ष से लोग कहाँ मिल सकते हैं?

- गुणात्मक व्यक्तित्व की उपेक्षा कर, आध्यात्मिक उन्नति की उपेक्षा कर, आज मनुष्य, दिव्य विभूतियाँ और सिद्धियाँ प्राप्त करने के दिवास्वप्न देख रहा है...।

- और ऐसे दिवास्वप्न दिखाने वाले, केवल कुछ कर्मकांड के आधार पर चमत्कार दिखाने की उपहासास्पद बातें करते हैं। भले दिखायें वे चमत्कार, परन्तु उसको अध्यात्म नहीं कहा जा सकता। जादूगरी कह सकते हैं। अध्यात्म इससे भिन्न है।

- विनाशक विभीषिकाओं से भरे आपत्तिकाल में से हम गुजर रहे हैं। आध्यात्मिक साधनाएँ या चर्चा करने वाले मूक दर्शन कर रहे हैं... वे निराश दिखाई पड़ते हैं...।

- उज्ज्वल भविष्य की संरचना क्या असंभव है? न धन की कमी है, न साधनों की। न शिक्षा की कमी है, न कला की। न शास्त्रों की कमी है, न विद्वानों की।

यही है जिदगी

१८९

- परन्तु कमी है, चन्दन से मानवों की। कमी है, कल्पवृक्ष से महामानवों की...।

- यह क्षतिपूर्ति मनुष्य ही कर सकता है न?

- देश, समाज, धर्म और व्यक्ति की गरिमा, पहाड़ जितने ग्रन्थों से और आकाश चूमने वाले मन्दिरों से ही नहीं है। उनकी गरिमा होती है हेमचन्द्राचार्यों से, कलिकाचार्यों से, कुमारपालों से और वस्तुपाल-तेजपालों से...। यदि उनका अभाव रहा तो हमारे समृद्ध ज्ञानभंडार और हजारों जिनालय भी सुरक्षित नहीं रह सकेंगे।

- समय की महती समस्याओं के समाधान के लिए अनिवार्य आवश्यकता है, महामानवों की परम्परा की। पुराने महापुरुष अस्त हो चुके हैं या अस्त हो रहे हैं। जो जीवित हैं उनके बुझने का समय निकट है।

- आने वाला समय घोर संघर्ष का है। संकट सघन है। अनेक बुराइयों से जूझना होगा और अनेक सत्प्रवृत्तियों के बाग लगाने होंगे। दोहरी जिम्मेदारी है।

जिनके हृदय में अमीरी का व्यामोह है, जिनके दिल में विलासिता की आग जलती है, ऐसे पामर लोग... चाहे कुछ घंटों के लिये... या कुछ दिनों के लिये... 'शासन सेवक' बनने के अहंकार का प्रदर्शन करते रहें, ऐसे लोग दोहरी जिम्मेदारी नहीं निभा सकते।

- महामानवों का निर्माण करना, इस समय का श्रेष्ठ कर्तव्य है। दूरदर्शिता अपनाती होगी, धैर्यपूर्वक प्रतिफल की प्रतीक्षा करनी होगी। श्रेय पाने के लिये कुछ देर तो ठहरना ही पड़ता है।

- दूरदर्शिता का अभाव दिखाई देता है, धर्मक्षेत्र में। धर्मक्षेत्र में आपस के झगड़े इस बात के साक्षी हैं। दूरगामी परिणामों को नहीं देखने से घाटा ही घाटा है।

- किसी भी उपाय से महामानवों की पंक्ति में बैठ जाने का मोह, 'कृत्रिम महामानवों' को पैदा कर रहा है। थोड़ा-सा धन देकर, थोड़ा-सा समय देकर... थोड़ा-सा श्रम देकर... 'महामानव' नहीं बना जा सकता। महामानव की पंक्ति में बैठने के लिए तो मनुष्य को समर्पित होना पड़ेगा, पूरा का पूरा समर्पित होना पड़ेगा। अपने स्वार्थों का विसर्जन करना होगा।

- आत्मनिरीक्षण, आत्मसुधार और आत्मविकास की साधना आरम्भ कर

यही है जिंदगी**१९०**

देनी पड़ेगी। केवल मनोकामनाओं की पूर्ति और चमत्कारों का मनोरथ बाँधते हुए देवदर्शन, देवपूजा, गुरुदर्शन... या धर्मक्रियाएँ करते रहने से महामानव नहीं बना जा सकता।

- याद रखें, अपनी सत्ता एवं गरिमा व्यापक है। कूपमंडूक की तरह या पिंजरे के पक्षी की तरह सीमाबद्ध रहकर जीवन व्यतीत करना शोभारूप नहीं है। संकीर्णता का त्याग करें, विशाल क्षेत्र में प्रवेश करने के लिए कटिबद्ध बनें।

- हमें तो चाहिए चन्दन से महापुरुष! कल्पवृक्ष से महापुरुष! स्वाति की जलबूंद से महापुरुष! पारसमणि से महापुरुष!



८८. जीवन-सफर आनंद से परिपूर्ण हो

‘ऑबर्न’ नाम के पहाड़ पर एक कब्र है। उस पर संगमरमर का एक छोटा पत्थर लगा हुआ है, उस पर सिर्फ चार शब्द अंकित हैं : ‘वह खूब हँसमुख थी।’

- इस एक वाक्य में से संपूर्ण जीवन की रसमयता टपकती है। उस स्त्री ने अपनी स्वर्ग की यात्रा को बसन्ती पवन की लहरों से भर दिया होगा।

- जीवन एक यात्रा है।

यात्रा तो हँसते-हँसते करनी चाहिए न?

यात्रा में शोक-उद्वेग नहीं चाहिए, यात्रा में ग्लानि और विषाद नहीं चाहिए। यात्रा में उदासी नहीं चाहिए।

- यात्रा में तो प्राण प्रफुल्लित होकर खिल उठने चाहिए। उमंग और उत्साह से परिपूर्ण रहने चाहिए।

- प्रतिपल चेतना आनंद से... उल्लास से छलकती रहनी चाहिए। वह आनंद और उल्लास आँखों से बरसता रहना चाहिए।

- ‘मेरी आत्मा का स्वभाव ही आनंद है।’ यह सत्य बार-बार स्मृति में आना चाहिए। आनंद-स्वभाव की पुनः-पुनः स्मृति, मन को सदाबहार बनाये रखेगी।

- यदि आनंद का, खुशी का आधार, बाह्य दुनिया में खोजेंगे, तो वह आनंद-वह खुशी क्षणजीवी बनेंगे। इससे स्थायी आनंद नहीं मिलेगा।

- आनंद का केन्द्र खुलना चाहिए भीतर में। ऐसा ‘पीन पोईन्ट’ खुल जाना चाहिए कि वहाँ से आनंद की धारा बहती ही रहे।

- हमारे प्रिय व्यक्ति न हों, प्रिय पदार्थ न हों, तब भी हमारे भीतर का प्रवाह बहता ही रहे।

- बाह्य दुनिया की घटनाओं से अपने मन को प्रभावित नहीं होने देना चाहिए। निर्बल मन के लोगों पर बाहरी घटनाओं का शीघ्र प्रभाव पड़ता है, इसलिए वे राग-द्वेष के द्वन्द्वों में फँस जाते हैं और आनंद से वंचित हो जाते हैं।

- बाह्य परिस्थितियों से मन प्रभावित हो जाए, तो तुरन्त जाग्रत बनकर, उन प्रभावों को धो डालो। शरीर गंदा होता है तो उसे धो देते हैं न? कपड़े

यही है जिंदगी

१९२

गंदे होते हैं तो धो डालते हैं न? वैसे मन पर पड़े हुए बुरे प्रभावों को अविलंब धो डालो।

- तत्त्वचिन्तन से धो डालो...
- परमात्म-भक्ति से धो डालो...
- गुरुसेवा से धो डालो...
- जब अपनी इच्छा के अनुकूल कुछ नहीं होता है,
- जब इच्छा के प्रतिकूल कुछ करना पड़ता है,
- जब अप्रिय... कटु शब्द सुनने पड़ते हैं...

तब खेद... ग्लानि... विषाद से मन भर जाता है। दुःख और वेदना से मन कराहता है। जीवन अर्थहीन लगता है। 'हम आनंद से कैसे जीयें? कोई इच्छा सफल ही नहीं होती है... न पैसा... न प्रेम... न प्रकाश...!'

- तत्त्वचितन की महत्ता यहीं स्थापित होती है। तत्त्वचितन, आत्मचितन... मनुष्य के लिए यहीं सहारा बन जाता है।

- सूर्य के प्रकाश में घी या तेल के दीपक महत्त्व नहीं रखते हैं। अन्धकार में, घोर अन्धकार में ही दीपक की महत्ता स्थापित होती है।

- सुखों के हजारों सूर्य जीवन-आकाश में झगमगाते हों... उस समय तत्त्वचितन का दीपक अर्थहीन लग सकता है, परन्तु सूर्यास्त होने पर... घोर अन्धकार छा जाने पर, दीपक अर्थपूर्ण बनता है।

- परन्तु घर में दीपक तैयार पड़ा हो तो ही जरूरत पड़ने पर जलाया जा सकता है न? दीपक तैयार ही न किया हो तो?

- जिस गाँव में 'बिजली' कभी भी चली जाती है, 'बिजली' पर भरोसा नहीं होता है... वहाँ लोग घर में तेल के दीपक या मोमबत्ती तैयार रखते हैं।

बिजली चली जाने पर तुरन्त दीपक या मोमबत्ती जला लेते हैं।

- संसार के, भौतिक सुख भी वैसे ही हैं... भरोसे के लायक नहीं हैं। कभी भी वे सुख चले जा सकते हैं... उस समय हमारे पास तत्त्वचिन्तन के रत्नदीपक तैयार होने चाहिए, वे दीपक हमें रोशनी देते रहेंगे। हमारा आनंद अखण्ड रहेगा।

- हमें तप-त्याग की आराधना भी आनंद से करनी चाहिए। हमें ज्ञानोपासना भी आनंद से करनी चाहिए। हमें व्रत-नियमों का पालन भी आनंद से करना

यही है जिंदगी**१९३**

चाहिए। हमें दान देना है आनंद से, हमें शील का पालन करना है आनंद से, हमें परमार्थ-परोपकार करना है आनंद से।

- हमें संयम-जीवन जीना है - वह भी आनंद से। न हो हमारे हृदय में ग्लानि, न हो हमारे मुख पर उदासी, न हो हमारे कार्यकलापों में खेद, न हो हमारी वाणी में विषाद।

- साधक की हर साधना, उपासक की हर उपासना मग्नता से परिपूर्ण होनी चाहिए।

- चलो... परमात्मा से मिलकर प्रार्थना करें :

‘हे आनंद सिन्धु! सभी जीवों के शोक-उद्वेग दूर करने की कृपा करो। सभी जीवों को आनंद से पल्लवित करो। सभी जीवों को... सभी दिशाओं से आनंद धाराएँ मिलती रहे।



८९. समय को सम्हाल कर रखें

वर्ट्न्ड रसेल ने लिखा है : 'फुरसत का समय बुद्धिपूर्वक भर देने की शक्ति होना संस्कृति का अन्तिम प्रदान है।'

परन्तु '**रस्किन**' तो कहता है कि मनुष्य को फुरसत ही नहीं होनी चाहिए। उसने लिखा है : 'यदि तुम्हें ज्ञान की प्यास है तो तुम्हें परिश्रम करना होगा। यदि तुम्हें खुराक की आवश्यकता है तो भी तुम्हें मेहनत करनी होगी। यदि तुम्हें खुशी चाहिए, तो भी मेहनत के बिना नहीं मिलेगी। मेहनत ही कानून है।'

- जो मनुष्य आरामप्रिय होता है, किसी भी प्रकार की मेहनत करना नहीं चाहता।

- आरामतलब व्यक्ति यदि थोड़ा बुद्धिमान होगा तो वह हर बात में आरामप्रियता की वकालत करता रहेगा।

- आलसी और प्रमादी मनुष्य अपनी फुरसत के समय का उपयोग बुद्धिपूर्वक नहीं करते।

- वही आलसी और प्रमादी होता है, जिसको समय की संपत्ति का मूल्यांकन करना नहीं आता है। कुछ भी निर्माण की दृष्टि जिनके पास नहीं होती है।

- जो व्यक्ति अपने कर्तव्यों को नहीं समझते हैं, जो व्यक्ति अपने कर्तव्यों के प्रति उदासीन होते हैं, वे लोग तन-मन की शक्ति होने पर भी मेहनत, पुरुषार्थ नहीं करते हैं। ऐसे लोग परिवार में अप्रिय बनते हैं, समाज में नगण्य बनते हैं।

- हर कार्य की सफलता का आधार मनुष्य का पुरुषार्थ है, मेहनत है। थके बिना मेहनत करने वाला मनुष्य ही सफलता के शिखर पर पहुँचता है।

- मेहनत करते-करते जब विश्राम की आवश्यकता हो, विश्राम कर लें। परन्तु विश्राम के समय का उपयोग भी बुद्धिपूर्वक कर लें। हर क्षण को 'शुभनिर्माण' की जननी बना लें। क्योंकि मनुष्य-जीवन की एक-एक क्षण 'शुभ-जननी' बना लेने में ही बुद्धिमत्ता है।

- जैसे व्यसनी लोग, व्यसन सेवन में संपत्ति का दुर्व्यय करते हैं, वैसे आलसी-प्रमादी लोग समय का दुर्व्यय करते हैं।

- निकम्मे... आलसी मनुष्य ही घर में, समाज में और नगर में उपद्रव पैदा

यही है जिदगी

१९५

करते रहते हैं। अर्थहीन चर्चाएँ करते रहते हैं। निन्दा-रस के प्याले पीते रहते हैं।

- ऐसे लोगों का जन्म-जीवन और मृत्यु, कोई महत्त्व नहीं रखता। जनमानस पर, ऐसे लोगों की स्मृति भी नहीं रहती।

- कार्यक्षेत्र कोई भी हो, बुद्धिमत्ता से, पूरी लगन से यदि मेहनत की जाय, तो वह कार्य ही व्यक्ति का भव्य-स्मारक बन जाता है।

- सम्राट संप्रति ने सवा लाख जिनमंदिरों का निर्माण करवाया था और सवा करोड़ जिनप्रतिमाएँ बनवायी थीं। छोटे से जीवन में इतने बड़े कार्य, सुदीर्घकालीन मेहनत के बिना हो सकते हैं क्या?

- आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी ने अपने श्रमण-जीवन के छोटे से काल में १४४४ गंभीर ग्रन्थों का सर्जन किया था, कैसी कड़ी मेहनत की होगी?

- आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरिजी ने साढे तीन करोड़ संस्कृत-प्राकृत श्लोकों की रचना की थी। ज्ञानोपासना के, साहित्य सर्जन के क्षेत्र में कैसी अद्भुत साधना की थी उन्होंने?

- प्रसिद्ध वैज्ञानिक 'एडिसन' का एक मित्र लिखता है : 'मैं एडिसन को उस समय से जानता हूँ, जबकि वह अभी चौदह वर्ष की आयु का ही था। मैं अपने निजी ज्ञान के भरोसे से कह सकता हूँ कि उसने जीवन में कभी... एक दिन भी सुस्ती या शिथिलता में नहीं गुजारा। निद्रा के क्षणों को छोड़कर वह सदैव कुछ न कुछ सीखने में ही लगा रहता था।'

- आलस्य, सभी क्षेत्रों में - यानी धार्मिक क्षेत्र में, व्यावहारिक क्षेत्र में, राजनैतिक क्षेत्र में... मनुष्य का कष्टर शत्रु है। आलस्य, मनुष्य को तन-धन से तो गिराता ही है, बुद्धि से भी गिराता है।



- हे प्रभो, मैं कभी भी बाह्य अथवा आन्तरिक पुरुषार्थ करने में आलसी न बनूँ, कर्तव्यपालन के सत्कर्म करने में सुखशील न बनूँ और परोपकार करने में एक क्षण का भी विलम्ब न करूँ, ऐसी मुझ पर कृपा करना।

- हे अनंत शक्ति! तू तेजरूप है, मुझे तेज देना। तू वीर्यरूप है, मुझे वीर्यवान बनाना। तू बलरूप है, मुझे बलवान बनाना। तू ओजस है, मुझे ऊर्जस्वी बनाना। तू पुण्यप्रकोप है, मुझे पुण्यप्रकोप देना।

यही है जिंदगी**१९६**

- हे परमात्मन्!

मुझे प्रतिपल, प्रतिक्षण तेरे ही कार्यों में नियुक्त कर। मैं निरन्तर कार्यरत रहूँ, एक पल का भी प्रमाद किये बिना। मुझे तेरे ही काम करने हैं।

- जहाँ धिक्कार है, वहाँ प्रेम बहाना है।

- जहाँ शंका है, वहाँ श्रद्धा पैदा करनी है।

- जहाँ हताशा है, वहाँ आशाओं का संचार करना है।

- जहाँ शोक है, वहाँ आनंद बिखरेना है।



९०. प्यारभरी चाहना

हे परमात्मन्!

- 'कभी-कभी मेरी भी भूल हो सकती है,' ऐसा दिव्य बोध मुझे देने की कृपा करना।

- 'हर प्रसंग में और हर विषय में मुझे कुछ कहना ही चाहिए,' ऐसा मानने की मेरी दुष्ट आदत से मुझे बचा लेना।

- 'मैं सबकी सारी समस्याओं का समाधान करता रहूँ,' इस दुस्साहस से मुझे रोकना।

- 'मैंने तुझसे शक्ति माँगी थी कि जिससे मैं सिद्धि प्राप्त कर सकूँ, परन्तु तूने मुझे निर्बलता दी... प्रभो, मुझे तेरा प्रदान स्वीकार है, मैं तेरी आज्ञा का पालन कर सकूँगा।'

- मैं तेरा उपकार मानता हूँ क्योंकि तूने समृद्धि नहीं दी, तूने मुझे दरिद्रता दी... मैं दरिद्रता में ज्यादा समझदार बनूँगा!

अच्छा किया तूने मुझे सत्ता नहीं दी, सत्ता में मैं लोगों की प्रशंसा पाता... परन्तु तूने मुझे निर्बलता दी... इससे मैंने तेरी प्रतिपल आवश्यकता महसूस की है।

हे भगवन्!

मैं इस दुनिया की ओर ही देखता रहा हूँ... यह देखना कब बंद होगा? तेरी ओर देखना कब प्रिय लगेगा? तू ही ऐसी कृपा कर कि तेरी ओर ही मेरा मन देखता रहे।

मैं तुझे कभी भी भूल न सकूँ, वैसा यदि कर दे और मेरे हृदय को इस संसार के जाल में फँसने न दे... तो फिर तेरी हर आज्ञा का पालन करने के लिए तैयार हूँ।

हे नाथ!

'मुझे सुख देना,' ऐसी याचना मैं नहीं करता हूँ, परन्तु 'दुःख सहने की मुझे शक्ति देना,' ऐसा तो मैं माँग सकता हूँ न?

जितना इस संसार में भटकना होगा... भटकता रहूँगा... परन्तु बाद में मैं

यही है जिदगी

१९८

तेरे ही चरणों में आ सकूँ... और मेरी सारी थकान दूर हो जाये, ऐसी कृपा मुझ पर बरसाना...।

हे कृपानिधि!

संसार में मुझे जितने नुकसान होने हों, हो जाये। संसार में मेरे साथ जितनी प्रतारणा होनी हो, हो जाये; परन्तु मेरे हृदय में इन बातों का गम न हो - इतना कर दोगे?

‘मेरे कष्टों का बोझ आप उठा लो...’ ऐसा मैं कभी नहीं कहूँगा, परन्तु वह बोझ उठाने की मुझे शक्ति तो दोगे न?

जब वेदनाओं के घनघोर बादल घिर आयें... और पैरों के नीचे से धरा फिसल जाती हो... उस समय भी, ‘आप मेरे साथ हो ही,’ ऐसी मेरी श्रद्धा बनी रहे... वैसा तो कर दोगे न?

हे दिव्यातिदिव्य!

इतना चाहता हूँ कि प्रति प्रभात में, मुझे आपके दर्शन हों! आपका मिलन हो... बस, फिर सुख मिले या दुःख मिले... मैं सब कुछ सहन कर लूँगा। कोई शिकायत नहीं करूँगा कि ‘आपके होते हुए मुझे दुःखों ने क्यों घेर लिया है?’

हे जगबन्धु!

तेरा बताया हुआ मार्ग मुझे अच्छा लगता है, परन्तु उस मार्ग पर चलने की मेरी शक्ति नहीं है... फिर भी मैं उस मार्ग पर चलने की बाल-चेष्टा करता हूँ। गिरता हूँ... चोट भी आती है... फिर खड़ा होकर चलता हूँ... कभी थोड़ी देर के लिये मार्ग से नीचे भी उतर जाता हूँ...।

मैं कोई महान साधक नहीं हूँ... ‘मैं आपका अनन्य भक्त हूँ,’ ऐसा भी मेरा कहना नहीं है... प्रभो, हाँ, मैं आपसे प्रेम करता हूँ...’ इतना तो कहूँगा। क्या मैं आपके पास पहुँचूँगा?

सघन रात्रि है,

मार्ग अनजान है,

विघ्न है, भय है...

आना आपके पास है...

क्या होगा, मैं नहीं जानता हूँ। एक बात निश्चित कर ली है ‘आपके पास पहुँचना है।’

यही है जिंदगी**१९९**

यदि यह संभव न हो तो आप मेरे पास पहुँच जाना... क्योंकि आप तो सर्वशक्तिमान् हैं।

हे करुणासिन्धु!

आपने कहा है : 'सभी जीव को अपने मान कर जीवन जीना', मैं वैसे ही जीऊँगा, सभी जीवों को मेरे मित्र मान कर...।

आपने कहा है : 'तेरा कोई नहीं है... ऐसा मानकर मृत्यु के लिए तैयार रहना... प्रतिपल,' मैं वैसे ही तैयार रहूँगा... मृत्यु के इन्तजार में। मृत्यु तो आपके क्षेत्र में प्रवेश पाने का द्वार है न प्रभो?



९९. परमात्मा का प्रभाव

जो जाणदि अरिहंते

दव्वत्तगुणत्तपज्जवत्तेहिं ।

सो जाणदि अप्पाणं

मोहो खलु तस्स जादि लयं ॥

‘जो अरिहंत को द्रव्य से, गुण से और पर्याय से जानता है, वह आत्मा को जानता है और उसका मोह नष्ट होता है।’

‘प्रवचनसार’ का यह कथन जब पढ़ा तब मेरा मन उल्लसित हुआ। मोहनाश का श्रेष्ठ और सरल उपाय मिल गया! ‘अरिहंत’ परमात्मा को, उनके गुणपर्यायों को गाते हुए स्मृतिपथ में लाने का प्रयत्न किया। इस प्रयत्न में सहायक बना है एक प्राचीन ग्रन्थ ‘अर्हन्नमस्कारावलिका’। हालाँकि यह ग्रन्थ प्राकृत-गद्य है...! ‘अरिहंत’ विषयक चिन्तन-परिभावन के लिए अत्यन्त उपयोगी है। मेरे लिए तो यह ग्रन्थ काफी उपयोगी सिद्ध हुआ है।

आईए, ‘अरिहंत’ परमात्मा को, उनकी अलौकिक विशेषताओं को गाते हुए, उनके पावन चरणों में वन्दना करें-

हे भगवन्त! आप माता के उदर में आते हैं तब माता चौदह स्वप्न देख कर हर्षित होती है। समग्र विश्व को हर्षित करने का प्रारम्भ माता से ही हो जाता है!

हे परमात्मन्! माता के उदर में - गर्भावास में भी आपको तीन ज्ञान होते हैं - मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान। गर्भावस्था में भी आपके पास श्रेष्ठ प्रज्ञा होती है, समग्र शास्त्रों का ज्ञान होता है और आत्मप्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

हे जिनेश्वर! जब आपका जन्म होता है, तब देवेन्द्र आपको मेरुगिरि पर ले जाते हैं। ६४ इन्द्र मिलकर आपको नहलाते हैं! हर्षान्वित होकर आपके सामने नृत्य करते हैं। वे जानते हैं कि आपका जन्म जगत के जीवों के उद्धार के लिए हुआ है। आपका जन्म होते ही तीनों लोक में प्रकाश फैल जाता है और सभी जीव क्षणिक आनंद की अनुभूति करते हैं।

हे हितकारी! दिक्कुमारिकाएँ आपकी सेवा करती हैं अनन्य प्रेम से! देवेन्द्र कुसुमांजली से आपकी पूजा करते हैं अनन्य भक्ति से। क्षीरोदधि के जल से

यही है जिंदगी**२०१**

आपको नहलाते हैं... अनन्य प्रीति से। देवदुंदुभि से ब्रह्माण्ड को आंदोलित करते हैं अनन्य अनुराग से। गोशीर्ष चंदन से आपके शरीर पर विलेपन करते हैं, अनन्य उल्लास से। सुगंधी पुष्पों की मालाएँ आपके गले में आरोपित करते हैं, अनन्य उमंग से। कानों में कुंडल डालते हैं, हाथों में रत्नजड़ित कड़े डालते हैं, और मस्तक पर रत्नों से प्रकाशित मुकुट पहनाते हैं... अनन्य भक्तिभाव से।

हे सुखकारी! स्वर्ग की किन्नरियाँ आपके सामने नृत्य करती हैं... तब वीणावादन होता है, मृदंग बजता है, बांसुरी के सुर प्रस्फुटित होते हैं। तालबद्ध नृत्य करती हुई देवांगनाएँ पुनः-पुनः आपके चरणों में वन्दना करती हैं।

हे परमनाथ! हर्षातिरेक से देवगण जयनाद करते हैं। जयनाद करते हुए वे आपको माता के पास लाकर सुला देते हैं। देवेन्द्र आपके अंगुष्ठ में श्रेष्ठ सुधारस भर देता है... आप उसी सुधा को चूसते रहते हैं। आप स्तनपान नहीं करते।

हे वीतराग! आप भोजन/कवलाहार करते हैं, परन्तु छद्मस्थ जीव आपको आहार करते हुए नहीं देख पाते हैं। वैसे ही निहार-क्रिया भी छद्मस्थों के लिए अगोचर होती है। नहीं होता है आपके देह में प्रस्वेद, नहीं होती है कोई व्याधि और नहीं होता है मैल। श्वेत सुधा जैसा होता है, आपका खून और मांस। पारिजात की सौरभ जैसा होता है, आपका श्वासोच्छ्वास और शरीर पर होते हैं, एक हजार आठ सुलक्षण। हाथ में और चरणों में होते हैं छत्र, चामर, ध्वज, स्तंभ जैसे चिह्न।

ऐसे हे अरिहंत! आपको मेरी भाववन्दना हो।



९२. परमात्मा की जीवनयात्रा

हे अरिहंत! बाल्यावस्था में भी आप विशिष्ट ज्ञानी होते हैं। ज्ञानप्रकाश से आपकी प्रतिभा देदीप्यमान होती है। आपके ज्ञान से और आपके रूप से संसार के नर-नारी मुग्ध हो जाते हैं। आपके ज्ञान-विज्ञान का वैभव संसार को चकित कर देता है।

हे भगवंत! आपमें जवानी का उन्माद नहीं होता है। यदि आपका, संसार-सुख भोगने का 'कर्म' अवशिष्ट होता है तो आप निरागी चित्त से शादी करते हैं। संसार-सुख भोगते हुए भी आप विरक्त होते हैं। ज्यों ही वह प्रेरक कर्म नष्ट होता है, आप ब्रह्मचर्य को धारण करते हैं। शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श के विषयों में आप अनासक्त होते हैं। आत्मभाव में विशुद्ध अध्यवसायों में लीन रहते हैं।

हे प्रभो! आपका राज्यपालन करने का कर्म यदि शेष होता है तो आप राज्यपालन भी करते हैं। प्रजा का वात्सल्य भाव से पालन करते हैं फिर भी आपका हृदय विरागी होता है... आप प्रतिपल स्वभाव में जाग्रत होते हैं। जब राज्यपालन की अवधि पूर्ण होती है... 'लोकान्तिक देव' अपूर्व भक्तिभाव से आपके चरणों में आते हैं और विनम्र भाव से प्रार्थना करते हैं :-

‘भयवं! तित्थं पवत्तेहि’

‘भगवंत, धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करो’।

आप तो स्वयं संबुद्ध होते हैं। आपको किसी के भी धर्मोपदेश की अपेक्षा नहीं होती है। आपको किसी भी व्यक्ति की प्रेरणा की अपेक्षा नहीं होती है। आप तो अपने ज्ञान से आलोकित मार्ग पर चलते रहते हैं।

आप राज्यों में घोषणा करवाते हैं - ‘आईये, सबको इष्ट वस्तु प्राप्त होगी।’

आप एक वर्ष तक महादान देते हैं। लाखों लोगों की दरिद्रता आप दूर करते हैं। अपने कर्तव्य का पालन करते हुए देव आपके महल में धन का ढेर लगाते रहते हैं।

हे जिनेश्वर!

जब संसारवास का त्याग करने का दिन आता है तब देवेन्द्र इकट्ठे होते हैं और आपका अभिषेक करते हैं। श्रेष्ठ वस्त्र से आपकी कोमल देह को

यही है जिंदगी

२०३

जलरहित करते हैं। उत्तम वस्त्रों से आपकी पावन देह को सजाते हैं। आप देवनिर्मित शिबिका-पालकी में आरूढ़ होते हैं। लाखों मानव आपके दीक्षा-महोत्सव में सम्मिलित होते हैं।

हे वीतराग!

नगर के बाहर आकर सुंदर वृक्षघटा से सुशोभित उद्यान में, देवनिर्मित आसन पर बिराज कर आप अलंकार एवं वस्त्र का त्याग करते हैं। बाद में आप स्वयं अपने केशकलाप का लुँचन करते हैं। चारों तरफ असंख्य देव और मनुष्यों की भीड़ जमी हुई होती है। सभी विस्फारित नेत्रों से, एक निगाह से आपको निरखते हैं, सब मौन धारण किये होते हैं। वाजिंत्र भी मौन धारण कर लेते हैं... उस समय आप अनंत सिद्ध भगवंतों को वंदन करते हैं और सभी पापों के त्याग स्वरूप प्रतिज्ञा धारण करते हैं। रत्नत्रयी को ग्रहण करते हैं... महान चारित्रपथ पर आपका प्रयाण शुरू हो जाता है।

हे जगदानन्द!

आपको उसी समय निर्मल 'विपुलित मनःपर्ययज्ञान' प्रगट हो जाता है। दूसरे जीवों के मन के विचार पढ़ लेने का विशिष्ट ज्ञान आपको प्राप्त हो जाता है। परन्तु, जब तक आपको कैवल्य की प्राप्ति नहीं होती है तब तक आप मौन रहते हैं। क्षमा वगैरह दस प्रकार के श्रमण धर्म का आप पालन करते हैं।

हे अशरण शरण!

जब-जब मेरी कल्पना-सृष्टि में आपको मैं पृथ्वी पर विचरण करते देखता हूँ... आपकी निर्मम...निस्संग अवस्था देखता हूँ... निर्भय और निराकुल अवस्था का दर्शन करता हूँ... तब मेरा मन भी आपके पदचिह्नों पर चलने के लिए लालायित हो जाता है। मेरी यह लालसा, प्रभो! क्या कभी पूर्ण होगी?



९३. परमात्मा की साधना

हे वीतराग!

अणगार बन कर आप पृथ्वीतल पर विचरते हैं।

- आप कमल-पत्र की तरह निर्लेप होते हैं। कमल-पत्र के ऊपर पानी की बूंद भी नहीं चिपकती है! आपका आत्मभाव भी वैसा ही होता है। राग-द्वेष की एक बूंद भी आप पर नहीं चिपक सकती है।

- आपकी गति अप्रतिहत होती है जीव की तरह! आत्मा जब कर्मबंधन से मुक्त होती है... एक समय में ही सिद्धशिला पर पहुँच जाती है... मार्ग में कोई वस्तु गति में रुकावट नहीं कर सकती है... वैसे हे भगवंत! आप इस पृथ्वी पर भी अप्रतिहत गति करने वाले होते हो!

- आप गुप्तेन्द्रिय होते हो। जैसे कूर्म अपने अंगोपांगों को छिपाकर रखता है, वैसे आप अपनी इन्द्रियों की चंचलता को मिटा कर, शुभ योगों में प्रवृत्त करते हो।

- जैसे पक्षी निर्बंधन होकर आकाश में उड्डयन करता है, वैसे आप निर्बंधन होकर भावालोक में उड्डयन करते हो।

- 'भारंड' नाम का पक्षी जैसे अप्रमत्त भाव से जीवन जीता है वैसे आप भी अप्रमत्त भाव से अपनी जीवनयात्रा करते रहते हो। आपके तन-मन में तनिक भी प्रमाद को अवकाश नहीं होता है।

- जैसे बलिष्ठ वृषभ अकेला ही ३२ मण का बोझ वहन करता है, वैसे आप भी महाव्रतों का हजारों टन का बोझ वहन करते हो।

- कुँजर जैसे आप शूरवीर होते हो,

- सिंह के समान आप निर्भय होते हो,

- सागर जैसे आप गंभीर होते हो...

- पूर्णिमा के चन्द्र जैसे आप सौम्य होते हो।

- तपतेज से आप सूर्य के समान देदीप्यमान होते हो!

- संसार के जीवों को मैत्री, करुणा, प्रमोद और माध्यस्थ्य भावनाओं का उपदेश देकर हर्षविभोर करते हो। आधि-व्याधि से उत्पीड़ित जीवों के हृदय

यही है जिदगी

२०५

को हर्षान्वित करने का आपका उपकार अवर्णनीय है। शब्दों में कृतज्ञभाव कैसे व्यक्त करूँ?

- शारदीय जल कैसा निर्मल होता है! आपके आत्मभाव तो उससे भी ज्यादा निर्मल होते हैं... जीवोपकार के उत्कृष्ट भाव से आप ग्राम-नगरों की पदयात्रा करते रहते हो। जंगलों में... वृक्षों की घटा में... पर्वतों की गुफाओं में ध्याननिमग्न रहते हो।

- आप कितने उपसर्ग-परिषहों को समभाव से सहन करते हो! आप पृथ्वी जैसे सहनशील और मेरु जैसे निष्प्रकंप होते हो।

- जब तक केवलज्ञान प्राप्त न हो तब तक आप उग्र तपश्चर्या करते हो। किसी भाग्यवंत-पुण्यवंत गृहस्थ को ही आपको पारणा कराने का धर्मलाभ प्राप्त होता है। पारणा कराने वाला गृहस्थ धन्यातिधन्य हो जाता है।

- आप परिग्रह से सर्वथा मुक्त होते हैं। नहीं होता है बाह्य परिग्रह, नहीं होता है अभ्यंतर परिग्रह! न कोई आसक्ति, न कोई ममत्व!

- विशुद्ध ध्यानधारा में बहते हुए आप शुक्लध्यान में प्रवेश करते हो। चार घाती कर्मों का नाश कर आप सर्वज्ञ-वीतराग बन जाते हो।

- लोकालोक प्रकाशी केवलज्ञान की महिमा किन शब्दों में गाऊँ? ऐसा पूर्णज्ञान प्राप्त कर लिया आपने! देव-देवेन्द्रों ने स्वर्ग से आकर भव्य महोत्सव मनाया...! रजत, स्वर्ण और रत्नों से उन्होंने समवसरण की रचना की। दिव्य मणियों से सुशोभित सिंहासन पर आप आरूढ़ हुए। चारों दिशाओं में चार सिंहासन... और चारों दिशाओं में आपके दर्शन होते हैं।

- हे करुणानिधान! आज तो मैं केवल धर्मशास्त्रों के माध्यम से, कल्पनालोक में ही आपका दर्शन कर सकता हूँ... परन्तु कल्पना तो कल्पना ही होती है... कुछ क्षणों के लिए ही कल्पना होती है...। जब कल्पना का समय पूर्ण हो जाता है... मैं अपने आपको, विसंवादों से एवं व्यथाओं से पूर्ण इस संसार में खड़ा पाता हूँ। राग-द्वेष और मोह के बंधनों में जकड़ा हुआ पाता हूँ।

- कुछ क्षणों का भावालोक में होता हुआ आपका मिलन... क्या कभी शाश्वत मिलन में परिणत हो सकेगा?



९४. परमात्मा की धर्म-प्रभावना

हे तीर्थंकर देव!

जिस समवसरण में बिराजमान होकर आप धर्मतीर्थ की स्थापना करते हैं, उस समवसरण की कैसी अद्भुत शोभा होती है! संपूर्ण समवसरण के ऊपर अशोकवृक्ष छाया हुआ रहता है। आपके मस्तक के ऊपर तीन छत्र रहते हैं। मस्तक के पृष्ठ भाग में 'भामंडल' होता है। आपके दोनों तरफ देव चंवर लेकर खड़े होते हैं। आकाश में से देव कुसुमवृष्टि करते हैं। दुंदुभि बजाकर घोषणा करते हैं 'ओ देवो और मानवो! यहाँ आईये और त्रिभुवनतारक करुणासागर तीर्थंकर भगवंत की धर्मदेशना सुनिए।'

हे उत्कृष्ट पुण्यराशि!

आपका रूप उत्कृष्ट! आपका ज्ञान उत्कृष्ट!

आपका पुण्य उत्कृष्ट! आपके भाव उत्कृष्ट!

आपका सब कुछ उत्कृष्ट होता है!

आपके समवसरण में देव आते हैं, मनुष्य आते हैं, वैसे पशु और पक्षी भी आते हैं।

आपका धर्मोपदेश जैसे देव और मनुष्य समझते हैं, वैसे पशु और पक्षी भी समझते हैं।

जो आत्माएँ 'भव्य' होती हैं... कभी न कभी मोक्ष पाने वाली होती हैं... आपके दर्शन से उनके हृदयकमल खिल जाते हैं। आपका उपदेश सुनकर उनके प्रज्ञाकमल विकसित हो जाते हैं। उनकी मोहनिद्रा दूर होती है और वे आपकी चरण-शरण स्वीकार कर लेते हैं।

आप जिन प्रज्ञावंत पुरुषों को गणधर पद पर स्थापित करते हैं, उनको तीन पद प्रदान करते हो : 'उप्पन्नेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा।' वे प्रज्ञावंत गणधर ये पद सुनकर वहीं पर 'द्वादशांगी' (बारह धर्मशास्त्र) की, मानसिक भूमिका पर रचना कर देते हैं।

हे भगवंत!

आपके गणधरों के रचे हुए उन धर्मशास्त्रों के कुछ अंश ही आज हमको मिले हैं। उसे भी हम पूरा नहीं समझते हैं। अपनी-अपनी अल्प बुद्धि से सब

यही है जिदगी

२०७

उसका अर्थ करते हैं। विसंवादों की कोई सीमा नहीं है। न कोई अवधिज्ञानी महात्मा है... जिनके पास जाकर शंकाओं का समाधान कर सकें।

हे जिनेश्वर!

आपने साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका - इस प्रकार चतुर्विध संघ की स्थापना की। आपका यह चतुर्विध संघ एक जंगम महातीर्थ हो गया। जिस किसी व्यक्ति को भवसागर तैरना है, वह इस महातीर्थ की यात्रा करता है और पावन होता है। विश्व में यही एक ऐसा महातीर्थ है कि जिसको देव-देवेन्द्र भी नमन करते हैं।

हे करुणासिन्धु!

धर्मतीर्थ की स्थापना कर, आपने समग्र जीवसृष्टि पर महान उपकार किया है। एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय - समग्र जीवसृष्टि के प्रति दया-करुणा की वृष्टि की है। 'सभी जीवों को सुख प्रिय है, दुःख किसी को भी प्रिय नहीं है - इसलिए किसी भी जीव की हिंसा नहीं करनी चाहिए,' ऐसा उपदेश देकर जीवों को अभयदान दिया।

'अनेकान्तवाद' का सिद्धांत बताकर हर बात को सही अर्थ में समझने का मार्ग बताया। एकान्तवाद के दुराग्रह को मिटाने की दिव्य ज्ञानदृष्टि प्रदान की।

हे वीतराग नाथ!

आपके चरणों में विश्व की बड़ी-बड़ी विभूतियाँ नतमस्तक होती हैं। गहन से गहन प्रश्नों का समाधान, प्रज्ञावंत लोग आपसे पाते हैं। आपके सन्निधान मात्र से रोगी लोग नीरोगी हो जाते हैं। जहाँ-जहाँ आपका चरणस्पर्श होता है... वहाँ सुख, आनंद और उल्लास से वातावरण भर जाता है। हे नाथ, कब मुझे आपके चरणकमल की सेवा प्राप्त होगी? कब आपके वदन-कमल पर गुंजारव करने वाला भ्रमर बनूँगा?



९५. परमात्मा का विरह

हे अरिहंत भगवंत!

आपका गुणस्थानक तेरहवाँ होता है। शुक्ल लेश्या होती है। जब आपका आयुष्य पूर्ण होने वाला होता है... आप समवसरण में बिराज कर अन्तिम धर्मदेशना देते हैं।

अनादि संयोग से आत्मा के साथ लगे हुए अनंत-अनंत कर्मों का आप चौदहवें गुणस्थानक पर नाश कर देते हैं। औदारिक-तैजस् और कार्मण शरीर के बंधन टूट जाते हैं... एक समय में ही आपकी महान आत्मा सिद्धशिला पर पहुँच जाती है। आपको परम पद प्राप्त हो गया... आप सिद्ध-मुक्त बन गये... परन्तु भगवंत! आपके जाने से यहाँ... इस भरतक्षेत्र में तो घोर अंधकार छा गया है।

- राग-द्वेष के विपुल जल से भरे हुए संसार-सागर को आप तो तैर गये, परन्तु हम तो उसी सागर में डूबे हुए हैं।

- अब आपको वहाँ उपद्रव नहीं है... विघ्न नहीं है, परन्तु हम तो असंख्य उपद्रवों से ग्रस्त हैं, अपार विघ्नों से घिरे हुए हैं।

- आप वहाँ पर अचल हो गये। आपकी आत्मा अचल हो गई। परन्तु हमारा परिभ्रमण तो चालू है... जन्म-मृत्यु पाते हुए चार गतियों में भटक रहे हैं।

- आप वहाँ पर अक्षय बन गये! आपके अनंत गुणों का भंडार आपको मिल गया... अब उस भण्डार का कभी भी नाश होने वाला नहीं, परंतु हमारे आत्मगुण तो कभी प्रगट होते हैं... कभी अदृश्य हो जाते हैं!

आप वहाँ चले गये भगवंत, वहाँ से अब कभी भी इस संसार में नहीं आयेंगे। हमारा क्या होगा? हम तो वहाँ आने से रहे... हमसे आप जैसी घोर-वीर और उग्र साधना कहाँ होने वाली है? हमारा प्रमाद... आलस्य... राग-द्वेष... मोह... कब दूर होनेवाले हैं? आपके बिना कौन दूर करने वाला है? आपके बिना कौन हमें मोहनिद्रा से जगाने वाला है?

चारों तरफ अंधकार है प्रभो!

आपके बिना प्रकाश की किरण देने वाला कौन है?

यही है जिंदगी

२०९

हे भगवंत!

मैं तो आपके अनंत गुणों के सिन्धु के दो बिन्दु भी नहीं जानता हूँ। मेरा अज्ञान प्रगाढ़ है। परन्तु, आपके प्रति मेरे हृदय में अविचल श्रद्धा अवश्य है। क्या अज्ञानी परन्तु श्रद्धावान् जीव के प्रति आपकी करुणा का प्रवाह नहीं बहता है? क्या श्रद्धावान् का प्रेमप्रवाह आप तक नहीं पहुँचता है?

श्रद्धा ने ही मुझे मुखर बना दिया है। तेरे गुण गाने की मेरी क्षमता नहीं है... क्योंकि मैं कोई कवि-महाकवि नहीं हूँ। मेरे पास शब्दों का वैभव नहीं है... भावों की अभिव्यक्ति करने की कला नहीं है।

थोड़े से श्रद्धा के सुमन हैं मेरे पास। तेरे चरणों में चढ़ा दिये हैं। तू अवश्य स्वीकार करेगा न?

मेरे प्राणों के आधार!

तेरे बताये हुए मोक्षमार्ग पर चलने की चेष्टा करता हूँ... परन्तु पैर लड़खड़ाते हैं। शक्ति पर्याप्त नहीं है। तेरे प्रति प्रेम है... परन्तु तेरे पास पहुँचने की शक्ति नहीं है। अशक्ति महसूस करता हूँ।

तेरे वचन मुझे खूब प्यारे लगते हैं, परन्तु जीवन में उन वचनों का यथोचित पालन नहीं कर पाता हूँ। प्रयत्न करता हूँ... परन्तु मेरा प्रयत्न मुझे सन्तुष्ट नहीं करता है।

प्रभो, तेरा धर्मशासन मुझे बहुत ही अच्छा लगता है, परन्तु मेरी राग-द्वेष की प्रबलता... मुझे उस धर्मशासन की आराधना नहीं करने देती।

किसी जीव की पामरता को आप क्षमा प्रदान करते हो या नहीं - मैं नहीं जानता, परन्तु पामर को परमेश्वरत्व प्रदान करने से संसार में आपकी कीर्ति अवश्य फैलेगी!

हे अरिहंत भगवंत!

आपके वचनों का... उपदेशों का संसार में निरन्तर प्रसार करता रहूँ... और संतप्त जीवों को शांति देता रहूँ... बस, इतनी दया करना मुझ पर...



९६. तुम ही तुम्हारे साथ हो

उसने कहा : मेरा एक ही सहारा था... वह टूट गया... मेरा तो हौसला ही टूट गया... कुछ समय में नहीं आता कि क्या करूँ?

मेरे मित्र, स्वयं ही स्वयं का सहारा बनो। टूटते हुए दिल के हौसले को स्वयं ही सहारा दो। स्वयं ही हृदय की व्यथाओं को सहला लो।

‘किसी ने मेरे गम को, मेरी व्यथा को नहीं जाना...’ ऐसी शिकायत भी मत करो। अपनी पीड़ाओं को पी जाने की तैयारी करो। एक कटु बात कहता हूँ... मित्र को कह सकता हूँ-

स्वयं की कुछ भ्रान्तियों को छोड़ दो। असीमित कामनाओं को मिटा दो। जानते हो कि भ्रान्तियों ने और कामनाओं ने तुम्हारे मन को धूमिल सितारे जैसा बना दिया है।

- पर की आशा... यह तुम्हारी पहली भ्रान्ति है।

- दूसरों का भरोसा... यह तुम्हारी बड़ी गलती है।

किसी को क्या कि तुम्हारी भँवर में फँसी नाव को बचाने के लिए मझधार में कूद पड़े? तुम स्वयं ही नाव को खेकर किनारे तक ले जाओ।

स्वयं के ही भरोसे जिन्दगी का क्रम बनाओ।

स्वयं के ही भरोसे जीवनयात्रा का क्रम बनाओ।

स्वयं के ही भरोसे योजना-परियोजना बनाओ।

कोई यदि साथ नहीं देता है तो भी अपने विश्वास को टूटने मत दो।

एक कवि ने कहा है :

**‘सहारे तो सहारे हैं किसी दिन टूट जायेंगे,
किनारे तो किनारे हैं किसी दिन छूट जायेंगे।’**

किसी को क्या कि तुम्हारे अज्ञान के अन्धकार को मिटाने के लिए वह ज्ञान का दिनकर बनकर आए? तुम दूसरों के भरोसे पर मत रहो।

तुम ही सम्यग्ज्ञान के दीपक को अपने आत्ममंदिर में स्थापित करो। पर की आशा छोड़ दो। तुम्हारी स्वयं की प्यास कम कर दो... फिर कोई पानी का निर्झर बन कर तुम्हारे पास नहीं आता है... तो तुम्हें क्या?

यही है जिंदगी**२११**

मित्र मेरे, निराश मत बनो। साहस को मरने मत दो। संजीवनी को पी लो। अपने आत्मगौरव को मत भूलो।

एक बात मानोगे? तुम केवल अपने लिए ही मत जीओ... समग्र जगत के लिए जीना शुरू करो। जीवमात्र के लिए जीना प्रारम्भ करो। जब तक मनुष्य केवल अपने लिए ही जीता है, तब तक ही व्यथा और वेदनाएँ रहती हैं। तब तक ही वह दूसरों का सहारा खोजता है।

- तुझे तो स्वयं दूसरों का सहारा बनना है।
- तुझे तो स्वयं दूसरों की दिव्य आशा बनना है।

विश्वास रख, तू दूसरों का सहारा बन सकता है, दूसरों की आशा बन सकता है।

- दुनिया में फूलों से प्यार करने वाले बहुत मिलते हैं... परन्तु स्वयं फूल बनकर दूसरों को सुगंध देने वाले बहुत कम मिलते हैं।

- गंगा की यात्रा करने वाले तो इस देश में करोड़ों लोग होते हैं, परन्तु स्वयं गंगा बनकर बहने वाले... कितने मिलेंगे?

- स्वयं पुष्प बन जाना है...
- स्वयं गंगा बन जाना है...
- प्यारे मित्र,
- अज्ञान की आँधियों के बीच तुम्हें ज्ञान के दीप जलाने हैं।
- दिव्य जीवन-रचना के कार्य में तुम्हें अपना सत्त्व निचोड़ना है।
- जन-जन में शांति, समता और प्रसन्नता के पुष्प प्रस्फुरित करने हैं। भूलना मत कि...

- हम बहुत कुछ खो चुके हैं प्रमाद में, अब नहीं खोना है। इस मनुष्य-जीवन में अब सोते-सोते समय नहीं गँवाना है... यह तो जागृति का ही जीवन है।

एक महत्त्वपूर्ण कार्य करना है-

- जीव-जीव में... मनुष्य-मनुष्य में मैत्रीभाव को बढ़ाना है।
- हर मनुष्य में जीवन के प्रति विश्वास पैदा करना है।
- परमात्मा की एक-एक कल्याणकारी आज्ञा का जन-जन में प्रसारण करना है। तो ही तुम सबके सहारे बनोगे!



९७. नमन में श्रद्धा का जनम

वह एक परोपकारी युवा संन्यासी था।

उसके पास ऐसा रसायन था कि जिसकी एक बूंद पानी में मिला देने से रोगी अच्छे हो जाते थे। हजारों रोगी उस संन्यासी के पास आने लगे और निरोगिता प्राप्त करने लगे। संन्यासी की प्रसिद्धि हो गई।

उस संन्यासी के गुरु थे, उनको अचानक कई रोगों ने आ घेरा। शिष्य की प्रसिद्धि उन्होंने सुनी थी। वे शिष्य के पास गये। शिष्य ने गुरु को सम्मान दिया और हर्ष व्यक्त किया। उसने गुरु को अपने रसायन की बूंद पानी में डालकर गुरु को पिला दिया। गुरु खूब प्रसन्न हुए। उनके सभी रोग दूर हो गये। धीरे से शिष्य को पूछा : 'बेटा, इस रसायन का नुस्खा मुझे भी बता दे, ताकि आगे व्याधि होने पर मैं प्रयोग कर सकूँ।'

शिष्य गुरु को एकान्त में ले गया और कहा : 'गुरुदेव, यह आपका ही चरणोदक है। हर गुरुपूर्णिमा के दिन मैं आपके चरण-प्रक्षालन का जल लाता हूँ और उसी की एक-एक बूंद सबको देता हूँ... आपको भी वही दिया है।'

गुरु अपने आश्रम में पहुँचे और अपने पैर धोकर घड़ों में पानी एकत्र किया। व्याधिग्रस्त लोगों को रसायन पिलाया गया। परन्तु किसी को लाभ नहीं हुआ। लोगों ने उसको पाखंडी कहा। चारों तरफ अपयश फैल गया।

गुरु शिष्य के पास गये और अपनी दुर्दशा बतायी। नम्रता से शिष्य ने कहा : 'गुरुदेव, केवल चरणोदक नहीं, मेरी गहरी श्रद्धा का पुट भी उसमें रहता है। जब कि आपके चरणोदक में आपके अहंकार का विष घुल गया... इसीलिए वह उपहास का कारण बना...।'



- विनम्र मनुष्य की श्रद्धा, सुखद चमत्कार पैदा करती है।
- अहंकारी मनुष्य के पास श्रद्धा का धन हो ही नहीं सकता है... फिर भी यदि वह चमत्कार करने जाता है तो उपहास का पात्र बन जाता है।

रशिया में 'जूना दपिताश्वली' नाम की महिला है। वह किसी भी औषध के बिना, किसी भी प्रकार के उपचार के बिना लोगों को रोगमुक्त करती है। ७३ वर्षीया इस महिला को पूछा गया कि बिना दवाई और बिना उपचार तुम कैसे

यही है जिदगी**२१३**

दर्दी को रोगमुक्त कर सकती हो? उसने कहा : 'कुछ नहीं है, केवल ईश्वर के प्रति विश्वास से काम करती हूँ। ईश्वर-विश्वास से मैं रोगी के स्वास्थ्य के लिए प्रार्थना करती हूँ। विश्वास फलित होता है और रोगी निरोगी बन जाता है।'

विनम्र जूना ने सारा यश ईश्वर को दिया! यही उसकी सफलता का रहस्य होगा। लोग भले जूना को यश दें, जूना तो ईश्वर को ही यश देती है। अहंकार को अपने हृदय में कभी प्रवेश नहीं देती है।

- मनुष्य में कुछ विशेषता आती है... कि साथ ही अहंकार और तिरस्कार प्रवेश कर जाते हैं। 'मैं ही सब कुछ हूँ,' यह होता है अहंकार। 'दूसरे कुछ महत्त्व नहीं रखते...' यह होता है तिरस्कार।

- अहंकार और तिरस्कार से मुक्त व्यक्तित्व की दिव्यता स्वतः आविर्भूत होती है। वह दिव्यता ही श्रद्धारूप होती है। श्रद्धावान में श्रद्धेय की दिव्यता संक्रान्त होती है। श्रद्धेय से श्रद्धावान् का जब अभेदभाव से मिलन होता है तब श्रद्धेय की दिव्य शक्ति श्रद्धावान की दिव्य शक्ति बन जाती है।

- श्रद्धा में से उत्पन्न होने वाले चमत्कारों को बुद्धि से नहीं समझा जा सकता। तर्क से प्रमाणित नहीं किया जा सकता। श्रद्धाजन्य चमत्कारों को श्रद्धा से ही मानने होंगे।

- जैसे सागर को प्याले में नहीं भरा जा सकता... वैसे आत्मा की एवं परमात्मा की अनंत... निःसीम शक्तियों को तर्क के/बुद्धि के प्याले में नहीं भरा जा सकता।

- बुद्धि में से अहंकार जनमता है...

- श्रद्धा में से विनम्रता जनमती है।

- विनम्रता में से नमस्कार जनमता है और नमस्कार 'महामंत्र' बनकर दिव्यता को प्रदर्शित करता है।



९८. आज के दिन इतना करो!

आज!

आज मैं खुश रहूँगा! आज मैं अच्छे और विधेयात्मक विचार ही करता रहूँगा। 'स्व-मन की प्रसन्नता दुर्लभ है' - इस कथन के आशय को चरितार्थ करने का प्रयत्न करूँगा। मन की प्रसन्नता अखंडित रखने के लिए जाग्रत रहूँगा।

आज मैं अपने स्नेही-स्वजन एवं मित्रों के साथ अनुकूल प्रवृत्ति करूँगा। उनके साथ दुर्व्यवहार नहीं करूँगा। उनकी अच्छी प्रवृत्तियों में सहयोगी बनूँगा। किसी के क्लेश में निमित्त नहीं बनूँगा। उनके गुणों को ही देखने का प्रयत्न करूँगा। दोष नहीं देखूँगा, फिर भी दोषदर्शन हो गया, तो दोषों को महत्त्व नहीं दूँगा।

आज मैं अपने मन को स्थिर, पवित्र और प्रसन्न रखने का प्रयत्न करूँगा। मन को फालतू बातों में भटकने नहीं दूँगा। मन को फुरसत ही नहीं मिले, वैसे स्वाध्याय-चिंतन में निमग्न रखूँगा। अच्छे सेवा-कार्यों में लीन रखूँगा।

आज, मेरी अंतरात्मा को तृप्ति मिले वैसे एक अच्छा कार्य तो अवश्य करूँगा। 'मानव-जीवन, धर्म-पुरुषार्थ कर लेने के लिए अति दुर्लभ समय है,' यह भगवद् वचन आज मैं नहीं भूलूँगा। मैंने अच्छे कार्यों की एक सूची बनायी है, मेरी अभिरुचि के अनुरूप। उस सूची में से कोई एक कार्य आज मुझे करना है।

आज मैं अपने शरीर की स्वस्थता का भी ख्याल करूँगा। मेरी शारीरिक प्रकृति का मुझे ज्ञान है। अपनी प्रकृति के अनुरूप भोजन ही मैं करूँगा। भोजन में धर्म की आज्ञाओं का पालन करूँगा। कुपथ्य का सेवन नहीं करूँगा। शरीर को साधन के रूप में स्वस्थ एवं नीरागी बनाये रखने का प्रयत्न करूँगा। प्रमाद नहीं करूँगा, वैसे अति श्रम भी नहीं करूँगा। संतुलित भोजन करूँगा। शरीर को जड़, अशक्त या प्रमादी नहीं होने दूँगा।

आज मैं ऐसे भी दो-तीन अच्छे कार्य करूँगा, जो कार्य करने को मन नहीं मानता है! कुछ कार्य अच्छे होने पर भी मन उन कार्यों को करने के लिए तत्पर नहीं होता है। मन की इस आदत को मिटाने के लिए आज मैं वैसे दो-तीन कार्य अवश्य करूँगा।

आज मैं मन की दूसरी भी एक बुरी आदत को मिटाने का प्रयत्न करूँगा! वह आदत है - अपने किये हुए अच्छे कार्य दूसरों को बताना और प्रशंसा

यही है जिंदगी**२१५**

सुनना! मैं आज अपने अच्छे कार्य दूसरों को नहीं बताऊँगा... न ही प्रशंसा सुनने की इच्छा रखूँगा।

आज मैं अपने परिचितों में से किसी के भी सत्कार्य की मुक्त मन से प्रशंसा करूँगा। प्रशंसा करूँगा, खुशामद नहीं। सत्कार्य की प्रशंसा, सद्गुण की प्रशंसा करूँगा।

आज मैं सभी का प्रिय बनने का प्रयत्न करूँगा। मैं अपनी योग्यतानुसार वस्त्र पहनूँगा। मेरे परिचितों को मेरी कैसी वेशभूषा पसंद है, यह मैं जानता हूँ। मैं वैसी वेशभूषा पहनूँगा एवं सबके साथ विनय से और विवेक से व्यवहार करूँगा। किसी के सामने किसी की निन्दा नहीं करूँगा। किसी भी व्यक्ति के ऊपर दोषारोपण नहीं करूँगा।

आज मैं अप्रिय नहीं बोलूँगा। अहितकारी नहीं बोलूँगा। किसी के हृदय को दुःखाने वाले शब्द नहीं बोलूँगा। यदि दूसरे के हित के लिये अप्रिय बोलने का प्रसंग आ गया तो मीठे शब्दों में बोलूँगा और क्षमायाचना भी कर लूँगा। यदि मौन रखना उचित होगा तो मौन रहूँगा।

आज मैं परमात्मा का विधिपूर्वक दर्शन-पूजन करूँगा। आज परमात्मा के प्रति प्रीति-भक्ति के भावों का संवेदन करूँगा। मन-वचन-काया की एकाग्रता से परमात्मा का ध्यान करूँगा। कुछ क्षणों के लिए भी मैं आज परमात्मस्वरूप में लीन बनने का प्रयत्न करूँगा।

आज मुझे आज का ही विचार करना है। आने वाले अनंत भविष्य की क्षणों का बोझ मुझे आज पर नहीं डालना है। मुझे पाँच-पचास साल की कोई परियोजना नहीं बनानी है, मुझे तो आज की ही योजना बनानी है और आज को ही भव्य, सुन्दर और आनंद से परिपूर्ण बनाना है।

अतीत की असंख्य, व्यथापूर्ण स्मृतियों को और अनागत की असंख्य चिन्ताओं को 'आज' पर मंडराने नहीं देना है। आज के एक-एक क्षण को आनंद का स्रोत बनाना है।

आज यदि किसी ने मेरे साथ दुर्व्यवहार किया, तो मैं ज्ञाता-दृष्टा बनकर उस व्यवहार को देखूँगा। राग-द्वेष से मन को क्लुषित नहीं होने दूँगा।

आज यदि किसी ने अप्रिय शब्द सुनाये, तो मैं ज्ञाता-दृष्टा बनकर वे शब्द सुनूँगा। राग-द्वेष से मन को चंचल नहीं होने दूँगा।

मेरी 'आज' आत्मा की आज बन जाए ऐसे ही कार्य करूँगा।



९९. खुद हो सोने जैसे

एक सिद्ध पुरुष थे।

उनके विषय में एक किंवदन्ती थी कि वे तांबे को सोना बनाने की विद्या जानते हैं। बहुत लोग उस विद्या को पाने के लिए उनके पास जाते हैं, सिद्ध पुरुष उनसे कहते हैं : 'बारह वर्ष मेरे पास रहो, सेवा करो, बाद में विद्या बताऊँगा।'

इतना धैर्य कहाँ से लाना? कोई चार/छः महीने रहकर चला जाता है, कोई एक/दो साल रहकर चला जाता है। निर्बल संकल्पशक्ति और अधीरता किसी को बारह वर्ष टिकने नहीं देती है। परन्तु एक धीर-वीर युवक वहाँ पहुँचा। वह बारह वर्ष सिद्ध पुरुष के पास रहा। उसका संकल्प बल दृढ़ था, उसकी धीरता अद्भुत थी।

सिद्ध पुरुष ने उस सात्त्विक युवक को अपने पास बुलाकर कहा : 'वत्स, मेरे वचनानुसार अब मैं तुझे सुवर्णसिद्धि देना चाहता हूँ। आज से ही उसका उपक्रम शुरू कर देते हैं।'

'गुरुदेव! क्षमा करें, मैं सुवर्णसिद्धि नहीं चाहता।'

'क्यों?' गुरु को बड़ा आश्चर्य हुआ।

'क्योंकि आपके पास बारह वर्ष रह कर, आपकी कृपा से मैं ही सोना बन गया हूँ। अब तो मैं आजीवन आपके चरणों में रहूँगा, आत्मकल्याण की आराधना करूँगा। स्वर्ण इकट्ठा कर, तृष्णा और विलास में मुझे जीवन नष्ट नहीं करना है।'

'तू सुपात्र है, तुझे देवीकृपा प्राप्त होगी वत्स!' गुरु ने शिष्य को हार्दिक आशीर्वाद दिये।



स्वर्ण... रजत.... रुपये...।

अर्थप्रधान बन रहा है पूरा विश्व।

धर्मप्रधान देश भारत भी अर्थ प्रधान बन गया है। क्या हो गया है लोगों को? धर्म और मोक्ष को भूल रहे हैं, अर्थ और काम को ही सर्वस्व मान लिया है।

यही है जिंदगी

२१७

- हर व्यक्ति का स्वप्न बना है अपार संपत्ति, अमाप वैभव। इसलिए जो कुछ करना पड़े वह करने को तैयार हैं। अन्याय, अनीति, धोखाधड़ी, चोरी, लूटखसोट... अपहरण... और हत्या। अर्थलिप्सा कौन-सा पाप नहीं करवाती है?

- सबको सोना चाहिए। किसी को सोना बनना नहीं है।

- जो सोने जैसा शुद्ध बन जाता है, वह सोना तो क्या हीरे, मोती और नीलम को भी ठुकरा देता है। उसकी परिशुद्ध दृष्टि में हीरे-मोती वगैरह पत्थर दिखते हैं।

- पैसे के पागलों को पत्थर में हीरे दिखते हैं।

- पैसे के पागलों को धूल में स्वर्ण-कण दिखते हैं।

- पैसे के पागलपन ने पवित्र सम्बन्धों की पवित्रता नष्ट कर दी है। हर सम्बन्ध में माध्यम बन गया है, पैसा।

- बिना पैसे के कोई सम्बन्ध नहीं रहा।



एक महानुभाव ने कहा : अब तो धर्म का सम्बन्ध भी पैसे से जुड़ गया है। धर्मस्थानों में धार्मिकों का महत्त्व नहीं रहा। श्रीमन्तों का महत्त्व बढ़ गया है।

- श्रीमन्त को सदाचारी होना, दयालु होना, गुणवान होना, व्रतधारी होना जरूरी नहीं है... यदि वह पांच/दस लाख रुपये धर्मक्षेत्र में खर्च कर देता है तो!

- जो ब्रह्मचारी हैं, व्रतधारी हैं, गुणवान हैं... दयालु हैं, परन्तु श्रीमन्त नहीं हैं, हजारों-लाखों का दान नहीं दे सकते हैं, उनका अब कोई महत्त्व नहीं रहा धर्मस्थानों में।

- मनुष्य को सोना बनाने का काम, जो साधु-संतों का काम था, वे अब मनुष्य से सोना पाने का काम नहीं कर रहे हैं क्या?

मैं यह नहीं कहता कि उनका कोई निजी स्वार्थ होगा। मंदिर बनवाते होंगे, धर्मशाला बनवाते होंगे, शाला-महाशाला बनवाते होंगे... परंतु मनुष्य को सोना बनाने का काम अधर में लटक गया है।

- यदि मनुष्य सोना नहीं बना, तो वह मंदिरों को भ्रष्ट करेगा, मंदिरों को नष्ट करेगा।

यही है जिंदगी**२१८**

- यदि मनुष्य सोना नहीं बना, तो धर्मशालाएँ पापशालाएँ बनेंगी।

- मनुष्य को सोना बनाने का काम, निष्काम... सदाचारी... प्रज्ञावंत महापुरुष ही कर सकते हैं। थोड़े मनुष्य भी सोना बन जाएं तो पूरे समाज को सोना बनाया जा सकता है।

- आचार्य आर्य-सुहस्ति ने सम्राट सम्रति को सोना बनाया था न? सम्रति ने पूरे भारत में स्वर्णयुग प्रवर्तित किया था।

- आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरिजी ने सम्राट कुमारपाल को सोना बनाया था न? कुमारपाल ने पूरे गुजरात में अहिंसा का स्वर्णयुग प्रवर्तित कर दिया।

- मनुष्य!

मनुष्य को स्वयं सोना बनना होगा।

- सोना बनाने वालों का सत्संग करना होगा।

- सोना पाने के लिए संत-साधुओं के पास नहीं जाना है, सोना बनने के लिए जाना है... बारह साल नहीं, पूरा जीवन भी उनके चरणों में बीताना पड़े तो बीता दें, परन्तु सोना बन जाना है। सौ टंच का सोना।



१००. 'अल्फा' से 'ओमेगा' तक

लेटिन में 'अल्फा' का अर्थ होता है पहला और 'ओमेगा' का अर्थ होता है अन्तिम। पश्चिम का तत्त्वचिंतक 'टेल्हार्ड डी चार्डिन' कहता है-

'God is the Omega Point'.

परमात्मा, विकास का अन्तिम बिन्दु है। विकास की अन्तिम संभावना है।

- हमारे विकास का लक्ष्य क्या है?
- क्या हमने विकास की दिशा, विकास का अन्तिम बिन्दु निश्चित किया है? शांति के क्षणों में सोचना आवश्यक है।
- भौतिक क्षेत्र में विकास की कितनी संभावना है? अन्तिम बिन्दु कौन-सा है? इस जीवन में उस अन्तिम बिन्दु तक पहुँच सकते हैं क्या? अधूरा विकास, आने वाले जन्म में आगे बढ़ सकता है क्या? भौतिक विकास का अन्तिम लक्ष्य बनाया एक लाख अरब रुपये। इस जीवन में एक हजार अरब रुपये पा लिये, मृत्यु हुई, दूसरे जन्म में क्या शेष ९९ हजार अरब रुपये पा लेंगे?
- मान लो कि अन्तिम बिन्दु तक पहुँच गये, क्या एक लाख अरब रुपये हमारे पास हमेशा के लिए रहेंगे? यदि नहीं रहते हैं तो फिर उसको विकास कैसे कहें?
- आत्मविकास की संभावना का चिंतन करें।
- आत्मविकास का अर्थ है गुणों का विकास, आत्मिक गुणों का विकास। ज्ञान का विकास, वैराग्य का विकास, करुणा का विकास, क्षमा वगैरह गुणों का विकास!
- आत्मविकास का अन्तिम बिन्दु है परमात्मा।
- हर आत्मा परमात्मा बन सकती है। परमात्मा बनने का स्पष्ट लक्ष्य निर्धारित करना चाहिए।
- परमात्मा बनने के बाद जीवात्मा नहीं बनना पड़ता।
- परमात्मदशा क्षणिक नहीं होती है, शाश्वत होती है। परमात्मदशा का विनाश नहीं होता है, वह अविनाशी होती है।
- परमात्मदशा में पूर्ण ज्ञान होता है, पूर्ण वीतरागता होती है, संपूर्ण गुणसमृद्धि होती है। पूर्ण सुख होता है।

- परमात्मदशा यानी पूर्णता। कभी अपूर्ण नहीं बने वैसी पूर्णता।
- मनुष्य ही वैसी परमात्मदशा की ओर विकासयात्रा प्रारंभ कर सकता है।
- भौतिक क्षेत्र में विकास हो सकता है, परन्तु उसका कोई अन्तिम बिन्दु नहीं है। रास्ते में कहीं पर भी विकास विनाश में बदल सकता है, मनुष्य के हजारों प्रयत्नों के बावजूद भी...
- आध्यात्मिक क्षेत्र में विकास का अन्तिम बिन्दु है। असंख्य... अनंत आत्माएँ उस अन्तिम बिन्दु तक पहुँची हुई हैं! सर्वज्ञ पुरुषों ने देखा है और बाद में बताया है।

- हमारे भीतर उस अन्तिम बिन्दु तक पहुँचने की योग्यता पड़ी हुई है।
'डी चार्डिन' ने कहा है -

Omega is also the Alpha!

जो अन्तिम है वही पहला भी है!

- कितनी रहस्यपूर्ण बात कही है चार्डिन ने!

अन्तिम है परमात्मा,

पहली है आत्मा!

आत्मा में ही परमात्मा निहित है!

हर आत्मा का शुद्ध स्वरूप परमात्मा का है। विकासयात्रा में अशुद्धियाँ दूर करने की होती हैं और शुद्ध स्वरूप प्रगट करते हुए चलना है। जब सभी कर्मजन्य अशुद्धियाँ दूर हो जायेंगी, आत्मा ही परमात्मा बन जायेगी!

- पहली आत्मा है, अन्तिम परमात्मा है।

स्वयं यह निर्णय करें कि

- मैं आत्मा हूँ।

- अभी मैं राग-द्वेष-मोह आदि दोषों से अशुद्ध हूँ,

- मेरा वास्तविक स्वरूप यह नहीं है।

- मैं वास्तव में शुद्धात्मा हूँ, परमात्मा हूँ।

- मुझे अपना वास्तविक स्वरूप पाना है।

- इसलिए इस जीवन में वही काम करना है।

- दुनियादारी के काम केवल साक्षीभाव से करूँगा।

यही है जिंदगी

२२१

- ज्ञाता और दृष्टा बनने का प्रयत्न करूँगा।
- स्वजन-परिजनों से ममत्व तोड़ने का प्रयत्न करूँगा।
- वैभव-संपत्ति की आसक्ति को नामशेष कर दूँगा।
- शरीर को केवल साधन के रूप में ग्रहण करूँगा।
- मन को, आत्मज्ञान के शास्त्रों के स्वाध्याय में लीन रखूँगा।
- उचित कर्तव्यों का निराशंस भाव से पालन करूँगा।

मेरी यह विकासयात्रा इस जीवन में पूर्ण न भी हो, अन्तिम बिन्दु पर न भी पहुँच सकूँ, मुझे अफसोस नहीं होगा। क्योंकि आने वाले जन्म में यही विकासयात्रा आगे बढ़ने वाली है। जहाँ से यात्रा अधूरी छूट गई होगी, वहाँ से शुरू होगी। मुझे विश्वास है कि तीन या सात/आठ जन्मों में मैं अन्तिम बिन्दु पर पहुँच जाऊँगा।

God is the Omega Point.



१०१. समझदारी की माँग

इच्छा... चाह... कामना!

यदि मनुष्य में कोई इच्छा नहीं है, कोई चाह नहीं है... कोई कामना नहीं है... तो कैसा होगा उसका जीवन?

- यदि प्रकाश की चाह नहीं है तो अंधकार...
- यदि अमृत की चाह नहीं है तो विष...
- जीवन में उत्साह, उमंग, साहस... धैर्य इत्यादि के लिए मनुष्य में चाह होनी चाहिए, कामना होनी चाहिए।
- परन्तु बिना ज्ञान की चाह अंधकार की ओर ले जायेगी।
- बिना ज्ञान की चाह हलाहल विष की ओर ले जायेगी।
- साँप का ज्ञान नहीं है बच्चे को, उसको खिलौने की चाह है... वह साँप को खिलौना समझ कर पकड़ लें, तो क्या होगा?
- स्वर्ण का ज्ञान नहीं है, स्वर्ण की चाह है, क्या होगा? स्वर्ण मानकर पीतल ले आएगा।

- जिस वस्तु की इच्छा करें, उस वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। उस वस्तु का स्वरूप, उस वस्तु का उपयोग, उसका परिणाम... जानना चाहिए।

- एक भाई को घर में टी.वी. सेट बसाने की इच्छा हुई। पैसे थे पास में, रंगीन टी.वी. ले आए। घर में स्कूल-कॉलेज में पढ़ने वाले लड़के थे। टी.वी. देखने में उनको मजा आ गया... पढ़ाई छूट गई, परीक्षा में फेल हो गये। अब वह महानुभाव घर में से टी.वी. निकालना चाहते हैं, लड़के और लड़कों की माँ रखना चाहते हैं! समस्या पैदा हो गई।

इसलिए कहता हूँ - बिना ज्ञान की इच्छा दुःख और अशांति की ओर ले जायेगी। बिना ज्ञान की इच्छा अन्धी होती है। इच्छा करने वाला भी अन्धा होता है... गड्ढे में गिरने से कौन बचायेगा?

- बिना क्रिया का ज्ञान निरर्थक है। निरर्थक ही नहीं, अपितु अनर्थकारी होता है।

- मार्ग का ज्ञान हो, परन्तु मार्ग पर सोचे-समझे बिना चले तो मंजिल पर कैसे पहुँचेगा?

यही है जिदगी

२२३

ज्ञान के अनुरूप क्रिया होनी चाहिए।

आज धर्मक्षेत्र में यही विषमता फैल गई है। ज्ञान वाले क्रियाओं के प्रति उदासीन बने हैं, क्रिया करने वाले ज्ञान के प्रति लापरवाह बन गये हैं। दोनों पथभ्रष्ट बने हैं।

एक क्रियाजड़ बना है,

दूसरा ज्ञानमूढ़ बना है!

दोनों अपनी-अपनी तान में अभिमानी बने हुए हैं।

- 'ज्ञान-क्रियाभ्यां मोक्षः' यह विधान दोनों भूले हुए हैं।

ज्ञान के प्रकाश में देखता है कि 'यह हेय है, त्याज्य है...' परन्तु त्याग की क्रिया नहीं करता है। देखता है कि 'यह उपादेय है, ग्रहण करने योग्य है,' परन्तु ग्रहण नहीं करता है!

- 'मैं जानता हूँ, मैं ज्ञानी हूँ...' यह अभिमान लिए फिरता है।

- ज्ञान है कि 'ये सारे व्यसन मुझे बरबाद कर देंगे,' फिर भी व्यसन छोड़ने का कार्य नहीं करता! क्या फायदा उस ज्ञान से?

- जानता है कि पास वाले घर में दरिद्रता है, बीमारी है... फिर भी उसकी दरिद्रता को दूर करने का, सहायता करने का कार्य नहीं करता है, तो उस जानकारी का क्या अर्थ?

- शास्त्रों का ज्ञान है, परन्तु किसी जिज्ञासु एवं पात्र मनुष्य को ज्ञान देता नहीं है... प्रमादी बन कर पड़ा रहता है, तो क्या महत्त्व है उस शास्त्र-ज्ञान का?

- ऐश्वर्य की चंचलता जानते हुए भी यदि उसका त्याग नहीं करता है तो क्या फायदा उस जानकारी से?



- बिना प्रेम का कार्य, कार्य नहीं होता, बेगार होता है, बोझ होता है।

- कोई छोटा-सा भी कार्य करें, प्रेम से करें।

- किसी भिक्षुक को केवल एक रोटी दें, पानी का एक गिलास दें, प्रेम से दें, सस्मित दें।

- किसी को कार्य में सहयोग दें तो प्रेम से दें।

यही है जिदगी**२२४**

एक चींटी को बचाने के लिए पैर इधर से उधर रखना है, प्रेम से रखें और शेर के पैरों में से कांटा निकालना है, तो भी प्रेम से निकालें।

किसी बीमार को दिन में एक बार दवाई देना है, प्रेम से दें और दस बार दवाई देना है, तो भी प्रेम से दें।

- प्रेम से कार्य करने से दोनों को खुशी प्राप्त होगी।

- घर में भी प्रेम से कार्य करना चाहिए, बाहर भी प्रेम से कार्य करें।

जब कार्य करना ही है तो अच्छे ढंग से करें, मुस्कान के साथ कार्य करें, उत्साह से कार्य करें।

- एक बात नहीं भूलना - सत्कार्य और अकार्य का भेद समझना। अनिवार्य संयोगों में अकार्य करना ही पड़े तो प्रेम से नहीं करना। तटस्थ बुद्धि से करना अथवा पश्चात्ताप के साथ करना।

○ बिना इच्छा का जीवन अंधकारमय है।

○ बिना ज्ञान की इच्छा अंधी है।

○ बिना कार्य का ज्ञान निरर्थक है।

○ बिना प्रेम का कार्य केवल बोझ है।



१०२. तुलना करें, पर किससे?

मस्जिद में एक अमीर पुरुष नमाज पढ़ने आया। उसके पैरों में हीरे-मोती जड़े हुए जूते थे। शेख सादी ने उस अमीर को देखा और उसके जूते भी देखे। उन्होंने उस अमीर को पूछा तो मालूम पड़ा कि वह वर्ष में एक बार ही नमाज पढ़ने आता है।

शेख सादी मन में सोचने लगे - 'मैं प्रतिदिन कई बार नमाज पढ़ता हूँ, फिर भी मेरे पास फटे हुए जूते हैं और यह अमीर साल में एक बार नमाज पढ़ता है, फिर भी उसके जूते जड़ाऊ...।' वे मन में दुःखी होते हैं।

थोड़ी देर के बाद एक अपंग, कि जिसके दोनों पैर कटे हुए थे, वह अपने शरीर को घसीटता हुआ मस्जिद में नमाज पढ़ने आया। उसको भी शेख सादी ने देखा... वे गहरे विचारों में डूब गये... उन्होंने आकाश की ओर देखा और बोले - 'खुदा! तूने मुझे दो अच्छे पैर दिये हैं, यह क्या कम कृपा है?'

- तुलना।

- हर बात में दूसरों से तुलना।

- मनुष्य का क्या यह स्वभाव बन गया है?

जो गरीब है, धन से और मन से - वे लोग श्रीमन्तों से अपनी तुलना करते रहते हैं। 'वे श्रीमन्त क्यों? हम गरीब क्यों?'

ज्ञान तो होता नहीं! स्वयं अपने को प्रश्न तो पूछ लेते हैं, जवाब सही आता नहीं... गलत जवाब मिलता है और गुमराह हो जाते हैं।

- श्रीमन्त भी, जो मन से श्रीमन्त नहीं होता, वह अपने से बड़े श्रीमन्त की ओर देखता है और तुलना करता है। 'उसके पास जो संपत्ति है, मेरे पास तो उसकी दस प्रतिशत भी नहीं...।' अपने को हीन भावना से भर देता है।

- आज श्रीमन्तों और श्रीसम्पन्ता की ओर लोगों का आकर्षण बढ़ रहा है।

- सबको श्रीमन्त होना है।

- अपने से ज्यादा गरीब की ओर, अपने से ज्यादा विकल की ओर, अपने से कुछ कम अकलवालों की ओर, अपने से कुछ कम ज्ञानवालों की ओर यदि देखा जाये, तो मन का कुछ समाधान मिल सकता है।

यही है जिदगी

२२६

- उन्नति का लक्ष्य होना चाहिए, परन्तु जो उन्नत है, उनसे तुलना नहीं करनी चाहिए।

- जो अवनति में गिरे हैं उनके प्रति तिरस्कार की भावना नहीं होनी चाहिए, परन्तु उनके उद्धार की भावना होनी चाहिए।

- अपने से ज्यादा उन्नतों की ओर हीन भावना से नहीं देखना है, प्रेम से देखना है। ईर्ष्या से बचना है। 'अपने में भी दूसरों से बड़ी कोई विशेषता है' - वह ढूँढना है। ऐसी कोई कला, ऐसी कोई बाह्य-आन्तरिक शक्ति, ऐसी किसी विशिष्ट कार्यदक्षता को पाकर अपनी 'विशेषता' को स्थापित करना है।

- चन्द्र की अपनी विशेषता है शीतलता प्रदान करना, तो सूर्य की अपनी विशेषता है प्रकाश देना। बादलों की अपनी विशेषता है पानी देना, तो पानी की अपनी विशेषता है जीवन देना।

- पहाड़ वृक्षों से ईर्ष्या नहीं करते, वृक्ष पहाड़ों का तिरस्कार नहीं करते। सब अपनी-अपनी विशेषता लिये जीते हैं।

- कोयल की अपनी विशेषता है, मयूर की अपनी विशेषता है।

- जो मनुष्य अपने में कोई विशेषता नहीं पाता है, दूसरों की विशेषता देखकर खुश नहीं हो सकता है। वह ईर्ष्या... निराशा... निंदा... वगैरह दोषों का शिकार हो जाता है।

- जो मनुष्य अपनी विशेषता को उभारने के लिए दूसरों की विशेषताओं की मजाक उड़ाता है, अवहेलना करता है, वह अपनी विशेषता का अवमूल्यन करता है।

- वे दोनों सूर्य की किरणें थीं।

एक किरण पड़ी कीचड़ में, दूसरी पड़ी एक पुष्प में।

पुष्प की किरण ने दूसरी किरण को कहा : 'जरा दूर रहना, छूकर मुझे भी अपवित्र मत करना।'

दूसरी किरण बोली : 'बहन, हम इस कीचड़ को सुखाएँ नहीं, साफ न करें, तो इस फूल की रक्षा कैसे होगी?'

पुष्प की किरण लज्जित हो गई।

- कीचड़ की किरण की विशेषता को पुष्प की किरण समझ नहीं पायी थी, इसलिए उसको लज्जित होना पड़ा।

यही है जिंदगी**२२७**

- दूसरों की विशिष्टता को देखकर अपने मन को स्वस्थ रखना, असंतोषी-
असहिष्णु लोगों के लिए कैसे संभव होगा?

- 'उसके पास इतना वैभव, मेरे पास नहीं...'

- 'उसके पास ऐसा अच्छा परिवार, मेरे पास नहीं...'

- 'उसकी इतनी बड़ी इज्जत, मेरी नहीं...'

ऐसे विचार मनुष्य के मन को रोगी बनाते हैं, अथवा रोगी मन में ही ऐसे
विचार आते हैं।

तुलना बड़े से नहीं करें।

तुलना छोटे से करें।



१०३. कोई तुम्हें देख रहा है!

वे पिता-पुत्र थे।

पिता चोरी करता था, पुत्र को साथ में रखता था।

एक दिन दोनों एक खेत में चोरी करने गये। पिता ने पुत्र से कहा : 'बेटा, तू यहाँ खेत के बाहर बैठना, कोई आता हुआ दिखाई दे तो मुझे सावधान कर देना। मैं फसल काट कर इकट्ठी करता हूँ।'

पिता फसल काट कर इकट्ठी करने लगा। उधर लड़के ने आसमान में देखा। उसको लगा कि कोई दिव्य आकृति उसको देख रही है। उसको एक संत पुरुष का उपदेश याद आ गया : 'भगवान हमेशा हमें देखता रहता है...।'

लड़का चिल्लाया : 'पिताजी, हमें भागना चाहिए... देखनेवालों ने देख लिया है!' पिता घबराया। काटी हुई फसल छोड़कर पुत्र के साथ भागने लगा। घर पर जाकर पिता ने पुत्र से पूछा : 'बेटा, कौन था वह देखनेवाला?' पुत्र ने कहा : 'भगवान।' पिता पुत्र के निर्दोष चेहरे को देखता रहा। उसने चोरी करने का पाप छोड़ दिया।

- ऊपर... सबसे ऊपर... 'सिद्धशिला' है। वह लोकान्त है।
- वहाँ अनंत-अनंत शुद्ध-बुद्ध-सिद्ध आत्माएँ रहती हैं।
- जो जीवात्मा सभी कर्मबंधनों से मुक्त होती है वह वहाँ चली जाती है। अनंत काल वहीं पर स्थिर रहती है।
- वे सिद्ध भगवंत, समग्र जड़-चेतन विश्व को निरंतर देखते हैं और जानते हैं।
- उन सिद्ध भगवंतों को हम पूजनीय मानते हैं, श्रद्धेय मानते हैं। क्या हमें स्मृति है कि-
- हमारी हर क्रिया को वे देखते हैं।
- हमारे हर विचार को वे जानते हैं।
- हमारी कोई भी क्रिया, हमारा कोई भी विचार उनसे छिपा हुआ नहीं रह सकता है।
- वैसे, जो भी केवलज्ञानी होते हैं, पूर्णपुरुष होते हैं, वे हमारे सभी कार्यों को और विचारों को देखते हैं, जानते हैं।

यही है जिंदगी

२२९

- मनुष्य की एक वृत्ति है कि जो कार्य गलत होता है, समाज में, राष्ट्र में और धर्मक्षेत्र में निषिद्ध होता है - वह कार्य यदि उसको करना होता है तो वह छिपकर करता है!

- छोटा बच्चा माँ से छिप कर गलत कार्य करता है।

- पति पत्नी से छिप कर करता है, पत्नी पति से छिप कर करती है, नौकर सेठ से छिप कर करता है! गलत काम करने वाला यह चाहता है कि मुझे कोई देखे नहीं, मेरा गलत काम कोई जाने नहीं।

- गलत काम करने वाला समझता है कि 'मेरा गलत काम किसी ने देख लिया या जान लिया तो मेरी बदनामी होगी, लोगों की निगाहों में मैं गिर जाऊँगा।' इसलिए वह गलत काम, पापकार्य छिप कर करता है। - परंतु यह भी सज्जनों का विचार है।

- दुर्जनों को बदनामी का भय नहीं होता है।

- सज्जनों की सज्जनता उनको पापभीरु बनाती है, लज्जाशील बनाती है, इसलिए वे पाप करते हैं तो छिप कर करते हैं।

- ऐसे सज्जनों को समझना चाहिए कि पूर्ण आत्माओं से कुछ भी छिपा हुआ नहीं है। गुफा में जाकर पाप करेंगे तो भी वे देखते हैं और सागर के तले जाकर पाप करेंगे तो भी वे जानते हैं। इसलिए छिपकर भी पाप करने का नहीं सोचें।

- प्रकट तो नहीं, छिप कर भी मनुष्य पाप नहीं करता है, तब वह 'महान' बनता है।

- ऐसा जीवननिर्माण करना है कि किसी से कुछ छिपाना न हो, किसी से कुछ भी गुप्त न रखना हो।

जानता हूँ : व्यवहारों में उलझे हुए जीवन में यह बात संभव नहीं है...

आशाएँ... तृष्णाएँ... आकांक्षाएँ... कोई न कोई प्रगट या प्रच्छन्न पाप करवाती ही रहती है...।

हे सिद्ध भगवंत! जैसे आप हमें बाहर से और भीतर से जानते हैं... देखते हैं... वैसे आप अनंत शक्ति के निधान हैं। आप हम पर कृपा करें कि हमारे जीवन में आपको कोई पाप न दिखाई दे। हमारा जीवन ही ऐसा हो जाए।



१०४. विरक्ति विशिष्ट शक्ति है

धूप स्वर्णधूलि सी फैली हुई है। हवा में सरसराहट है, जैसे सोने के कण इधर-उधर उड़ रहे हैं। मेरा मन... अंतर्मन तत्त्वचिंतन की गहराई में पहुँचा है... और तत्त्वों के मोती खोज रहा है।

मन में प्रश्न उठा : क्या विरक्ति अशक्ति है, मनुष्य की?

- वैभव-संपत्ति चली गई और संसार के प्रति विरक्ति आ गई।
- प्रियजन की मौत हो गई और हृदय विरक्त हो गया।
- शरीर में अनेक रोग पैदा हो गये और दुनिया के प्रति विरक्ति आ गई।
- किसी मित्र ने विश्वासघात कर दिया और मन विरक्त हो गया...
- विरक्ति ने संसार का, गृहवास का त्याग करवा दिया। क्या इसको अशक्ति कहा जा सकता है?

- वैभव-संपत्ति को पुनः प्राप्त करने का प्रयत्न करना, रोगी शरीर को निरोगी बनाने का प्रयत्न करना, दूसरे प्रियजनों की खोज करना और दूसरे विश्वसनीय मित्र की खोज करना... क्या शक्ति एवं सामर्थ्य की पहचान है?

- मेरी कल्पना के आलोक में लंका का राजा वैश्रवण उभर आया। रावण के सामने युद्ध किया, हार गया और समूचे संसार का त्याग कर श्रमण बन गया। क्या यह उसकी अशक्ति थी? नहीं, यह उसका अद्वितीय पराक्रम था। पराजय ने उसकी ज्ञानदृष्टि खोल दी थी - 'यह जीवन बाहरी दुश्मनों से लड़ने के लिए नहीं है, यह जीवन तो भीतर के काम-क्रोध वगैरह दुश्मनों से लड़ने के लिए है।' भीतर के दुश्मनों से लड़ने के लिए श्रमण का जीवन ही जीना पड़ता है, जैसे बाहर के दुश्मनों के साथ लड़ने के लिए सैनिक का जीवन जीना पड़ता है।

- कल्पना के आलोक में श्री रामचन्द्रजी उपस्थित हुए। लक्ष्मण की मौत से वे अत्यन्त उद्विग्न बने थे। उद्वेग से विरक्ति पैदा हुई थी और विरक्ति ने उनको संसारत्याग करवा दिया था। वे महामुनि राम बन गये थे। लक्ष्मण की मृत्यु ने उनकी ज्ञानदृष्टि खोल दी थी - 'संयोग शाश्वत नहीं है। प्रियजनों का संयोग एक दिन वियोग में बदल जाता है। संयोग और वियोग के द्वन्द्व राग-द्वेष के प्रबल निमित्त हैं। अब इन द्वन्द्वों से मुक्त होना है, निर्द्वन्द्व बनना है।' निर्द्वन्द्व बनने का पुरुषार्थ विरक्त मुनिजीवन में ही हो सकता है।

यही है जिदगी

२३१

- कल्पना के आलोक में चक्रवर्ती सनत्कुमार सामने आए। उनको अद्भुत सुन्दर शरीर मिला था। देवलोक के देव उनका सौन्दर्य देखने आए थे! और उसी दिन उनके शरीर में सोलह रोग उत्पन्न हो गये थे। उनका मन विरक्त हो गया और वे श्रमण बन गये। क्या यह उनकी अशक्ति थी? नहीं, रोगों के हमले ने उनकी ज्ञानदृष्टि खोल दी थी - 'मानवशरीर ऐसा ही है। उसका सौन्दर्य शाश्वत नहीं है, शाश्वत सौन्दर्य तो आत्मा का होता है। आत्मा का सौन्दर्य पाने के लिए शरीर की आसक्ति तोड़नी होगी। विरक्ति ही आसक्ति को तोड़ सकती है।' क्या चक्रवर्ती की विरक्ति अशक्ति थी? नहीं, विरक्ति ने ममत्व के भीतरी बंधनों को तोड़ने का प्रचंड पुरुषार्थ करवाया।

- कल्पना के आलोक में राजा भर्तृहरि उभर आया। राजा की प्रिय रानी ने विश्वासघात कर दिया। परपुरुष के साथ उसने शारीरिक संबंध बाँध लिया था। भर्तृहरि ने जब इस दुर्घटना को जाना, उसका मन संसार से विरक्त हो गया। उसने राजमहल का त्याग कर दिया, वह संन्यासी बन गया। रानी के विश्वासघात ने राजा की ज्ञानदृष्टि खोल दी थी - 'रानी का क्या दोष? उसके भीतरी शत्रु कामवासना ने उसको परपुरुषगामी बनायी। सभी पापों का मूल ये भीतर के शत्रु ही हैं। मुझे तत्काल अपने भीतर के शत्रुओं को परास्त करने होंगे। अन्यथा वे मेरे पास भी अनर्थ करवा सकते हैं। भीतर के शत्रुओं को परास्त करने के लिए संन्यासी का जीवन ही उपयुक्त है।' क्या भर्तृहरि की यह अशक्ति थी? नहीं, विरक्ति स्वयं महाशक्ति है जो कि भीतर के शत्रुओं का नाश करती है।

- ममत्व में डूबे हुए मनुष्यों को विरक्ति अशक्ति लगती है।
- भौतिक सुखों की आसक्ति में बंधे हुए मनुष्यों को विरक्ति अशक्ति लगती है।
- वैषयिक सुखों की तीव्र चाह वाले मनुष्यों को विरक्ति अशक्ति लगती है।
- विरक्ति अशक्ति नहीं है।
- विरक्ति आत्मा की महाशक्ति है।
- विरक्ति अनंत-अनंत कर्मों का नाश करती है।
- विरक्ति आत्मा की अनंत शक्ति को जाग्रत करती है।



१०५. तुम खुद महान हो

एक श्रमिक था।

पहाड़ी पर पत्थर तोड़ रहा था।

पत्थर तोड़ते-तोड़ते वह थक गया। एक वृक्ष के तले जाकर विश्राम करता है और सोचता है : मेहनत कम करनी पड़े और लाभ ज्यादा हो... वैसा कोई उपाय मिल जाये तो अच्छा। वह पहाड़ी के शिखर पर पहुँचा। वहाँ एक देवकुलिका थी। श्रमिक ने सोचा : यह देव महान है, मैं इसकी पूजा करूँगा, प्रार्थना करूँगा तो मुझे ज्यादा धन मिलेगा। वह वहाँ रह गया और पूजा-प्रार्थना करने लगा। कुछ दिन बीते। श्रमिक को कोई लाभ नहीं हुआ। उसने सोचा : इस देव से किसी बड़े देव की पूजा करूँ। उसने आकाश में सूर्य को देखा। वह सूर्य की उपासना करने लगा।

एक दिन उसने देखा, बादलों ने सूर्य को ढक दिया था! श्रमिक ने सोचा : सूर्य से बादल महान हैं, इसलिए मैं बादलों की पूजा करूँ। वह बादलों की पूजा करने लगा। एक दिन उसने देखा कि बादल तो पहाड़ से टकरा कर गिर जाते हैं! उसने बादलों से पहाड़ को महान माना और वह बादलों को छोड़कर पहाड़ की पूजा करने लगा।

दूसरे ही दिन उसको विचार आया : पहाड़ को तो मेरे जैसे श्रमिक रोजाना काटते हैं! तो क्या पहाड़ से भी मेरे जैसे श्रमिक महान नहीं हैं? मुझे स्वयं ही महान होने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

श्रमिक पुरुषार्थशील बना और समृद्धि की ओर अग्रसर हुआ।

- अज्ञान के अंधकार में भटकता हुआ मनुष्य, दूसरों के सहारे चाहता है कि कोई एक नया चाँद का टुकड़ा आकर नयी चांदनी फैलाये! कोई देव-पुरुष आकर नवीन जीवन और नवीन उल्लास-उमंग प्रदान करे! कुछ समय का इंतजार करने पर जब ऐसा कुछ नहीं बनता है तब वह क्षुब्ध और आहत हो जाता है।

- मनुष्य अपनी अकर्मण्यता को दुर्बलता नहीं मानता है और 'मैं बेसहारा हूँ... मैं अनाथ हूँ...' ऐसा चिल्लाते हुए अपने आपको ज्यादा दुर्बल बनाता जाता है।

यही है जिंदगी

२३३

केवल भाग्य के सहारे, प्रारब्ध के सहारे जीनेवाले, स्वयं अपने सद्भाग्य के द्वार बंद करते हैं। नये सद्भाग्य का निर्माण करने का प्राप्त सुअवसर खो देते हैं।

- ज्ञानी-उद्बुद्ध पुरुषों ने मनुष्य-जीवन के गीत रचे हैं। उन्होंने मनुष्य-जीवन को पुरुषार्थ का क्षेत्र माना।

- इसी जीवन में पामर पुरुषोत्तम बने!

- इसी जीवन में क्षुद्र भी श्रेष्ठ बने!

- इसी जीवन में संसारी मुक्त बने!

उन्होंने सही दिशा में प्रचंड पुरुषार्थ किया। अखंड पुरुषार्थ किया।

- निश्चित दिशा में पुरुषार्थ करनेवालों को

○ विघ्नों को कुचलना होगा।

○ संकटों में धीर रहना होगा।

○ आफतों का दृढ़ता से मुकाबला करना होगा।

○ दुःखों को हँसते-हँसते सहना होगा।

○ आशा, उत्साह और उमंग को जीवित रखना होगा।

- कभी लेना पड़े दूसरों का सहारा तो लेना, परन्तु कुछ समय के लिये ही। किसी के सहारे जीने की आदत बुरी है।

- दूसरों का सहारा खोजने के बजाय, दूसरों का सहारा बनने का सोचें।

दूसरों का सहारा बनने में भी एक सावधानी रखनी चाहिए : सहारा लेनेवाला व्यक्ति पराश्रित न बन जाये, पुरुषार्थहीन न बन जाये।

- सहारा लेने में 'दीनता' से सावधान रहना पड़ता है।

- सहारा देने में 'अभिमान' से सावधान रहना पड़ता है!

- आत्मबल, आत्मश्रद्धा, आत्मजागृति ही पुरुषार्थ में प्रेरणा बनती है।

पुरुषार्थ करने पर भी निश्चित कालावधि में सफलता प्राप्त नहीं होती है, तब संभव है कि निराशा से मन भर जाये। उस समय हमें ऐसा प्रेरणास्रोत मिल जाये कि जो हमारी निराशा को मिटा कर मृत उत्साह को जीवित करे... तो उसको 'भाग्य' मानना। उस भाग्य का सहारा लेकर पुनःपुरुषार्थ के मार्ग पर चल देना।

यही है जिंदगी**२३४**

परमात्मा तो सदा-सर्वत्र हमारे प्रेरणास्रोत हैं ही। प्रेरणास्रोत के रूप में ही उनका अवलंबन ग्रहण करना है। पुरुषार्थ तो हमें स्वयं ही करना है।

पुरुषार्थशील मनुष्य दुःखों से नहीं डरता है, सुखप्राप्ति के लिए आतुर नहीं होता है।

पुरुषार्थ की आराधना करने के लिए ही यह मनुष्य-जीवन है।



१०६. बोली से पहचानिए

एक राजा था।

वनविहार करने जंगल में गया। साथ में सेनापति था और सैनिक भी थे। राजा को प्यास लगी। पानी नहीं था। राजा ने चारों ओर देखा, दूर एक झोंपड़ी दिखाई दी। राजा ने वहाँ सैनिक को भेजा।

झोंपड़ी में एक अंध पुरुष बैठा था। उसके पास पानी से भरा घड़ा पड़ा था। सैनिक ने कहा : 'ओ अंधे, एक लोटा भर के पानी दे दे।'

अन्ध पुरुष अकड़ गया। उसने कहा : 'चला जा यहाँ से, तेरे जैसे सैनिक से मैं डरता नहीं हूँ। पानी नहीं मिलेगा।' जब पानी लिये बिना सैनिक वापस आया तब सेनापति गया। उसने कहा : 'ओ अन्धे, तू पानी देगा तो तुझे पैसे मिलेंगे।'

अन्ध पुरुष ने कहा : 'तू उस सैनिक का सरदार लगता है। लालच बताकर दबाता है! चला जा यहाँ से, पानी नहीं मिलेगा।'

अब राजा स्वयं उस झोंपड़ी में गया। राजा ने अन्ध पुरुष को प्रणाम किया और बोला : 'प्यास से मेरा गला सूख रहा है। एक लोटा पानी दोगे तो महती कृपा होगी बाबा!'

अन्ध पुरुष ने राजा को अपने पास बिठाया और बोला : 'आप जैसे श्रेष्ठ पुरुषों का मैं राजा जैसा आदर करता हूँ। पानी तो क्या, मेरा शरीर भी आपकी सेवा में हाजिर है।'

राजा ने पूछा : 'आप देख नहीं सकते, फिर भी आपने सैनिक को, सेनापति को और मुझे कैसे पहचान लिया?'

अन्ध पुरुष ने कहा : 'राजन्, वाणीव्यवहार से हर व्यक्ति का वास्तविक व्यक्तित्व ज्ञात होता है।'

- क्या वाणी-स्वातंत्र्य ने ऋषि-मुनियों के उपदेश को भुला दिया है?
- ऋषि-मुनियों ने और मनीषियों ने प्रिय और हितकारी वाणी का उपदेश दिया है। उन्होंने कहा है : प्रिय बोलो और स्व-पर के लिए हितकारी बात बोलो।
- अप्रिय बोलनेवाले अपने आपको 'स्पष्ट वक्ता' मानकर गौरव रखते हैं।
- अप्रिय बोलकर प्रिय बनने की इच्छा रखते हैं! मारते हैं पत्थर और चाहते हैं प्रशंसा!

- कटु-कठोर शब्दों का व्यवहार व्यापक बनता जा रहा है।

- घरों में कटु शब्दों का प्रयोग हो रहा है। धर्मस्थानों में कटु शब्दों का प्रयोग हो रहा है। समाज में और शहरों में कटु शब्दों का प्रयोग हो रहा है। परिणाम?

- क्लेश, द्वेष, वैर, संघर्ष, झगड़े... और हत्याएँ!

- क्योंकि कटु शब्द प्रेम से सुन लेने की शक्ति कटु शब्द बोलनेवालों में नहीं रही है।

- अपने प्रति स्नेह, प्रेम और आदर रखनेवालों के साथ भी कटु शब्दों का उपयोग करने में कौन-सी बुद्धिमत्ता है, यह मैं नहीं समझ पाया हूँ।

- 'बोलने में भी क्या बुद्धिमत्ता चाहिए?' एक प्रश्न आया।

'बुद्धिमत्ता, जीवन के कौन-से व्यवहार में नहीं चाहिए?' मैंने पूछा। यदि आप घर में शांति से जीना चाहते हो तो घर में प्रिय बोलो। यदि आप समाज में शांति चाहते हो तो समाज में प्रिय बोलो। यदि आप अपने सभी संबंधों को अच्छे बनाये रखना चाहते हो, तो सभी संबंधियों के साथ प्रिय बोलो।

- आपके साथ अप्रिय बोलनेवालों के साथ भी आप प्रिय बोलो। इसके लिये अप्रिय शब्दों को शांति से सुनने की कला प्राप्त करनी होगी।

- मैंने देखे हैं कुछ ऐसे परिवार। एक-एक व्यक्ति प्रिय बोलता है... अल्प बोलता है। माता, पिता, पुत्र, पुत्री और नौकर भी! क्योंकि प्रिय बोलने की उनकी कुल-परंपरा है।

- क्या मनुष्य ऐसी अच्छी परंपरा स्थापित नहीं कर सकता?

- माता-पिता आपस में प्रिय शब्दों से वार्तालाप नहीं कर सकते? अपनी संतानों को अच्छा आदर्श नहीं दे सकते? प्रारंभ तो जन्म देनेवालों को ही करना पड़ेगा।

- धर्मस्थानों में तो अप्रिय, कटु और कठोर शब्द बोलने का सख्त प्रतिबंध होना चाहिए। परंतु प्रतिबंध करेगा कौन? अनुशासन के नाम पर अप्रिय और अहितकारी वाणी का स्वातंत्र्य मिला हुआ है।

- व्यक्ति को यदि अपने व्यक्तित्व को उदात्त, उन्नत और तेजोमय बनाना है, तो अपनी वाणी प्रिय और हितकारी बनानी ही पड़ेगी।



१०७. सबसे बड़ी समस्या - 'मैं'!

विश्वप्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक 'कार्ल जुंग' बीमार हुआ। गंभीर बीमारी थी। जुंग की पत्नी को लगा कि 'जुंग बचेगा नहीं।' वह महिला भी विदुषी थी। उसने जुंग को पूछा : 'आप बड़े वैज्ञानिक हैं। इतने सारे वर्ष आपने मानव-मन के अभ्यास में बीता दिये हैं। क्या आज भी आपको ऐसी कोई बात लगती है कि जो आपके लिये रहस्यमय रही हो?'

जुंग ने मंद स्वर में कहा : 'हाँ, मनुष्य जिसको 'मैं' कहता है, वह 'मैं' मेरे लिये आज भी समस्यारूप है। हम 'मैं' के विषय में कुछ भी नहीं जानते हैं। जो कुछ जानते हैं वह केवल आधारहीन धारणाएँ हैं।

- भारत में तत्त्वचिंतन का प्रारम्भ 'कोऽहं' - 'मैं कौन हूँ?' की जिज्ञासा से होता है।

- विदेशों में तत्त्वचिंतन का प्रारम्भ 'सृष्टि कहाँ से उत्पन्न हुई?' की जिज्ञासा से हुआ है।

- हमारे देश में **स्वलक्षी चिंतन** हुआ, विदेशों में **परलक्षी चिंतन** हुआ। क्योंकि हमारे देश में असंख्य वर्षों से 'आत्मा' चिंतन-मनन का विषय रही है।

- विदेशों में सृष्टिविषयक चिंतन हुआ, शरीरविषयक चिंतन हुआ, मनविषयक चिंतन हुआ... परन्तु 'आत्मा' विषयक चिंतन नहीं हुआ। यदि हुआ चिंतन, तो बहुत कम हुआ। इसलिए 'मैं' जो कि आत्मा है, वह समस्यारूप रहा।

- आत्मा है।

- प्रति शरीर में भिन्न-भिन्न आत्मा है।

- शरीर बदलते जाते हैं, नष्ट होते हैं, आत्मा नष्ट नहीं होती, आत्मा तो शाश्वत है, अविनाशी है।

- आँखों से प्रत्यक्ष शरीर दिखता है, स्वजन दिखते हैं, परिजन दिखते हैं, वैभव-संपत्ति दिखती है... आत्मा नहीं दिखती। इसलिए मनुष्य प्रत्यक्ष दिखनेवाले पदार्थों में उलझ गया। प्रत्यक्ष दिखनेवाले पदार्थों के विचार करता है, चिंता करता है, चिंतन करता है।

- जो मन है वह आत्मा नहीं है। आत्मा मन से भिन्न है।

- मन को, परोक्ष आत्मा के साथ जोड़ने से 'मैं कौन हूँ' - यह समस्या सुलझ जाती है।

यही है जिदगी**२३८**

प्रतिदिन 'कोऽहं?' - 'मैं कौन हूँ?' का चिंतन करने की ज्ञानी पुरुषों ने प्रेरणा दी है। जिससे 'आत्मा' स्मृति में बनी रहे।

- मैं शरीर नहीं हूँ, मैं इन्द्रिय नहीं हूँ,

- मैं मन भी नहीं हूँ, मैं आत्मा हूँ!

नयी जिज्ञासा पैदा होती है : 'मैं आत्मा हूँ, कैसी हूँ?'

- इस जिज्ञासा को भी पूर्णज्ञानी महापुरुषों ने तृप्त किया है। 'मैं ज्ञानमय हूँ, मैं दर्शनमय हूँ, मैं चारित्रमय हूँ।'

- 'अभी मैं कर्मों से मलीन हूँ। कर्मजन्य राग-द्वेष के भावों से मलीन हूँ।'

- मुझे अपनी मलीनता दूर करनी चाहिए।

- मैं जैसे शरीर की मलीनता दूर करता हूँ, वस्त्रों की मलीनता दूर करता हूँ, मकान की मलीनता दूर करता हूँ... वैसे मुझे अपनी मलीनता भी दूर करनी चाहिए।

- यह मनुष्य-जीवन मेरी मलीनता दूर करने के लिए मिला है। आत्मा को पूर्णरूपेण विशुद्ध, मनुष्यजीवन में ही किया जा सकता है।

- जो मैं नहीं हूँ, जो अपना नहीं है, उसकी मलीनता दूर करने में जीवन का श्रेष्ठ समय मुझे बरबाद नहीं करना चाहिए। मुझे स्वयं शुद्ध होने का पुरुषार्थ करना है।

- आत्मशुद्धि का पुरुषार्थ ही धर्मपुरुषार्थ है।

- जो आत्मा को शुद्ध करे, वही धर्म।

- वह धर्म है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र।

- ज्यों-ज्यों आत्मा शुद्ध होती जायेगी त्यों-त्यों -

○ विचार पवित्र, प्रशांत और परार्थमय बनेंगे।

○ वाणी हितकारी, प्रिय और सत्य बनेगी।

○ इन्द्रियाँ शान्त, सन्मार्गगामी और संयमित बनेगी।

○ आत्मज्ञान में, शास्त्रज्ञान में निमग्नता आएगी।

○ परमात्मस्वरूप से निकटता प्राप्त होगी।

हे परमात्मन्, मैं (आत्मा) कब ऐसी विशुद्धि प्राप्त करूँगा? इस जीवन में बस, इतना उपकार कर दो... मैं विशुद्ध बन जाऊँ!



१०८. अहंकार अप्रस्तुत है

- नदी में पानी की बाढ़ थी। नदी पर पुल था, परन्तु पुराना था। एक गिलहरी पुल के पास खड़ी थी। उसको नदी पार करनी थी, परन्तु पुराने जीर्ण पुल पर से गुजरने में वह घबरा रही थी। इतने में वहाँ एक हाथी आया। गिलहरी ने हाथी को पूछा : 'बड़े भैया, आप कहाँ जा रहे हो?' हाथी ने कहा : 'नदी के उस पार।'

'क्या आपके साथ मुझे भी ले चलोगे?' गिलहरी गिड़गिड़ायी।

'चल, बैठ जा मेरे ऊपर।' गिलहरी हाथी पर बैठ गयी। हाथी के वजन से लोहे का वह जीर्ण पुल काँपने लगा। हाथी धीरे-धीरे चलता है, फिर भी पुल हिलता है। हाथी सामने किनारे पहुँच गया। गिलहरी नीचे उतर कर नाचने लगी। हाथी ने पूछा :

'क्यों नाचती है?'

'आज हमने गजब का काम किया!'

'क्या?'

'हम दोनों ने मिलकर इस बूढ़े पुल को हिला दिया...!'

- गिलहरी की यह भाषा थी अहंकार की, मिथ्या अहंकार की।
- अहंकार दो प्रकार के होते हैं।
- हाथी अहंकार करता, तो वह सही अहंकार कहलाता!
- गिलहरी का अहंकार मिथ्या अहंकार था।

हालाँकि, अहंकार केवल मिथ्या है, फिर भी एक मनुष्य सही रूप में एक महान कार्य करता है और 'अहंकार' करता है : 'मैंने यह कार्य किया है, मैं ही ऐसा कार्य कर सकता हूँ, दूसरा कोई यह कार्य नहीं कर सकता।'

- ठीक है, मुश्किल कार्य किया है और गर्व धारण करता है। दुनिया सुन लेती है और धन्यवाद भी देती है।

- परन्तु महान कार्य करनेवालों के साथ रहनेवाले, साथ चलनेवाले (कार्य कुछ नहीं करते!) जब गर्व करते हैं तब वे प्रशंसापात्र नहीं बनते, श्रद्धेय नहीं बनते।

- भगवान महावीर स्वामी के साधनाकाल में, स्वयं शिष्य बना हुआ

यही है जिदगी**२४०**

गोशालक, भगवान के साथ-साथ चलता था और भगवान के दिव्य प्रभावों को अपने प्रभाव बताता था। दुनिया ने उसकी हँसी की थी। लोगों ने उसकी पिटाई भी की थी। बार-बार भगवान ने उसको बचाया था।

- पिता के महान कार्यों पर, निष्क्रिय और प्रमादी पुत्र गर्व करता है।

- कहता फिरता है : 'हमने ये-ये बड़े कार्य किये हैं!' जबकि उसने बड़ा सत्कार्य करना तो दूर, छोटा सत्कार्य भी नहीं किया होता है!

- जो कार्य मनुष्य ने नहीं किया है, वह कार्य अपना बताना-बहुत बड़ा दोष है। दूसरों के कार्यों को, शुभ कार्यों को अपने कार्य बताकर प्रशंसा पाने का प्रयत्न कितना बचकाना प्रयत्न है!

- दूसरों के बड़े कार्यों में अपना साथ-सहयोग आटे में नमक जितना न होने पर भी, यह बताने का प्रयत्न करना कि 'इस कार्य में मेरा भरपूर सहयोग रहा है... अथवा मेरी वजह से ही यह कार्य संपन्न हो सका है,' मिथ्या आत्मसंतोष पाने की कितनी अधम मनोवृत्ति है?

- एक मुनिराज मेरे पास बैठे थे। एक भद्र पुरुष ने आकर उनका अभिवादन किया और वह बोला : 'आपने बहुत बड़ी तपश्चर्या की! एक महीने के उपवास किये आपने... धन्य है आपको!' उन मुनिराज ने मेरे सामने देखा... और वे मुस्कुराये। मैंने पूछा : 'आपने कब महीने के उपवास किये?' वह प्रशंसा करनेवाला पुरुष चला गया था। मुनिराज ने कहा : 'मैंने तो महीने के उपवास तो क्या, चार दिन के उपवास भी कभी नहीं किये!' मैंने कहा : 'तो फिर आपने उस भाई को ऐसा क्यों नहीं कहा कि 'महीने के उपवास मैंने नहीं किये हैं।' आपने तो मजे से सुन लिया... प्रशंसा सुन ली!'

- उन्होंने तो कोई जवाब नहीं दिया, परंतु मैंने अपने भीतर को टटोला। क्या मेरे मन में तो ऐसी मिथ्या प्रशंसा सुनने की वृत्ति नहीं पड़ी है न? झूठा यश पाने की मलीन वृत्ति नहीं पड़ी है न? कभी मुझसे कोई मिथ्या अहंकार तो नहीं हो जाता है न?

- उस गिलहरी का किस्सा पढ़कर... अपने भीतर में मैंने गहराई में जाकर टटोला...। ऐसे कुछ विचार-बीज पड़े थे भीतर में! देखकर चकित रह गया।

- खोद-खोद कर उन विचार-बीजों को बाहर निकाले और जमीन में गाड़ दिये... ज्ञानाग्नि में जलाकर! ताकि वे बीज वापस कभी उगे ही नहीं।



१०९. भेदभरी दुनिया में खेद

एक गाँव था।

वहाँ रहते थे परमात्मभक्त रांकाजी। उनकी पत्नी का नाम था बांकाजी।
दोनों जंगल में लकड़ी काटने के लिये जाया करते थे।

एक दिन की बात है।

आगे रांकाजी चल रहे थे, पीछे बांकाजी चल रही थी। बांकाजी थोड़ी दूर
चल रही थी। रांकाजी को ठोकर लगी। उन्होंने देखा तो वहाँ सोने के सिक्के
से भरी थैली पड़ी हुई थी। रांकाजी जमीन पर बैठ गये और उस थैली पर
धूल डालने लगे। बांकाजी ने यह देखा, उसने पूछा :

‘क्या करते हो आप?’

‘सोने से भरी हुई थैली यहाँ पड़ी है। सोना देखकर तेरा मन विचलित न
हो, इसलिए धूल से उसे ढक रहा था...’

बांकाजी ने कहा : ‘मेरे स्वामी, धूल पर धूल ढकने से क्या लाभ? सोने
और धूल में कोई भेद है क्या? सोने और धूल के निरर्थक भ्रम में आप नहीं
रहें।’

पत्नी का निर्लेपभाव देखकर रांकाजी स्तब्ध सा हो गया।

- संसार में सर्वत्र भेद देख रहा हूँ।
- यह पत्थर है, यह हीरा है।
- यह मिट्टी है, यह सोना है।
- यह झोंपड़ी है, यह बंगला है।
- यह अच्छा कपड़ा है, यह गंदा कपड़ा है।
- यह सुन्दर बच्चा है, यह कुरूप बच्चा है।
- यह लावण्यमयी स्त्री है, यह कुरूप स्त्री है।
- यह सुन्दर शहर है, यह गन्दा शहर है।
- यह सुन्दर वृक्ष है, यह उजड़ा हुआ वृक्ष है।
- यह स्वादिष्ट भोजन है, यह बेस्वाद भोजन है।

यही है जिदगी

२४२

- यह अच्छा बिछौना है, यह बिछौना गन्दा है।
 - ये बरतन मूल्यवान हैं, ये बरतन घटिया किस्म के हैं।
 - यह मेरा अच्छा दोस्त है, यह अच्छा दोस्त नहीं...!
- भेद... भेद... और भेद!

अच्छे-बुरे का भेद करता रहता हूँ और राग-द्वेष को बढ़ाता रहता हूँ। फिर भी मानता हूँ 'मैं ज्ञानी हूँ... मैं तपस्वी हूँ...!'

- दुर्भाग्य मेरा यह है कि जहाँ मुझे भेद करना चाहिए, वहाँ मैं अभेद मानकर चलता हूँ।

- शरीर और आत्मा में मैं भेद नहीं करता।
- शुभ विचार और अशुभ विचार में मैं भेद नहीं करता।
- हेय और उपादेय का भेद याद नहीं रहता।

- तीर्थकरों ने कहा है कि इन बातों में भेद करो। फिर भी मैं नहीं करता और मानता हूँ अपने आपको तीर्थकर का परम उपासक! कभी-कभी एकान्त क्षणों में मेरा मन घोर व्यथा का अनुभव करता है। मेरे दंभ पर मन ही मन तिरस्कार छूटता है।

- मुझे शरीर और आत्मा में भेदज्ञान करना है।
- मुझे स्वजन और आत्मा में भेदज्ञान करना है।
- मुझे परिजन और आत्मा में भेदज्ञान करना है।
- मुझे वैभव-संपत्ति और आत्मा में भेदज्ञान करना है।
- आत्मा को ही श्रेष्ठ और उत्तम समझना है।
- शरीर, स्वजन, परिजन, वैभव-संपत्ति की ओर ममत्वहीन बनना है। अनासक्त बनना है।

- और हे भगवंत! मुझे तो ऐसी अवस्था प्राप्त करनी है कि मिट्टी और सोना दोनों में कोई भेद नहीं दिखाई दे। संसार और मोक्ष में मुझे कोई भेद नहीं दिखाई दे।

- क्या मेरे लिये संभव है यह अवस्था?

- मैं कई बार सोचता हूँ... निराशा ही हाथ लगती है। अपना मन मुझे कमजोर, अशक्त और चंचल लगता है।

यही है जिंदगी**२४३**

- कच्चे सूत के धागे के सहारे मैं आकाश को छूने की इच्छा करता रहता हूँ।

- मुझे शरीर दिखता है, शरीर से प्रेम है।

- मुझे आत्मा नहीं दिखती, आत्मा से प्रेम भी नहीं है।

- जीवन बीत रहा है... प्रतिक्षण जीवन कट रहा है...। जहाँ भेद देखना है, वहाँ अभेद देख रहा हूँ। जहाँ अभेद देखना है, वहाँ भेद देख रहा हूँ।

- जीवन का यह बड़ा विसंवाद है... पता नहीं, कब संवादिता स्थापित होगी मेरे जीवन में...!



११०. धारणा पर धीरज के साथ

अनुमान...

मनुष्य को अनुमान करने की आदत है।

वह करता रहता है अनुमान...! चाहे उसके सौ अनुमानों में से दस अनुमान भी सही नहीं निकलते हैं... फिर भी अनुमान करता रहता है!

- अनुमान सही निकलता है, तो खुश होता है, गर्व करता है।

- अनुमान गलत सिद्ध होता है तो नाखुश होता है, दीन बनता है।

- मेरा यह परिचित है, मेरे प्रति श्रद्धा और स्नेह रखता है, उसने एक दिन मुझसे कहा : 'मेरा अनुमान है कि मैं आनेवाले चातुर्मास में आठ दिन के उपवास कर सकूँगा।' परंतु चातुर्मास के बाद जब वह मिला, मुझे मालूम हुआ कि उसका अनुमान गलत निकला था।

- परंतु जब अनुमान के विषय में गहराई में जाकर सोचता हूँ, तो लगता है कि हर मनुष्य के जीवन में अनुमान जुड़ा हुआ है। हर व्यक्ति अनुमान करता है।

- जिन्दगी है तो अनुमान है!

- जीवन के विषय में तो मनुष्य अनुमान करता ही है, मृत्यु के विषय में भी अनुमान करता है!

'मुझे लगता है कि मेरी... इस वर्ष में मौत होगी।'

- मुझे लगता है कि... इतने वर्ष के बाद मैं करोड़पति बनूँगा।'

'मेरा अनुमान है कि शादी होने के बाद लड़का सुधर जायेगा।'

'मेरी ऐसी धारणा है कि लड़का बड़ा डॉक्टर होगा और लाखों रुपये कमायेगा। हमारी (माता-पिता की) सेवा करेगा।'

'मेरा अनुमान है कि इस डॉक्टर की दवाई से मेरा दर्द दूर होगा...'

- ऐसे अनेक अनुमान मनुष्य करता रहता है, परंतु कितने अनुमान सही निकलते हैं?

- 'मेरा यह मित्र तो मुझे कभी धोखा नहीं देगा।' और मित्र ने धोखा दिया... वह घोर निराशा में डूब गया।

यही है जिंदगी**२४५**

- 'मेरा पति कभी भी मेरा त्याग नहीं करेगा।' और पति ने दूसरी स्त्री से शादी कर ली...। उस औरत ने आत्महत्या कर ली।

- ज्ञानी पुरुषों का कहना है कि अनुमान गलत सिद्ध होने पर निराश नहीं होना, दीन नहीं होना...राग-द्वेष में उलझना नहीं। क्योंकि-

- अनुमान सिद्ध होने में निर्णायक तत्त्व होता है मनुष्य का पुण्यकर्म। अलग-अलग प्रकार की सफलता के अलग-अलग पुण्यकर्म कारण होते हैं।

- आप शरीर के आरोग्य के विषय में अनुमान करते हैं। सफलता का आधार है आपके 'शाता-वेदनीय' पुण्यकर्म का उदय।

- आप किसी लाभ के विषय में अनुमान करते हैं। सफलता का आधार है, आपके लाभान्तराय कर्म का क्षयोपशम।

- आप किसी शक्ति को पाने के विषय में धारणा बनाते हैं। सफलता का आधार है, आपके वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम।

- आप इज्जत... लोकप्रियता पाने का अनुमान करते हैं। सफलता का आधार है, आपके यशःकीर्ति-नाम कर्म का उदय।

- आप जीवनमर्यादा का अनुमान करते हैं। सफलता का आधार है, आपका आयुष्य-कर्म।

- आप अपने प्रभाव-प्रताप के विषय में अनुमान करते हैं। सफलता का आधार है, आपका पराघात-नाम कर्म।

- परंतु हम नहीं जानते हैं कि अपनी आत्मा में ये सारे कर्म हैं या नहीं। यदि ये कर्म नहीं हैं, कर्मों का क्षयोपशम नहीं है, तो अपने अनुमान गलत सिद्ध होंगे।

- वे ही अनुमान सफल सिद्ध होंगे, जिनके आधारभूत कर्मों का उदय होगा।

- हम अनुमान नहीं करेंगे, तो भी जब वे कर्म उदय में आयेंगे तब जो प्राप्त होना है, वह प्राप्त होगा ही। जो दुःख दूर होना है, दूर होगा ही।

- सुख और दुःख के विषय में मनुष्य अनुमान नहीं करेगा तो भी चलेगा। क्योंकि अनुमान के आधार पर सुख-दुःख नहीं मिलते हैं।

- सुख-दुःख के आधार, मनुष्य के कर्म हैं। पूर्वजन्मों में जैसे भी कर्म संचित किये हैं, तदनुसार यहाँ सुख-दुःख मिलनेवाले हैं।

यही है जिंदगी**२४६**

- अनुमान करना है, धारणाएँ बनानी हैं, तो शुद्धि-अशुद्धि के विषय में बनायें। आत्मा की शुद्धि के विषय में सोचें।

- मेरी आत्मा इतने समय में कषायों के प्रभाव से मुक्त होनी चाहिए।

- मेरी आत्मा इतने समय में विषयवासना की प्रबलता से मुक्त होनी चाहिए।

- मेरी आत्मा इतने समय में संसार के बंधनों से मुक्त होनी चाहिए और इस दिशा में उचित पुरुषार्थ शुरू कर देना चाहिए।

- अनुमान का विषय बदल दें। सफलता ही सफलता है!



१११. दुःख के कारण जान लो

उस दिन मन बहुत बेचैन बन गया...

वे भाई-बहन थे।

न सुन सकते थे, न बोल सकते थे...।

सुना है और पढ़ा भी है कि दुनिया में मूक और बधिर लाखों की तादाद में हैं, परन्तु सुनना या पढ़ना एक बात है। प्रत्यक्ष देखना, विशिष्ट परिस्थिति में देखना दूसरी बात होती है।

- भाई सुन्दर देहाकृतिवाला था।

- बहन भी सुन्दर देहाकृतिवाली थी।

- दोनों पढ़ाई में तेजस्वी थे!

- श्रीमन्त घराने के ये भाई-बहन थे।

जब वे मेरे पास आए, तब माँ विषादपूर्ण थी, पिता गंभीर थे... परन्तु भाई-बहन स्वस्थ थे!

- बेटे-बेटी की मूकता और बधिरता, माता-पिता को व्यथित करती थी और वह स्वाभाविक भी था।

- पहले तो मेरा मन भी विषाद से भर गया। उनके प्रति करुणा का भाव बहने लगा... परन्तु बाद में कर्मसिद्धान्त के आधार पर चिंतन शुरू हो गया।

- पापकर्म और पुण्यकर्म का कैसा मिश्र उदय!

- पुण्यकर्म ने उन दोनों को स्नेहपूर्ण माता-पिता दिये हैं, श्रीमन्ताई दी है, शरीर-सौष्ठव दिया है... अच्छी बुद्धि दी है... जबकि पापकर्म ने उनकी वचनशक्ति और श्रवणशक्ति छीन ली है...।

- 'कर्मों की ऐसी कुटिलता क्यों?' मन में प्रश्न उठा।

- जो जीव अपनी इन्द्रियों का दुरुपयोग करता है, जो अपने मन का दुरुपयोग करता है उस जीव के साथ कर्म क्रूरता से पेश आते हैं।

- इन भाई-बहन ने पूर्वजन्मों में श्रवणेन्द्रिय का और रसनेन्द्रिय का दुरुपयोग किया होगा। इसलिए इस जन्म में उनको श्रवणशक्ति नहीं मिली और वचनशक्ति नहीं मिली।

यही है जिंदगी**२४८**

- पूर्वजन्मों में जीवदया का पालन किया होगा, इसलिए इस जन्म में निरोगी शरीर मिला और रूप मिला।

- पूर्वजन्मों में दानधर्म का पालन किया होगा, इसलिए इस जन्म में श्रीमन्त घर में जन्म मिला।

- पूर्वजन्म में परमात्मा की पूजा की होगी, इसलिए इस जन्म में सौभाग्य मिला।

- परन्तु आज तो एक ऐसे छोटे बच्चे को देखा कि जन्म से जिसको आँखें नहीं हैं। न सुनता है, न बोलता है, न शरीर निरोगी है...।

- देखकर हृदय काँप उठा।

- 'हर अच्छी-बुरी क्रिया का फल कभी न कभी मिलता ही है' - यह बात दृढ़ हो गई हृदय में।

- किसी जन्म में इस बच्चे ने आँखों का दुरुपयोग किया होगा। किसी की आँखें फोड़ दी होगी!

- इस जन्म में तो उसने कोई दुष्कृत्य नहीं किया है।

- दुष्कृत्य के बिना दुःख नहीं आता है। वर्तमान में दुःख है, तो उसका कारण होना ही चाहिए।

- उसने पूर्वजन्मों में जीवदया का पालन नहीं किया होगा, अन्यथा यहाँ उसको रोगग्रस्त शरीर क्यों मिलता?

- परन्तु, इस बच्चे का जन्म भी श्रीमन्त घर में हुआ है।

- उसके माता-पिता प्रेम से, दया से उसका पालन कर रहे हैं।

- उसको भोजन मिलता है, आराम मिलता है।

- इन बातों के भी कारण होने चाहिए।

पूर्वजन्मों में इस जीव ने दूसरे जीवों को सुख दिया होगा। दूसरों को प्रेम दिया होगा। किसी त्यागी साधुपुरुषों की सेवा कर ली होगी। थोड़ा-सा दान भी दिया होगा!

- मनुष्य अपने जीवन में कभी अच्छा कार्य करता है, कभी बुरा काम करता है...। कभी अच्छी बातें करता है, कभी बुरी बातें करता है...। कभी अच्छे विचार करता है, कभी बुरे विचार करता है...! उसका फल भी उसे उसी प्रकार का मिलता है। सुख-दुःख का सम्मिश्रण!

यही है जिंदगी**२४९**

- इस कार्य-कारणभाव को अपने पूर्ण ज्ञान के आलोक में देखनेवाले करुणावंत परमात्मा ने दुनिया को बताया कि 'तुम्हारी हर क्रिया का फल मिलनेवाला है। बुरे काम मत करो, बुरे वचन मत बोलो, बुरे विचार मत करो...।'

- इस दुनिया के दुःखी जीवों के दुःख देखकर, दुःख के कारणों का विचार करना चाहिए और अपने जीवन को निष्पाप बनाना चाहिए। जीवन को गुणमय और धर्ममय बनाना चाहिए।

- ऐसा यदि करते हैं तो हम तत्त्वज्ञानी हैं, अन्यथा मूर्ख ही हैं।



११२. भाव का प्रभाव

रशियन वैज्ञानिक 'कामेनियोव' और अमरीकी वैज्ञानिक डॉ. रूडोल्फकीर ने पंद्रह वर्षों में हजारों प्रयोग कर सिद्ध किया है कि सद्भावों से, मंगल भावनाओं से भरा हुआ मनुष्य, अपने हाथों में पानी से भरा हुआ घड़ा ले कर, उन मंगलमय भावनाओं को बहाता रहता है, तो उस पानी में गुणात्मक परिवर्तन आता है।

ऐसा पानी, खेत में बोये हुए बीज पर छिड़का गया, तो बीज शीघ्र अंकुरित हुए। बड़े सुंदर फूल आए और फल आए। पौधा ज्यादा स्वस्थ बना।



जब श्रीमद् रत्नशेखरसूरिजी की 'श्रीपाल-कथा' पढ़ी थी, उसमें मयणासुंदरी ने यंत्र का पूजन कर, उस पूजन का जल अपने पति श्रीपाल पर छिड़का तो श्रीपाल का कुष्ठरोग मिट गया - ऐसा पढ़ने में आया था। श्रद्धा से मान भी लिया था। क्योंकि साधना के मार्ग में मैं बुद्धि को महत्त्व नहीं देता हूँ। साधनाओं की भिन्न-भिन्न अनेक प्रक्रियाएँ होती हैं। उन सब में 'क्यों?' और 'कैसे?' मैं नहीं पूछता।

फिर भी बुद्धि है न? वह अपना काम करती रहती है। 'सिद्धचक्र यंत्र का अभिषेक-जल मयणासुंदरी ने श्रीपाल पर छिड़का... और श्रीपाल का कुष्ठरोग मिट गया! कैसे? क्या वह चमत्कार था? चमत्कार था, तो किसका?'

जब-जब बुद्धि ऐसे तर्क-वितर्क करती तब मैं उसे रोकता था। जो विषय श्रद्धा का होता है वहाँ बुद्धि का प्रवेश नहीं होने देना चाहिए, ऐसा मैं मानता रहा हूँ। अथवा साधना के क्षेत्र में जहाँ बुद्धि रुक जाती है, वहाँ से मैं श्रद्धा को साथ लेकर चलता रहता हूँ। कहीं न कहीं बुद्धि की मर्यादा आ जाती है, श्रद्धा की मर्यादा नहीं है। भावों का प्रभाव!



सिद्धचक्र की नौ दिन की आराधना-उपासना करने से मयणासुंदरी के भाव प्रभावशाली बने होंगे। शुभ भाव प्रबल बने होंगे। 'करुणा' तीव्र बनी होगी और ऐसे भावों से परिपूर्ण बन कर उसने सिद्धचक्रजी का जलकुंभ अपने हाथों में लेकर श्रीपाल पर वह जल छिड़का होगा!

- मयणा के भावों पर प्रभाव था सिद्धचक्र का।

यही है जिंदगी

२५१

- पानी पर प्रभाव था मयणा के तीव्र शुभ भावों का।
- शुभ भावों से प्रभावित पानी का प्रभाव पड़ा था श्रीपाल पर!



बात यहीं पूर्ण नहीं होती है।

- शुभ भावों के प्रभावों को ग्रहण करने की पात्रता चाहिए।
 - श्रीपाल ने भी सिद्धचक्रजी की आराधना कर के वैसी पात्रता पायी थी।
- शुभ भावों को ग्रहण करने के लिए भी शुभ भाव चाहिए।
- सिद्धचक्र की आराधना से श्रीपाल ने शुभ... पवित्र... निर्मल भाव पाये थे। उसके मन में किसी भी जीव के प्रति द्वेष-शत्रुता का भाव नहीं रहा था। सभी जीवों के प्रति मैत्री का भाव जगा था। परहित की पवित्र भावना से वह भर गया था।
 - मैत्रीभाव से करुणाग्राहकता प्रगट हुई।
 - करुणाभाव से भाव-प्रभावकता प्रगट हुई।
 - भाव की ग्राहकता चाहिए, तभी भाव की प्रभावकता फलवती होती है।
 - हमें महापुरुषों की परम करुणा के ग्राहक भी बनना है और अपने शुभ भावों के प्रभावक भी बनना है।
 - ग्राहक बनने के लिए मैत्रीभाव की वृद्धि करना है।
 - प्रभावक बनने के लिए करुणाभाव की वृद्धि करना है।



मन्दिर में, हाथों में शांतिकलश लेकर बैठनेवाले, शांतिस्तोत्र का पाठ करते हुए शांतिकलश को पानी से भरनेवाले... यदि मैत्रीभावना से और करुणाभावना से ओतप्रोत हो जायें... तो वह शांतिकलश का पानी अवश्य गुणात्मक परिवर्तन ला सकता है।

- क्रिया शुभ भावों से फलवती बनायी जा सकती है।
- ये सारी क्रियाएँ विशिष्ट ज्ञानी पुरुषों की बतायी हुई हैं।
- वे ज्ञानी पुरुष करुणा के क्षीरसागर थे, मैत्रीभाव की गंगा के प्रवाह थे।
- संसार के सभी जीवों को दुःखों से मुक्त करने की उनकी करुणा थी।
- संसार के सभी जीवों का परमहित करने की उनकी मैत्री थी।

हे प्रभो! आपके अचिन्त्य प्रभाव से मेरे हृदय में मैत्रीभावना के पुष्प खिलें और मैत्रीभावना के रत्नदीपक जगमगाने लगें... बस, इतनी ही मेरी प्रार्थना है।



११३. बचपन चाहता है तुम्हें

‘लोस एन्जिल्स’ नगर की यह बात है।

‘हावर्ड मेक्सवेल’ अपनी बेटी ‘मेलिंडा’ से खूब प्यार करता है। चार साल की अपनी बेटी को अपनी गोद में बिठाकर उसको प्रतिदिन कहानी सुनाता है।

एक दिन मेक्सवेल बाजार से ‘श्री लिटील पिग्स’ नाम की पुस्तक खरीद कर ले आया। उस किताब में से मेलिंडा को कहानियाँ सुनाने लगा। मेलिंडा को मजा आ गया। प्रतिदिन कहानी सुनने का आग्रह करने लगी। मेक्सवेल ने सभी कहानियों को ‘टेप’ कर लिया।

शाम को जब मेक्सवेल घर आया, मेलिंडा ने कहानी सुनाने को कहा। मेक्सवेल ने टेपरेकॉर्डर शुरू कर दिया। मेलिंडा ने चुपचाप सुन लिया और सो गयी। दूसरे दिन भी टेपरेकॉर्डर से कहानी सुन ली। तीसरे दिन उसने मेक्सवेल को कहा : ‘मुझे कहानी सुनाइये।’ मेक्सवेल ने कहा : ‘तू स्वयं टेपरेकॉर्डर शुरू कर के कहानी क्यों नहीं सुन लेती?’

मेलिंडा ने कहा : ‘पप्पा, टेपरेकॉर्डर से कहानी सुन लूँ, परन्तु वह मुझे अपनी गोद में तो नहीं बिठायेगा न?’



- बच्चों को प्रेम चाहिए।
- माता का प्रेम चाहिए, पिता का प्रेम चाहिए।
- बच्चे माता से बातें करना चाहते हैं, पिता से बातें करना चाहते हैं। वे माता से, पिता से कहानियाँ सुनना भी चाहते हैं।
- माता-पिता कहानियों के माध्यम से बच्चों में संस्कारों का सिंचन कर सकते हैं। जीवन जीने की कला सिखा सकते हैं।
- कहानी का माध्यम, बच्चों के लिये विशेष रूप से उपयुक्त होता है।
- बच्चों को माता-पिता का प्रेम मिलने से बच्चों के हृदय कोमल बनते हैं। माता-पिता के प्रति प्रेम बना रहता है, इससे बच्चों में आज्ञाधारिता आती है।
- केवल उपदेश देने से बच्चों को संस्कारी नहीं बनाया जा सकता।
- बच्चों के प्रति आक्रोश करने से उनको सुधारा नहीं जा सकता।
- कटुतापूर्ण व्यवहार करने से बच्चों के हृदय में प्रतिकार की इच्छा प्रबल बनती जाती है।

यही है जिंदगी

२५३

- इसलिए कहता हूँ कि बच्चों से प्रेमपूर्ण व्यवहार करें।
- पिता का प्रेम पैसे पर केन्द्रित हो गया है।
- माता का प्रेम फैशन पर केन्द्रित हो गया है।
- बच्चों को अब माता की गोद नहीं मिल रही है, नौकर की गोद मिलती है। दुर्व्यसनी नौकरों की छाया में बच्चे पलते हैं।
- माताएँ अपना घर भूलती जा रही हैं, परिवार को भूलती जा रही हैं।
- उनको अब क्लबें, सिनेमागृह, सभागृह... वगैरह प्रिय लग रहे हैं।
- बीमार बच्चों के पास नर्स रहने लगी है, माता मार्केटिंग के लिए चली जाती है।
- बीमार बच्चों को दवाई मिलती है, परंतु माता का सान्निध्य और वात्सल्य नहीं मिल रहा है।
- बच्चों को उच्च शिक्षा मिल रही है, परंतु दूर-दूर हॉस्टलों में। उनको सहजीवन... पारिवारिक जीवन का आनंद नहीं मिल रहा है।
- रसोईदारों के हाथ की रसोई मिलती है, माता के वात्सल्यपूर्ण हाथों की रसोई दुर्लभ हो गई है।
- वात्सल्य है कहाँ?
- किसका किसके प्रति वात्सल्य है?
- वात्सल्य का झरना अदृश्य हो गया है।
- स्वार्थ, अभिमान, दुराग्रहों के पत्थर ही पत्थर दिखाई देते हैं।
- संस्कृति की जननी स्वयं विकृति की शिकार हो गई है।
- वात्सल्य का दिखावा कर, क्रूरता का नृशंस व्यवहार करने वाले माता-पिता 'पूजनीय' कैसे बन सकते हैं? उनके चरणों में प्रेम से बच्चे अपना सर कैसे झुका सकते हैं?
- सिर झुकता है, वात्सल्य के चरणों में।
- फैशनेबल कपड़े, इलेक्ट्रॉनिक खिलौने और सौन्दर्य के प्रसाधनों में बच्चों की पराधीन जिन्दगी आनंद ले रही है।
- जब देखता हूँ बच्चों की सृष्टि को, हृदय करुणा से भर आता है। बरबाद होती हुई उनकी जिन्दगी को बचाने के लिए प्रयत्न करता हूँ, तो उनके माता-पिता विघ्न बन जाते हैं... आखिर, बच्चों पर अधिकार तो उनका है न!
- बिना वात्सल्य की, बिना ज्ञानदृष्टि की अधिकार-भावना पराधीन बच्चों की जिन्दगी को बरबाद कर रही है... हे प्रभो! तू ही रक्षा कर।

११४. संबंधों की बुनियाद : विश्वास

एक जिज्ञासु व्यक्ति, एक तत्त्वज्ञानी के पास गया और पूछा : 'मैं संन्यासी बनूँ या गृहस्थ?'

तत्त्वज्ञानी ने कहा : 'जो बनना हो सो बन, परंतु आदर्श-श्रेष्ठ बनना।'

तत्त्वज्ञानी ने अपनी पत्नी को कहा : 'दीपक लाना, कपड़ा बुनने में सरलता रहेगी।' पत्नी घर में चली गई और दीया लाकर पति के पास रख दिया।

तत्त्वज्ञानी ने उस जिज्ञासु के सामने देखा और कहा : 'गृहस्थजीवन में परस्पर का ऐसा विश्वास चाहिए। मेरी पत्नी ने नहीं पूछा कि 'दिन में - मध्याह्न के समय जबकि सूर्य का इतना प्रकाश है, फिर दीये की क्या जरूरत है? जो मेरी इच्छा, वही उसकी इच्छा रहती है।'



विश्वास!

- संबंधों का श्वासोच्छ्वास विश्वास है।
- श्वासोच्छ्वास के बिना मनुष्य मर जाता है, विश्वास के बिना संबंध मर जाते हैं।
- गृहस्थ-जीवन संबंधों का ही पर्याय है।
- जन्म होते ही संबंधों का जन्म हो जाता है। माता-पिता के साथ संबंध हो ही जाता है।
- बाद में संबंधों का जाल फैलता जाता है।
- वही संबंध अखंड-अविच्छिन्न रहता है, जिसकी जड़ में विश्वास होता है।
- परंतु विश्व में जैसे विश्वास का तत्त्व अनादि है, वैसे शंका एवं विश्वासघात का तत्त्व भी अनादि है!
- विश्व अनादि है... विश्व में बहुत से तत्त्व अनादि हैं।
- विश्वास को नष्ट करने वाले शंका के कीटाणु भी मनुष्य के भीतर पड़े हुए होते हैं। परंतु परिपुष्ट विश्वास को वे कीटाणु नहीं लग सकते। कमजोर विश्वास पर शंका के कीटाणु हमला कर देते हैं।
- गृहस्थ-जीवन में परस्पर के संबंध अपेक्षित होते हैं। संबंधों में विश्वास अपेक्षित होता है।

यही है जिदगी

२५५

- बिना विश्वास के संबंधों को निभाना, 'ऑक्सीजन' पर रहे हुए बीमार मनुष्य जैसा है।

- बिना विश्वास के संबंधों को निभानेवालों का जीवन अशांति, उद्वेग, बेचैनी और कटुता से पूर्ण होता है।

- हमारा दूसरों पर विश्वास होना एक बात है। दूसरों का हम पर विश्वास होना दूसरी बात है। हम दूसरों पर विश्वास करते हैं, दूसरों के पुण्य के माध्यम से और दूसरे हम पर विश्वास करते हैं, हमारे पुण्य के माध्यम से।

- विश्वास की आधारशिला 'पुण्यकर्म' है।

- शंका और अविश्वास की जड़ है - 'पापकर्म'।

इस गूढ़ सत्य का जिनको सम्यग्ज्ञान नहीं होता है, वे लोग जीवात्मा को अपराधी मानते हैं।

- हमारे प्रति कोई शंका की दृष्टि से देखता है, अविश्वास की दृष्टि से देखता है, उस समय उसके प्रति दुर्भावना पैदा हो जाती है। वह दुर्भावना पैदा नहीं होनी चाहिए। हमें यह सोचना चाहिए कि 'मेरे पापकर्म का उदय है। मैं विश्वसनीय नहीं रहा।'

- हमें दूसरों के प्रति निष्प्रयोजन शंका की दृष्टि से नहीं देखना चाहिए। यदि देखना है तो उसके साथ संबंध नहीं रखना चाहिए।

- हमने भूल की है, गलती की है और संबंधित व्यक्ति हमें शंका की दृष्टि से देखता है, तो उसके प्रति नाराज नहीं होना चाहिए।

- भूल नहीं की है, कोई गलती नहीं की है, फिर भी संबंधित व्यक्ति हमारी ओर शंका की दृष्टि से देखता है, तो भी उसके प्रति रोष नहीं करना है। 'मेरे पापकर्म के उदय के बिना ऐसा नहीं हो सकता है। पापकर्म के उदयकाल में मुझे विशेषरूप से शांत और स्वस्थ रहना चाहिए।'

- अनेक व्यवहारों में बंधे हुए समाज में विश्वसनीयता को निभाना मुश्किल है। दूसरों के व्यवहारों को माध्यम बना कर देखा जाता है।

- व्यक्तित्व निर्मल होने पर भी दुनिया व्यवहार को ज्यादा महत्त्व देती है।

- इसलिए दंभ पैदा हुआ। व्यवहार को अच्छा रखना, व्यक्तित्व भले ही निर्मल न हो।

- दंभ के आधार पर विश्वास कहाँ तक टिकता है? दंभ का परदा कच्चे धागे का होता है।

- दंभरहित विश्वास ही आपस के संबंधों को मधुर एवं दृढ़ बनाये रखता है।

११५. नहीं किसी से नाराजगी

एक महर्षि का वचन पढ़ा - 'यदि तू धर्मोद्यत है तो किसी की अप्रीति में निमित्त मत बनना।' इस बात पर चिंतन चलता रहा...। क्योंकि मैं धर्मोद्यत हूँ। चारित्रधर्म में उद्यत हूँ, आत्मधर्म में उद्यत हूँ...।

- क्या मैं किसी को नाराज तो नहीं करता हूँ?
- किसी के मन में रोष तो पैदा नहीं करता हूँ?
- किसी को कष्ट तो नहीं पहुँचाता हूँ?

मैंने आत्मनिरीक्षण किया... बेचैन हो गया...।

मेरे जीवन में ढेर सारी ऐसी प्रवृत्तियाँ हैं... जिन प्रवृत्तियों से दूसरे जीवों को अप्रीति होती है, दुःख होता है, मेरे प्रति रोष होता है...।

इससे मैं अशुभ कर्मानुबंध कर रहा हूँ?

अवश्य!

- दूसरों को दुःख पहुँचाने से अशुभानुबंध होता है।
- दूसरों को दुःख-अशांति नहीं पहुँचाने से शुभानुबंध होता है। यह सर्वज्ञ-वचन है, मैं मानता हूँ।

'तो फिर गलत प्रवृत्ति क्यों होती है?'

क्योंकि मैं आत्मभाव में जाग्रत नहीं हूँ, मैं गहरी नींद में हूँ।

मैं सुखों की स्पृहा करता हूँ। मैं वैषयिक सुख के साधन चाहता हूँ। सुखों की तीव्र स्पृहा में से, ऐसी प्रवृत्ति पैदा हो जाती है... जिस प्रवृत्ति से दूसरे जीवों को दुःख हो, अशांति हो।

- जहाँ तीव्र स्पृहा होती है वहाँ जागृति नहीं रहती।
- जहाँ जागृति नहीं होती वहाँ अनुचित प्रवृत्ति हो जाती है।

इसलिए, वैषयिक सुखों की स्पृहा को हृदय से निकाल कर, मुझे आत्मभाव में जाग्रत रहना होगा। जागृतिपूर्वक चलना होगा, जागृतिपूर्वक खाना होगा, जागृतिपूर्वक सोना होगा... जागृतिपूर्वक बोलना होगा... जागृतिपूर्वक लेना होगा और जागृतिपूर्वक देना होगा।

यही है जिंदगी**२५७**

- छोटे-बड़े किसी भी जीव को क्लेश न हो, संताप न हो, अशांति न हो...
वैसा जीवन मुझे जीना है।

- वैसा मेरा संकल्प होगा!

- मेरे मन में भी क्लेश-संताप नहीं होने चाहिए।

- ऐसा जागृतिपूर्ण जीवन होने पर भी कोई मेरे निमित्त अप्रीति-उद्वेग करे तो?

- मुझे क्या करना चाहिए?

- मुझे वह स्थान छोड़ देना चाहिए।

- मेरे निमित्त जहाँ किसी को दुःख होता हो, अशांति होती हो, मुझे वहाँ नहीं रहना चाहिए।

- वैसा स्थान छोड़ने में मुझे कोई दुःख नहीं होगा, अशांति नहीं होगी। मैं स्वस्थ रहूँगा, समताभाव में रहूँगा।

- श्रमण भगवान महावीर अपने साधना-काल में, तापसों के उस आश्रम को, वर्षाकाल में भी छोड़कर नहीं चले गये थे? उनके निमित्त तापसों को अप्रीति हुई थी... क्योंकि भगवान ने उनकी झोंपड़ी का घास खानेवाली गायों को नहीं भगाया। घास खाने दिया था गायों को! स्वयं तो ध्यान में निमग्न रहते थे। तापसों को पसंद नहीं आया...

- भगवान सहजता से चले गये थे! तापसों के प्रति उनके मन में अप्रीति का भाव नहीं जगा था।

- अज्ञानी जीवों के प्रति अप्रीति क्या करना? वे तो करुणा के पात्र होते हैं।

- भगवंत ने अपने श्रमणसंघ के लिए ऐसी ही जीवनपद्धति का प्रतिपादन किया। जिससे किसी भी जीव को दुःख न हो, अप्रीति न हो।

- किसी को अप्रीति न हो उस तरह भिक्षा लेने को कहा। किसी को अप्रीति न हो उस तरह निवास करने को कहा। किसी को अप्रीति न हो उस तरह मल-उत्सर्ग करने को कहा... किसी को अप्रीति न हो उस तरह बोलने को कहा!

- फिर भी अप्रीति हो जाये तो वहाँ से चले जाने की आज्ञा दी!

- मेरे निमित्त किसी जीव को अप्रीति न हो,

यही है जिंदगी**२५८**

- किसी जीव के निमित्त मुझे अप्रीति न हो...

ऐसा जीवन मैं चाहता हूँ।

- पूर्णरूपेण ऐसा जीवन तो मोक्ष का ही जीवन है - मैं जानता हूँ, परंतु... यह आशा तो अशक्त पंगु की 'एवरेस्ट' शिखर पर पहुँचने की आशा जैसी है...।

- खैर, कहते हैं कि आशा कभी तो फलवती होती ही है! फिर, यह आशा तो अच्छी है न?



११६. अपराधी को क्षमा

अपराध की क्षमा नहीं माँगना तो भूल है ही,
परन्तु अपराधी को क्षमा नहीं देना भी बड़ी भूल है।



एक वयोवृद्ध महानुभाव ने एक दिन मुझसे कहा :

मेरी लड़की ने मेरी इच्छा के विपरीत प्रेमविवाह (लव-मेरेज) कर लिया था। मैंने उसको कह दिया था : 'आज से मैं मानता हूँ कि मेरी लड़की मर गई है, मुझे तेरा मुँह मत बताना...।' बाद में तीन बार वह मेरे पास क्षमा माँगने आयी थी, मैंने तीनों समय उसको दुत्कार दिया था। परन्तु मेरा मन हमेशा अशान्त रहा, बेचैन रहा...। गत वर्ष मैं बीमार पड़ा... मौत मेरे सामने थी। मेरे मन में बेटी को क्षमा कर देने का प्रबल भाव पैदा हुआ... मैं अच्छा हो गया! सीधा बेटी के घर गया। बेटी... जमाई... पौत्र मुझे देखकर स्तब्ध रह गये। मेरी आँखें चूने लगीं... मैंने बेटी के सर पर हाथ रख कर क्षमा दे दी और उसको पीड़ा पहुँचाने के अपराध की क्षमा माँग ली।

मैं स्वस्थ हो गया! मेरा मन अब प्रसन्न रहता है...



एक अजब घटना!

एक युवक ने सुनायी थी यह घटना।

'मुझे मेरे पिता ने घर से निकाल दिया था... मेरी भूल थी। २५ वर्ष तक मैं पिताजी से दूर रहा, न मैंने उनका मुँह देखा, न उन्होंने मेरा। २५ वर्ष के बाद अचानक एक दिन शाम को वे मेरे घर पर आए। मुझे उनकी सीरीयस बीमारी का समाचार मिला था। अचानक उनको घर पर आए देख कर मैं चकित रह गया। उन्होंने मुझे क्षमा दे दी... मेरे अपराधों को माफ कर दिया।

वे बैठे ही थे और डाकिया आया। मेरे नाम का टेलीग्राम था... पिताजी की मृत्यु के समाचार थे... सुबह उनकी मृत्यु हो गई थी! मैं स्तब्ध-सा हो गया। घर में जाकर जहाँ पिताजी बैठे थे वहाँ देखता हूँ तो पिताजी नहीं थे... सिर्फ सुगन्ध थी!



यही है जिंदगी**२६०**

- एक पुरुष ने वृद्धावस्था में पुत्री को क्षमा प्रदान कर के शांति पायी,
- दूसरे ने मरने के बाद देव बनकर क्षमा प्रदान की और शांति पायी!
- जो हमसे क्षमा चाहते हैं, उनको क्षमा दे दो।
- उनको अपने अपराधों का अहसास हो गया है, तब तो वे हम से क्षमायाचना करते हैं।
- दूसरों के अपराधों को अपने मन में संग्रहीत कर, हम स्वयं अपराधी बन जाते हैं- यह बात हम नहीं जानते!
- दूसरों की भूलें अपने मन में क्यों भरना? अपने मन को भूलों का भंडार क्यों बनाना?
- ऐसा करने से नुकसान अपने को ही होता है।
- अशांति, उद्वेग, बेचैनी और द्वेष!
- यह नुकसान, लाखों-करोड़ों रुपये के नुकसान से भी ज्यादा है।
- नहीं समझना हो तो मत समझो, आग्रह नहीं है, परन्तु समझ जाँएँ तो शांति है, समता है, प्रसन्नता है।
- क्षमायाचना करनेवाले का तिरस्कार करना, अपमान करना... कहाँ तक उचित है - शान्त दिमाग से सोचना।
- 'यह सच्चे मन से क्षमा नहीं माँगता, कपट करता है, दिखावा करता है।'
- चाहे दिखावा सही, वह नम्र बन कर हमारे पास तो आया है!
- 'उसको हमसे स्वार्थ है, इसलिये आया है...'
- चाहे स्वार्थ सही, आप उसकी स्वार्थपूर्ति न करना, क्षमादान तो दे सकते हैं!
- क्षमा का दान देने से आपको बड़ा फायदा है। नहीं देने में बड़ा नुकसान है। क्षमायाचना सच्चे मन से हो या कपट से हो, आप सच्चे मन से क्षमादान दे दो! अन्यथा, एक दिन आपको क्षमा की याचना करनी पड़ेगी।
- जब तक हम छोटे-बड़े अपराध करते रहते हैं, तब तक हमें दूसरों के अपराधों को भूल जाने का, माफ कर देने का सीखना होगा।
- क्योंकि हर व्यक्ति चाहता है कि दूसरे लोग उसके अपराधों को माफ कर दे।
- हमें अपने अपराधों की माफी चाहिए तो दूसरों के अपराधों को माफ करना ही होगा।



११७. आक्रामक पर औदार्यसहित

उस युवक ने कहा :

‘मुझे विश्व में प्रवर्तित अन्याय, नीचता, त्रास, अधमता, कुटिलता और भ्रष्टाचारों के सामने बगावत करनी है, क्रान्ति करनी है...।’



मैंने उसको कहा :

भैया, जिन अनिष्टों के सामने तू बगावत करना चाहता है, उन अनिष्टों को तूने अच्छी तरह जान लिया है क्या? उन अनिष्टों का अध्ययन किया है क्या? गंभीर चिंतन कर, उन अनिष्टों का विश्लेषण किया है क्या?

- तूने न्याय-अन्याय को सापेक्ष दृष्टि से देखा है क्या?
- नीचता और उत्तमता के उद्गमस्रोतों को देखा है क्या?
- त्रास और दया के विषय में गहन चिंतन किया है क्या?
- सदाचार और भ्रष्टाचारों के औचित्य-अनौचित्य के बारे में गंभीर अध्ययन किया है क्या?

ऐसा चिंतन किये बिना यदि तू क्रान्ति करने जायेगा, तो मुझे लगता है कि तू दूसरों के प्रति अन्याय कर बैठेगा! तू दूसरों पर त्रास बरसा देगा... नीचतापूर्ण व्यवहार कर देगा!

- कुछ भी करने से पहले, सोचना आवश्यक है।
- कुछ कर डालने की जल्दबाजी अनर्थ पैदा करती है।
- जल्दबाजी में चिंतन को स्थान नहीं होता।
- इसलिये तो भगवान महावीर ने कहा कि जैसे पुण्य को जानना है, वैसे पापों को भी जानो।
- पुण्य करना है, पहले पुण्य को जानो।
- पाप नहीं करना है, पहले पापों को जानो।
- जानने की क्रिया व्यापक, गहन और गंभीर बनानी चाहिए।
- थकना नहीं है जानने का परिश्रम करने में! अनवरत जानते रहना है।
- जानना अनंत है! - समझना अनंत है!

- जानने... समझने में न रहेगा राग, न रहेगा द्वेष!
- आत्मा को जानते हुए अनेक लोग परमात्मा बन गये।
- पुण्य को जानते-जानते अनेक जीव सहजता से पुण्यशाली बन गये! - पापों को जानते हुए अनेक जीव निष्पाप बन गये!

दूसरों को पापमुक्त करने की इच्छा है न?

इसका भी यही सरल उपाय है : पाप करनेवालों को पापों के विषय में चिंतनशील बना दो। उनको चिंतन के लिये प्रेरित करते रहो। उनके ऊपर आक्रामक मत बनना। उनको नियंत्रित करने का प्रयास मत करना।

- यह अधिकार तेरा नहीं है।
- आक्रामक चिंतनशील नहीं होता है और जो चिंतनशील नहीं होता है... वह मूर्ख होता है। मूर्ख आक्रामक हो जाये तो?
- महावीर तीर्थंकर थे न? धर्मतीर्थ के प्रवर्तक थे न? फिर भी वे किसी के ऊपर आक्रामक नहीं बने।

- आक्रामक शिष्य के प्रति भी आक्रामक नहीं बने... कई दिनों तक वे जमाली मुनि को समझाते रहे... कभी भी अपने अधिकार का उपयोग नहीं किया। जमाली को सोचने के लिये प्रेरित करते रहे। ठीक है, जमाली को नहीं समझना था, वह चला गया!

- जमाली के चले जाने से दुनिया में कोई विप्लव नहीं हो गया... न कोई प्रलय आ गया!

- मैं तुझे कहता हूँ : जिस पाप से तुझे मुक्त होना है, उस पाप के विषय में तू निरंतर अध्ययन कर, मनन कर। महीनों तक... वर्षों तक चिंतन करता रह... पाप स्वतः छूट जायेगा! पाप का राग टूट जायेगा!

- निरंतर परिश्रमपूर्वक अध्ययन करते रहो,
- अध्ययन की वार्षिक, द्विवार्षिक योजना बना लो,
- जिस ज्ञानी पुरुष का ग्रंथ पढ़ा, उसके हृदय तक पहुँचने का प्रयत्न करो।
- अध्ययन के बाद मनन, चिंतन करने से अपूर्व आनंद की अनुभूति करोगे। जीवत्व के साथ तादात्म्य होता जायेगा... और तुम्हारा हृदय स्नेह-सहानुभूति से परिपूर्ण होता जायेगा।

- दुनिया में बुराइयाँ दिखेगी, परंतु कोई बुरा नहीं लगेगा!



११८. खुदी को जरा बुलंद करो

जंगल में से एक यात्रीवृंद गुजर रहा था!

रास्ते में एक विशालकाय वृक्ष गिरा हुआ पड़ा था।

एक यात्रिक बोला : 'हवा का तूफान प्रचंड था... देखो, ऐसा विशालकाय वृक्ष भी धराशायी हो गया है...।' दूसरे यात्रिकों ने सहमति में कहा : 'सही बात है, तूफान भारी था...।'

एक वनवासी यात्रिकों का वार्तालाप सुन रहा था, उसने कहा :

'आप की बात सही है, तूफान भारी था, परंतु इस वृक्ष की जड़ें खोखली हो गई थीं इसलिये धराशायी हो गया! यदि जड़ें मजबूत होतीं... तो घोर तूफान के बीच भी खड़ा रहता। देखो, दूसरे वृक्ष खड़े हैं न? उनकी जड़ें मजबूत हैं।'



- संसार में आधि-व्याधि-उपाधियों की तेज हवा चलती ही रहती है।
- कभी शारीरिक रोगों का तूफान आता है।
- कभी आर्थिक नुकसान का तूफान आता है।
- कभी सामाजिक बदनामी की आंधी उठती है।
- कभी स्नेही-स्वजनों के मनमुटाव की आंधी चलती है।
- आंधी और तूफान! आग और बाढ़...!
- जो कमजोर हैं, वे मिट्टी में मिल जाते हैं।
- जो खोखले हैं, वे हवा में उड़ जाते हैं।
- जो अशक्त हैं, वे बाढ़ में बह जाते हैं।
- जो भयभीत हैं, वे आग में जल जाते हैं...!

मनुष्य की जड़ है उसका मनोबल। जिसका मनोबल दृढ़ होता है, जिसका मनोबल वज्र जैसा दृढ़ होता है, वह मनुष्य आंधी में धराशायी नहीं होता, तूफान में उड़ नहीं जाता, आग में जल नहीं जाता... बाढ़ में बह नहीं जाता!

महासती और महापुरुष वे कहलाये, जिनका मनोबल दृढ़ था! संकटों की भयानक आंधी उन पर से गुजर गयी... परंतु अडिग खड़े रहे! वे गिरे नहीं, जले नहीं, बहे नहीं, उड़े नहीं! हिमालय जैसे अडिग रहे। मेरु की तरह निश्चल रहे।

यही है जिदगी**२६४**

- दुःख, आपत्ति, संकट तो संसार में स्वाभाविक है। संसार का मानो स्वभाव है! - इनको भूतकाल में कोई नहीं मिटा सका है। न तीर्थकर मिटा सके, न चक्रवर्ती।

- असंभव को संभव बनाने की चेष्टा बालचेष्टा है।
- जो संभवित है, उसको पाने का पुरुषार्थ करना बुद्धिमत्ता है।
- अशक्त मन को सशक्त बनाना संभवित है।
- भयभ्रान्त मन को सुदृढ़ बनाना संभवित है।
- कमजोर मन को सुदृढ़ बनाना संभवित है...।
- खोखले मन को ठोस बनाना संभवित है...।

बना लो मन को ऐसा निर्भय, सुदृढ़, सशक्त और ठोस! बस, फिर आने दो आंधी को, तूफान को और झंझावात को। वे हमें हिला सकेंगे, गिरा नहीं सकेंगे!

- मामूली 'हार्ट-एटेक' आया... और गिर गया...!
- थोड़ा-सा आर्थिक नुकसान हुआ... और गिर गया...!
- थोड़ी-सी बदनामी हुई... और गिर गया...!
- किसी ने धोखा दिया... और गिर गया...!

चारों ओर गिरे हुए मनुष्यों का श्मशान दिखायी दे रहा है आज। पौरुषहीन पुरुषों की संख्या बढ़ती जा रही है। दुःख और वेदना के चीत्कारों से भूमंडल आक्रान्त हो गया है।

- शक्तिहीनता, सत्त्वहीनता और पौरुषहीनता - मन के गंभीर रोग हैं। मन की गंभीर बीमारी है। उसको मिटाने के उपाय तुरंत करने होंगे।
- महामंत्र नवकार के स्मरण से।
- परमात्मा के भावपूजन से।
- तत्त्वज्ञान के गहन अध्ययन से...
- सत्त्वशील पुरुषों के निरंतर समागम से मन सत्त्वशील बनेगा, शक्तिशाली बनेगा... निश्चल और निर्भय बनेगा।

ऐसे मन से जीवनयात्रा करने का आनंद अद्भुत होता है। मनुष्य-जीवन इस तरह जीना है!



११९. बोलो, पर सोच-समझकर

पत्थर ने फूल से कहा : 'तू मेरी शक्ति जानता है? मेरे एक ही प्रहार से तुझे चूर-चूर कर सकता हूँ।'

फूल ने मुस्करा कर कहा : 'मित्र, तब तो तुम मुझ पर बड़ा उपकार करोगे! मेरी सुगंध चारों ओर फैलेगी!'



- न पत्थर बोलता है,
- न फूल जवाब देता है!

इस प्रकार के प्रतीकात्मक संवाद मनुष्य को अभिनव जीवनदृष्टि प्रदान करने के लिए रचे जाते हैं।

- जो पत्थर जैसे कठोर हृदय के लोग होते हैं, वे दूसरों को कुचलने में अपनी शक्ति की सार्थकता समझते हैं।

किसी के तन को कुचलते हैं, किसी के मन को।

- पत्थर नहीं जानता है कि उसको भी कोई तोड़नेवाला है! उसको भी कोई पीसकर 'पावडर' बनाने वाला है!

परंतु, आज मुझे पत्थर की बात नहीं करनी है, आज तो फूल के प्रत्युत्तर का विश्लेषण करना है। बहुत अच्छा लगा फूल का प्रत्युत्तर।

फूल तो प्रिय लगता ही है, फूल का प्रत्युत्तर बहुत प्रिय लगा! क्योंकि इस प्रत्युत्तर में **Positive thinking** भरा हुआ है।

- विधेयात्मक चिंतन!

- पत्थर की बात सुनकर फूल घबराया नहीं, डर से मुरझाया नहीं। यदि वह निषेधात्मक चिंतन करता तो भय से मुरझा जाता।

- वह कह देता - 'नहीं, नहीं, मुझ पर प्रहार मत करना... मैं मर जाऊँगा...' अथवा अकड़ कर बोलता - 'कर तो सही प्रहार... कैसे करता है प्रहार... मैं भी देख लूँ...'। यदि ऐसा प्रत्युत्तर देता, तो मैं समझता कि वह कागज का फूल है... पौधे का फूल नहीं!

- उसने कहा : 'तेरा प्रहार भी मेरे लिये उपकारी सिद्ध होगा। मेरे कुचल जाने से मेरी सुगंध ज्यादा तीव्र होकर चारों ओर फैलेगी। मेरा अस्तित्व इसीलिये तो है! दूसरों को सुगंध देना!'

यही है जिंदगी

२६६

- उत्तम पुरुषों के गुणों की, सत्कार्यों की सुगंध, प्रायः उनकी मृत्यु के बाद ज्यादा फैलती है!

- समताभाव से जिन्होंने कुचला जाना पसंद किया, उनके गीत हजारों वर्ष तक दुनिया गाती रही है और गाती रहेगी।

- समताभाव का स्रोत है, विधेयात्मक चिंतन-‘पॉजीटीव थिंकिंग!’

- वे खंधक मुनि!

राजा के सेवकों ने जाकर कहा : ‘हमारे राजा की आज्ञा है आप के शरीर की चमड़ी उतार लेने की...।’

- मुनिराज ने उसी समय कह दिया : ‘भैया! तुम्हारा उपकार मानता हूँ। ऐसा उपकार तो सहोदर भी नहीं कर सकता। उतारो शरीर की चमड़ी... तुम कहो जैसे खड़ा रहूँ... तुम्हें चमड़ी उतारने में सरलता रहे...!’

- यह था मुनिराज का **Positive thinking!** विधेयात्मक चिंतन! ऐसा चिंतन वही मनुष्य कर सकता है, जो हर परिस्थिति के लिये तैयार होता है।

- सुख और दुःख जिसको समान लगते हैं! सुख से लगाव नहीं, दुःख से द्वेष नहीं!

- हर बात में कोई शुभ अंश छुपा हुआ होता है... जो मनुष्य उस अंश को देख लेता है, वह निर्भ्रान्त होकर, हर परिस्थिति को स्वीकार कर लेता है।

- औरंगजेब की सेना मंदिरों का ध्वंस करती हुई गुजरात में पहुँची। एक मंदिर में वृद्ध पुजारी था। सेनापति ने कहा : ‘हम मंदिर तोड़ेंगे।’

पुजारी ने सेना देखी। ‘ये लोग मंदिर तोड़ेंगे ही,’ समझ लिया और निर्भयता से कहा : ‘तुम्हें तोड़ना है तो भले तोड़ो मंदिर, मुझे भी खुशी होगी!

क्योंकि एक मंदिर टूटेगा... अनेक मंदिर पैदा होंगे। एक-एक पत्थर में से एक-एक मंदिर पैदा होगा!’

- ऐसा ही हुआ। हजारों नये मंदिर बन गये!

निषेधात्मक चिंतन, भय-चिंता-वेदना पैदा करता है। क्यों करें जैसे विचार? जीवन-व्यवहार में विधेयात्मक चिंतन का प्रयोग करेंगे!



१२०. देकर के लीजिए

एक महानगर की सुन्दर होटल के द्वार पर बोर्ड लटक रहा था- 'प्रिय ग्राहक! भीतर पधारिये, हमारा स्वादिष्ट भोजन कीजिए! आपकी कृपा से हम भी भोजन पा सकेंगे!'



यह तो ग्राहकों को आकर्षित करने के लिए पब्लिसिटी है, परंतु इसमें से एक गूढ़ रहस्य फलित होता है। हालाँकि यह रहस्य उस पब्लिसिटी करनेवाले को भी ज्ञात नहीं होगा!

- 'दूसरों को भोजन देने से हमें भोजन मिलता है' - इस बात पर कभी एकांत में चिंतन किया है? नहीं न?

- 'हमारे देने से दूसरों को भोजन मिलता है' - यह विचार दिमाग में जमा हुआ है न? यह विचार क्या सही है? सोचना।

- सच तो यह है कि दूसरों को भोजन देने से हमें भोजन मिलता है!

- वह देने की क्रिया मैत्रीप्रेरित, दयाप्रेरित, भक्तिप्रेरित या कर्तव्यप्रेरित होनी चाहिए।

- होटलवाले की पब्लिसिटी में से तो स्वार्थ की दुर्गंध ही आती है। उसका निमंत्रण स्वार्थप्रेरित है।

- सद्भावप्रेरित निमंत्रण सुगंध प्रसारित करता है।

- 'दूसरों को सुख देने से हमें सुख मिलता है' - इस सत्य को स्वीकार करनेवाला मनुष्य, सुख बाँटने के लिये दूसरों को प्रेम से निमंत्रित करता है।

- सुख लेने के लिये कोई द्वार पर आता है, वह खुशी से झूम उठता है।

कोई भोजन लेने आता है, कोई पानी लेने आता है, कोई वस्त्र लेने आता है, कोई आश्रय लेने आता है, कोई पैसे लेने आता है, कोई ज्ञान लेने आता है, कोई आश्वासन... सहानुभूति लेने आता है...

- यदि है आपके पास देने को, हर्षविभोर होकर दिया करो!

- देने योग्य वस्तु आपके पास क्यों है- जानते हो? आपने पूर्व-जन्म में दूसरों को दिया था!

यही है जिंदगी

२६८

- लेनेवाले पूज्य हैं तो भक्तिभाव से दो, लेनेवाले मित्र हैं तो प्रेमभाव से दो, लेनेवाले दुःखी हैं तो करुणाभाव से दो, लेनेवाले संकट में हैं तो सहानुभूति से दो!

- लेनेवाले लेते हैं... वे आप पर उपकार करते हैं!

- आप देकर उपकार नहीं करते, वे लेकर आप पर उपकार करते हैं- यह बात बराबर याद रखना!

- क्या आपने 'कर्मसिद्धांत' पढ़ा है?

- दूसरों को सुख देनेवाला मनुष्य कौन-सा कर्म बाँधता है - यह बात आपने 'कर्मशास्त्र' में पढ़ी है? मैंने पढ़ी है... सिर्फ पढ़ी ही नहीं है, उस पर वर्षों तक चिंतन किया है। इसलिये कहता हूँ कि इस जीवन में हो सके उतना सुख दूसरों को दो।

- सुख पाने का सरल उपाय है : दूसरों को सुख देना।

- केवल मनुष्य को ही नहीं, पशु-पक्षी को भी सुख दिया करो।

- आप ऐसा पुण्यकर्म बाँधोगे... कि जब वह पुण्यकर्म अपना फल देने लगेगा... तब आपके पास सुखों का हिमालय जितना ढेर कर देगा।

- हाँ, कभी हमारे पास देने योग्य सुख न हो और हम न दे सकें, संभव है। परंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि हम दूसरों को दुःख दें।

- दूसरों को दुःख देने से,

- दूसरों का सुख छीनने से,

- दूसरों के सुख की ईर्ष्या करने से, आप स्वयं दुःखों से भर जाओगे।

- हमारे दुःखों का कारण यह है।

- दूसरे कोई हमें दुःखी नहीं करते हैं, हम ही दुःखों को निमंत्रण देते हैं।

- इस जीवन में इस भूल को दोहराना नहीं है।

- इस जीवन में तो दुःखों को स्वीकार करते हुए, दूसरों को सुख देने का ही काम करना है।

'आईये हमारे पास, सुख को स्वीकार कर, हमें सुखी करने की कृपा कीजिए!'



१२९. अभी आगे और मुकाम है

- **आशा**, प्रतीक्षा और स्वप्न, मनुष्य को कहीं नहीं ले जा सकते।
 - उसके चारों ओर की स्थितियाँ ही उसके लिये सब कुछ निर्धारित करती हैं - वांछित-अवांछित, अनुकूल-प्रतिकूल।

- अलबत्ता, स्थितियाँ-परिस्थितियाँ मनुष्य की नियति के अधीन होती होंगी, परन्तु नियति को अज्ञानी कैसे जान सकता है? नियति निश्चित है, हम अनिश्चित हैं।

- नियति के साथ-साथ हमारी आशाएँ नहीं चलती हैं, हमारे स्वप्न नहीं चलते हैं। नियति कुछ होती है, हमारी आशाएँ कुछ और! हम सुखों की आशाएँ संजोये रखते हैं हमारे भीतर और सफलता की प्रतीक्षा करते रहते हैं। स्वप्न भी उन सुखों के देखते रहते हैं!

प्रतिकूल नियति हमारी आशाओं को मिट्टी में मिला देती है, हमारे स्वप्नों को हवा बना देती है।

- आदत हो गई है आशाएँ करने की!

- व्यसन हो गया है सुख के स्वप्न देखने का!

दूसरे बाह्य व्यसनों से छूटना आसान है, इस भीतरी व्यसन से छूटना आसान नहीं है। इस व्यसन से कैसे छुटकारा हो? - चिंतन का विषय बन गया है।

- स्थितियों-परिस्थितियों के प्रति आक्रोश करना व्यर्थ है। परिस्थितियों के निर्माण में दूसरे मनुष्यों के दोष देखना भी व्यर्थ है। परिस्थितियों के पीछे नियति खड़ी है! मनुष्य की खुद की नियति!

- जो कुछ हमारे लिये निश्चित है, हमें सहजता से उसको स्वीकार कर लेना चाहिए। सहजता से सुख-दुःख को स्वीकार कर लेना चाहिए। सहज जीवन में ही सहज शांति मिलती है।

‘मुझे किसी सुख की आशा नहीं है, किसी सुख की प्रतीक्षा नहीं है... किसी सुख के स्वप्न नहीं हैं।’ पुनः-पुनः इस संकल्प को भीतर में दोहराते रहना है।

- वर्तमान नियति में परितृप्ति!

- हर परिस्थिति का सहज स्वीकार!

- कोई फरियाद नहीं, कोई शिकायत नहीं!

यही है जिंदगी**२७०**

- जो परिस्थिति आज हमारे सामने है - वही हमारी नियति है।
- वर्तमान नियति को ही हम जान पाते हैं, वर्तमान क्षण की नियति को ही! दूसरे क्षण की नियति से हम अनभिज्ञ हैं।
- हाँ, दूसरे क्षण नियति बदल सकती है!
- इस क्षण जीवन है, दूसरे क्षण मृत्यु हो सकती है।
- इस क्षण प्रिय का संयोग है, दूसरे क्षण वियोग हो सकता है।
- इस क्षण निरोगिता है, दूसरे क्षण रुग्णता हो सकती है।
- इस क्षण स्वाधीनता है, दूसरे क्षण पराधीनता हो सकती है।
- इस क्षण शांति है, दूसरे क्षण अशांति हो सकती है।
- नियति निश्चित है... प्रत्येक जीवात्मा की।
- उत्थान और पतन निश्चित है, प्रत्येक जीवात्मा के।
- उन्नति और अवनति निश्चित है, प्रत्येक जीवात्मा की।
- प्रत्येक जीवात्मा अपनी-अपनी नियति से आबद्ध है। नियति के बंधन से कोई जीवात्मा मुक्त नहीं है!
- भय, चिंता और उद्वेग से मुक्ति मिलेगी।
- हर्ष-विषाद और रति-अरति से मुक्ति मिलेगी।
- न रहेगा कर्तृत्व का अभिमान, न रहेगा निष्फलता का अवसाद!
- परस्पर के संबंध-स्नेहसंबंध भी नियति के अधीन हैं। 'संबंधों का बनना-बिगड़ना नियति के अधीन है' - इस सत्य को हजम करने पर संबंधजन्य राग-द्वेष से मुक्ति मिलेगी... जीवसृष्टि के प्रति सहज मैत्री बन जायेगी।
- आशा, प्रतीक्षा और स्वप्न हमें कहीं नहीं ले जा सकते हैं, न हमें कुछ बनाते हैं, हमारी नियति ही हमें स्वर्ग में या नरक में ले जायेगी। हमें मनुष्य, पशु या देव, नियति बनायेगी।
- अदृश्य, अश्राव्य और अस्पृश्य है, यह नियति का तत्त्व! सभी आत्माओं के साथ जुड़ा हुआ है।

हर एक मुकाम से आगे मुकाम है तेरा।

जिंदगी नियति के खिलौने के सिवा और कुछ नहीं!



१२२. बदला लेने की रीत

'Worldly Goods' नाम की नोवेल में 'पोल फास्टर' ने एक सुंदर वाक्य लिखा है : Living well is the best revenge. 'दुश्मनी का बदला लेने का उत्तम मार्ग है सुंदर जीवन जीना।'

क्या पता, पोल फास्टर को यह सत्य अमरीकन प्रेसीडेन्ट अब्राहम लिंकन से प्राप्त हुआ होगा या दूसरे से, परंतु लिंकन के मुँह से भी एक बार ऐसे ही शब्द निकले थे।

अब्राहम लिंकन ने एक बार अपने दक्षिण के विरोधियों की प्रशंसा की। सुन कर एक महिला झुंझला गई : 'क्या आप अपने दुश्मनों की प्रशंसा करते हो? दुश्मनों का तो नाश ही करना चाहिए।'

लिंकन ने मुस्करा कर कहा : 'वही तो मैं कर रहा हूँ! उनकी सच्ची प्रशंसा कर, उनको मैं अपने मित्र बना रहा हूँ! क्या इस तरह मैं दुश्मनों का नाश नहीं कर रहा हूँ?'

- दुश्मन... शत्रु... वैरी... द्वेषी! कोई हमारे होते हैं, हम किसी के होते हैं।
- जो महात्मा होते हैं, जो सत्पुरुष होते हैं, जो योगी होते हैं, वे किसी के शत्रु नहीं होते हैं, परन्तु उनके प्रति दुश्मनी रखनेवाले, शत्रुता रखनेवाले लोग होते हैं!

- भगवान महावीर जीवमात्र के मित्र थे, परंतु उनके प्रति शत्रुता रखनेवाले गोशालक वगैरह अनेक लोग थे।

- राम के शत्रु थे और कृष्ण के भी शत्रु थे।
- हेमचन्द्रसूरि के शत्रु थे और उपाध्याय यशोविजयजी के भी शत्रु थे।
परंतु भगवान महावीर ने शत्रुता के सामने, दुश्मनी के सामने हिंसा का मार्ग नहीं लिया, अहिंसा और करुणा का मार्ग लिया।

- हिंसा का मार्ग सामान्य वीर का होगा, अहिंसा का मार्ग महावीर का है।
- शत्रु का नाश नहीं, शत्रु को मित्र बनाकर शत्रुता का नाश करना है।
- अपने प्रति शत्रुता-दुश्मनी रखनेवालों के प्रति 'मुझे इन्हें भी मित्र बनाने हैं,' ऐसा विचार पैदा होना चाहिए हृदय में।

यही है जिंदगी**२७२**

- 'चाहे वे मुझे दुश्मन मानें, मैं उनको मित्र मानता हूँ और मानता रहूँगा।' ऐसा दृढ़ संकल्प चाहिए।

- शत्रु को मित्र बनाने के लिये मन में मैत्रीभाव, वाणी में प्रशंसा और कार्य में हितकारिता रखनी होगी।

- वह कुछ भी सोचे, कुछ भी बोले, कुछ भी करे... हमें उसकी उपेक्षा करनी होगी और हमको निर्वैर भावना को अक्षुण्ण रखते हुए सुंदर जीवन जीना होगा। - मुश्किल तो है महावीर के मार्ग पर चलना। परंतु सत्य और प्रशस्त मार्ग यही है।

- हमने सहनशीलता खो दी है। हम असहिष्णु बन गये हैं।

- हम अपने एक शब्द की निंदा भी समता से नहीं सुन सकते। निंदा करनेवाले को दुश्मन मानते हैं।

- थोड़ा-सा भी हमारा अहित करने वाले को, नुकसान करने वाले को हम मित्र नहीं मान सकते हैं, शत्रु ही मानते हैं।

- संसारी की ऐसी स्थिति है, साधु भी ऐसी स्थिति में दिखायी देते हैं। शत्रु के प्रति शत्रुतापूर्ण वाणी और व्यवहार।

- प्रेम, मैत्री और करुणा के प्रति विश्वास ही नहीं रहा है।

- फिर परमात्मा के प्रति विश्वास किस बात का? विश्वास नहीं रहा है, विश्वास होने का दंभ हो रहा है - फिर भी निर्दंभ होने का दिखावा...!! समझदार होने का दिखावा! ऐसे समझदारों को तो भगवान भी नहीं समझा सकते।

- कोई हमारे साथ कैसा भी व्यवहार करे, हमें तो शुभ, सुंदर और मंगलमय जीवन ही जीना है। इसलिए हमें अपनी सहनशक्ति बढ़ानी है। दुःखों को सहने की शक्ति प्राप्त करनी है। किसी भी जीव को दुःखी करने का तो विचार भी नहीं करना है।

- ऐसा जीवन कब बनेगा? ऐसा जीवन... महावीर का मार्ग जँच तो गया है दिल और दिमाग को, परंतु हो नहीं रहा है ऐसा जीवन। दुःख है इस बात का हृदय में। चिंता भी होती रहती है कि 'इस मनुष्य-जीवन को यदि सुंदर नहीं बनाया... तो फिर क्या होगा?'

हे प्रभो! मेरे समग्र अस्तित्व को प्रेममय, मैत्रीमय और करुणामय बना दो... आप से और कुछ भी नहीं माँगता हूँ।



१२३. कहाँ से कहाँ तक?

चीन का प्राचीन तत्त्वचिंतक 'लाओत्से' रास्ते पर से गुजर रहा था। एक परिचित ने पूछा : 'आप कहाँ जा रहे हो?'

लाओत्से ने कहा : 'मैं जहाँ से आया हूँ, वहाँ वापस जा रहा हूँ।'

उस पुरुष ने कहा : 'लेकिन इस तरह अदृश्य हो जायेंगे तो लोग चिंता करेंगे आपके विषय में।'

लाओत्से ने कहा : 'मेरा जन्म हुआ तब मैं अज्ञानी था, इसलिए जन्म के समय थोड़ी आवाज... थोड़ी हलचल... और थोड़ा शोर हुआ था। परंतु मेरी मृत्यु ज्ञानी की मृत्यु है। मृत्यु के समय कोई आवाज न हो - उसकी मैं सावधानी रखता हूँ। मेरी मृत्यु कोई घटना न बन जाए, इसका खयाल करता हूँ।'

- अज्ञानी जनमता है तो शोर और आवाज!

- अज्ञानी जीता है तो शोर और आवाज!

- और अज्ञानी मरता है तो भी शोर और आवाज!

- एक मात्र तीर्थकरों को छोड़ कर, जो भी जीव जनमता है, अज्ञानी ही होता है और उसका रोना... चिल्लाना स्वाभाविक होता है। परंतु जो ज्ञानी होते हैं (तीर्थकर) वे जनमते समय भी रोते नहीं हैं, चिल्लाते नहीं हैं।

- अज्ञानी को हँसना पसंद आता है, रोना और रुलाना भी पसंद आता है। बस, आवाज करना! बोलते रहना! चिल्लाते रहना!

- ऐसे लोग मरते हैं तो भी चिल्लाते हुए! एक घटना बन जाती है उसकी मृत्यु। लोग याद रखते हैं उस मृत्यु की घटना को- 'अरेरे, बेचारा मरते समय कितना कराहता था? कितना चिल्लाता था? नरक की वेदना सहते हुए मरा।'

- अज्ञानी को घटनाएँ ज्यादा पसंद आती हैं। घटना में लोगों की दिलचस्पी भी अधिक होती है।

- मौन... शान्त... ध्यानस्थ व्यक्ति की ओर लोग नहीं देखते हैं, परंतु कोई गरज-गरज कर बोलता है, सड़क पर दौड़ता है, रोता है या गाता है... तो लोग उसको देखते हैं। कुछ नहीं तो जोर-जोर से खाँसता रहता है तो

यही है जिदगी**२७४**

आसपास के लोग तो उसको देखेंगे ही! अज्ञानी को घटना पसंद आती है - ज्ञानी पुरुष घटना पसंद नहीं करते।

ज्यों-ज्यों ज्ञान की परिणति बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों ज्ञानी मौन के महासागर में उतरता जाता है। दुनिया के लोगों से अलिप्त बनता जाता है। लोग उसको भूल जायँ, यह बात उसको पसंद आती है।

- वे अपने जीवन को 'घटना' नहीं बनने देते। वे शांति से, मौन से जीना पसंद करते हैं, वैसे मृत्यु भी नीरव शांति में ही पाना चाहते हैं। मौन के महासागर में डूब जाना चाहते हैं।

- दुनिया के लोग ऐसे ज्ञानी पुरुषों के आगे-पीछे शोर करते हैं, जयजयकार की ध्वनि करते रहते हैं। - दुनिया के लोग तो शोर करेंगे ही। उनको शोर मचाने में ही मजा आता है।

- ज्ञानी शोर के बीच भी मौन रहते हैं। भीतर भी मौन और बाहर भी मौन! भीतर भी शान्त और बाहर भी शान्त!

- मौन के महासागर में गोते लगाते हुए उनको भीतर में परमात्मा के दर्शन हो जाते हैं। परमात्मा भीतर ही मिलते हैं न। अपूर्व आनंद की अनुभूति होती है वहाँ।

- फिर वे बाहर के क्षणिक आनंद की इच्छा भी क्यों करेंगे? इच्छा उठने का सवाल ही नहीं रहता।

वे समता-समाधि और ज्ञान-ध्यान में लीन रहते हैं। विश्व का अवलोकन भी वे मध्यस्थ भाव से करते रहते हैं।

- आत्मना आत्मानमात्मनि पश्यति।

आत्मा से आत्मा को वे देखते हैं। - आत्मा से बाहर कुछ भी नहीं! 'अणु' को देखने-परखने में भी विज्ञानी को कितनी सूक्ष्मता में उतरना पड़ता है! तो फिर अणु-परमाणु से भी बहुत ही सूक्ष्म आत्मा में उतरने के लिये... कितनी गहराई में जाना पड़े?

- मौन से, शांति से... समता से ही भीतर की गहराई को छू सकते हैं... कि जहाँ परमात्मा का दर्शन होता है, दिव्य आनंद की अनुभूति होती है।



१२४. 'यह भी चला जायेगा'

अब्राहम लिंकन के टेबल पर यह सूत्र रहता था-

'This day also will pass.'

'यह दिन भी चला जायेगा!'

- जब मनुष्य शान्त और प्रसन्न होता है तब वह यह नहीं सोचता है कि 'कब यह दिन पूरा होगा?' परंतु जब वह अशान्त होता है, दुःखी होता है तब यह सोचता है कि 'कब यह दिन पूरा होगा?' वह ऐसा महसूस करता है कि जैसे समय स्थगित हो गया है... सूर्य स्थिर हो गया है...!

- ऐसे अशान्त, उद्विग्न और संतप्त मनुष्य को अपने समक्ष यह सूत्र रखना चाहिए - This day also will pass!

- समय कभी स्थगित नहीं होता है। काल का प्रवाह अविरत गति से बह रहा है। अनंत काल से बहता रहा है, अनंत काल तक बहता रहेगा। अनादि-अनंत है कालप्रवाह!

- मन को यह सत्य जँचना चाहिए। जब नरक और निगोद का भयानक दुःखमय काल व्यतीत हो गया है तो फिर इस मनुष्य-जीवन का ५०-१०० साल का काल व्यतीत होने में क्या देर लगेगी? एक दिन व्यतीत होने में क्या देर लगेगी?

- धैर्य धारण करना होगा।

- हाँ, कुछ दुःख तो समय के साथ बह जाते हैं।

- दुःख के विचारों से, अशांति के निमित्तों से मन को मुक्त करने की कला प्राप्त करनी होगी और वह कला है, अपने प्रिय.. मनपसंद कार्यों में ओतप्रोत रहना।

- इसलिए, अपने प्रिय कार्य एक-दो नहीं परंतु पाँच-दस होने चाहिए।

क्योंकि प्रिय कार्य भी दीर्घकाल तक करते रहने से मन थक जाता है। यदि हमें दूसरे भी कार्य प्रिय हैं तो एक कार्य के बाद दूसरा कार्य कर के मन को आनंद से भरा हुआ रख सकते हैं। दिन, महीना, वर्ष... कब पूरा हो जायेगा, मालूम ही नहीं पड़ेगा।

यही है जिंदगी

२७६

- कभी ऐसा भी होता है कि एक कार्य करने के संयोग नहीं होते हैं तब दूसरा प्रिय कार्य कर सकते हैं। वह कार्य करने के संयोग नहीं हो तो तीसरा प्रिय कार्य कर सकते हैं।

- एक महिला इसलिए दुःखी थी कि वह बीमारी की वजह से तपश्चर्या नहीं कर सकती थी और तपश्चर्या उसका प्रिय विषय था। मैंने उसको कहा : 'तुम परमात्मभक्ति करके अपनी आत्मा को संतुष्ट करती रहो।' परंतु परमात्मभक्ति उसका प्रिय विषय नहीं था! मैंने कहा : 'तुम अच्छी संस्कारपोषक किताबें पढ़ती रहो और प्रसन्नता से समय व्यतीत करो।' उसको किताबें पढ़ने में भी रस नहीं था। मैंने कहा : 'तुम परमात्मस्मरण-जाप करती रहो।' उसको जाप-ध्यान में भी रस नहीं था! उसको तो केवल तपश्चर्या में ही रस था और वह तपश्चर्या नहीं कर सकती थी। इसलिए उसका समय उदासी से व्यतीत होता था। अंत में मैंने कहा : 'धैर्य धारण करो, बीमारी दूर हो जायेगी और तुम पुनः तपश्चर्या करने में समर्थ बनोगी।' तब उसके मुख पर प्रसन्नता आ गयी!

- जिन लोगों के पास अच्छे कार्य नहीं होते हैं, घर का काम भी नहीं होता है, सामाजिक प्रवृत्ति या धार्मिक प्रवृत्ति में रस नहीं होता है, वैसे लोग 'टाइम पास' करने के लिये सिनेमा देखते हैं, विडियो देखते हैं, हॉटलों में जाते हैं, शराब पीते हैं... जुआ खेलते हैं और ऐसा करते हुए वे अपने मन-वचन-काया को नष्ट कर देते हैं।

- प्रिय कार्य भी अच्छा होना चाहिए। जीवन को ऊर्ध्वगामी बनानेवाला होना चाहिए। स्वयं के लिये और दूसरों के लिये हितकारी होना चाहिए। ऐसे कुछ अच्छे कार्यों में रसानुभूति होती रहे... तो जीवन सदैव, प्रतिक्षण आनंद से परिपूर्ण बना रह सकता है।

- अन्यथा, कोई भी उपाय नहीं है शांति और सुख पाने का। संसार में कोई एक विषय का आनंद सदैव प्राप्त नहीं हो सकता है।

संयोगों के परिवर्तन के साथ हमारे प्रिय कार्य बदलते रहने चाहिए। कार्य के परिवर्तन में कोई ग्लानि नहीं होनी चाहिए। कोई हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिए। एक प्रिय कार्य छोड़कर दूसरा प्रिय कार्य अपनाने में हिचकिचाहट कैसी? भोजन करने के बाद आराम करने में क्या मनुष्य हिचकिचाता है?



१२५. प्रेम 'प्लस पाइंट' देखता है

'चेखोव' की एक अच्छी-बढ़िया कहानी है।

एक स्त्री अपने पति को दूसरी स्त्री के विषय में कहती है : उस स्त्री ने एक भ्रष्ट, पापी मनुष्य के साथ शादी की...कैसी अधोगति? उसकी जगह में होती और मेरा पति वैसा होता तो एक क्षण भी उसके साथ मैं नहीं रहती, उसको छोड़कर चली जाती।

पत्नी की बात सुनकर पति धीरे से अपने जीवन की बात करता है कि उसने कैसे-कैसे भ्रष्टाचार किये थे, कैसे पापकार्य किये थे। पत्नी कहती रही : 'ना, ना, ऐसा तो आप करें ही नहीं... अथवा ऐसे-ऐसे संयोग में आपको वैसे काम करने पड़े होंगे...।' परंतु पति ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि मैंने ऐसे गलत कार्य किये ही हैं।

चेखोव लिखता है : पाठक मुझे पूछेंगे - 'क्या यह सब सुनकर पत्नी पति को छोड़कर चली गई?' 'हाँ, चली गई, परंतु पास वाले कमरे में!'



कितनी मर्मस्पर्शी कहानी लिखी है चेखोव ने!

मनुष्य के मन की गहराई को छूती है यह कहानी।

- जहाँ... जिसके प्रति प्रेम होता है, उसके दोष देखने पर भी मन दोष नहीं मानता है, दोष सुनने पर भी दोष नहीं मानता है।

- दोष सुनकर या देखकर वह समाधान कर लेता है मन के साथ - 'क्या करें? ऐसे संयोग में ऐसी गलती हो ही जाती है। अथवा इसमें क्या हो गया? यह कोई गलती है क्या...?'

- जिसके प्रति प्रेम नहीं होता है, लगाव नहीं होता है... अरुचि या अभाव होता है... उसका छोटा-सा भी दोष देखकर या सुनकर उस दोष को बड़ा देखता है मनुष्य। दोष को 'एन्लार्ज' कर वह दुनिया के सामने रखता है।

- उस स्त्री को अपने पति से प्रेम था इसलिए पति स्वयं अपने दोषों को बताता है, फिर भी मानने को तैयार नहीं होती है! उन गलतियों को महत्त्व नहीं देती है। इससे उसका पतिप्रेम अखंड रहता है। क्लेश और झगड़े से वह बच जाती है। दोनों का जीवनप्रवाह अस्खलित बहता रहता है। भविष्य में प्रेम के माध्यम से वह पति के दोषों को सुधार भी सकती है।

यही है जिंदगी

२७८

दूसरी बात :

- दोषदृष्टि से जिसके भी दोष मनुष्य देखता रहता है, उसके प्रति द्वेष हो ही जाता है।

- फिर दोष-प्रकाशन का काम होता है।

- बाद में वैर बंध जाता है।

- लड़ाई और खून-खराबा हो जाता है।

- जिंदगी ऐसे ही व्यर्थ पूरी हो जाती है।

- परन्तु जिंदगी का सार्थक्य, दोषदर्शी कहाँ समझता है? दूसरों से प्रेम... स्नेह... सहानुभूति रखने की बात उनके जड़ दिमागों में कहाँ उतरती है? उनको मजा आता है (क्षणिक) सिर्फ दूसरों के दोष देखने में, दूसरों की निन्दा करने में... और दूसरों से घृणा करने में।

- यह सब करने के बाद ये लोग भोगते रहते हैं, अशांति और उद्वेग। सहते रहते हैं, त्रास और विडंबनाएँ। फिर भी वे अपनी दोष-दर्शन की भूल नहीं समझ पाते हैं। पुनः-पुनः यह भूल करते रहते हैं और...

- तीर्थकरों ने और सभी आप्तपुरुषों ने 'गुणदर्शन' करने का उपदेश दिया है, मार्गदर्शन दिया है।

- 'दोष अपने देखो, गुण दूसरों के देखो।'

परन्तु कौन मानता है इस उपदेश को? कौन जीता है अपने जीवन में इस उपदेश को? उपदेश केवल शास्त्रों में रह गया है।

- दूसरों के दोष देखनेवाले क्या स्वयं दोषरहित हैं? परन्तु दोषदर्शी की यह आदत होती है कि जो दोष उसमें होता है, वह दोष दूसरों में देखकर निन्दा करना! अरे, दूसरों में दोषारोपण भी करते हैं और निन्दा करते हैं।

- गुणदर्शन ही करते रहें। दोष देखनेवालों में भी हमें गुण दिखाई दें...। आत्मा के... विशुद्ध आत्मा के अनंत गुण दिखाई दें... बस, जीवन सार्थक बन जाए।



१२६. तुलना को भूलना होगा...!

तुलना!

मनुष्य की आदत हो गई है तुलना करने की।

वह अपने से बड़े के साथ अपनी तुलना करता है, जैसे अपने से छोटे के साथ भी अपनी तुलना करता है।

जब बड़े के साथ तुलना करता है तब हीनभावना से भर जाता है और जब छोटे के साथ तुलना करता है तब श्रेष्ठता के अहंकार से भर जाता है।

- हीनता की भावना और श्रेष्ठता की भावना - दोनों खतरनाक हैं। हीनता की भावना में से उदासी और निराशा पैदा होती है। कभी ईर्ष्या भी पैदा होती है।

- 'यह मेरे से ज्यादा धनवान है, यह मेरे से ज्यादा बुद्धिमान है, यह मेरे से ज्यादा लोकप्रिय है, यह मेरे से ज्यादा बलवान है...'

- कभी उसको गिराने की इच्छा होती है, कभी स्वयं गिर जाता है!

- हीनभावना से प्रेरित होकर छोटे भाई ने बड़े भाई के घर में जाकर भोजन में जहर मिलाया है।

- हीनभावना से प्रेरित होकर भाई ने बहन की जिंदगी में आग सुलगाई है।

- हीनभावना से प्रेरित होकर मनुष्य ने आत्महत्या कर ली है।

- हीनभावना से प्रेरित होकर मनुष्य ने दूसरों की हत्या करने के प्रयास किये हैं।

ऐसे ही श्रेष्ठता की भावना के कटु परिणाम देखने में आते हैं।

- दूसरों को दुत्कारना, दूसरों के साथ अशिष्ट व्यवहार करना,

- अशिष्ट, असभ्य और कठोर भाषाप्रयोग करना,

- कभी दूसरों को कष्ट देना, दूसरों की हत्या करना।

इस प्रकार दोनों प्रकार की भावनाओं के कटु परिणाम हैं, ऐसा जानकर, इन भावनाओं से मुक्त होना चाहिए। परंतु मन कहता है - 'कोई एक भावना तो आ ही जाती है।'

क्योंकि हम अपने जीवन-कार्यों में रस नहीं लेते हैं। हम अपनी सुन्दर कल्पनासृष्टि नहीं रच सकते हैं।

यही है जिंदगी

२८०

- अपने स्वयं के कुछ अच्छे रचनात्मक कार्य होने चाहिए और उन कार्यों को ज्यादा से ज्यादा सुन्दर बनाने का निरंतर प्रयत्न होना चाहिए।

- अपने और अपने मित्रों के लिये सुन्दर भविष्य की कल्पनाएँ होनी चाहिए। केवल कल्पना नहीं, परंतु योजनाबद्ध कल्पनाएँ होनी चाहिए।

- यदि हम हमारा छोटे से छोटा कार्य भी सुन्दर बनाने के लिये दत्तचित्त होंगे तो वे हीनभावनाएँ और उच्चता की भावनाएँ हमारे मन में प्रवेश ही नहीं कर पायेंगी।

- हमारे छोटे-बड़े कार्यों में हमें मस्त रहना है। चाहे हमारे चारों ओर क्षुब्धता हो, कोलाहल हो या प्रपंच हो। है भी सही यह हमारे चारों ओर। फिर भी हमारे प्रिय कार्य में हमें मस्त रहना है।

- हाँ, जहाँ प्रेम की अपेक्षा हो वहाँ हार्दिक प्रेम देना, परंतु ममता का खाली दिखावा नहीं करना। वैसे ही, दूसरों के प्रेम को केवल दिखावा नहीं मानना है, प्रेम को वक्रता से नहीं देखना है।

- यदि हीनभावना से मन भरा हुआ होगा तो दूसरों का प्रेम केवल दिखावा लगेगा, दूसरों की ममता सिर्फ प्रवंचना लगेगी।

- यदि श्रेष्ठता की भावना से मन भरा हुआ होगा तो खुद का प्रेम सच्चा लगेगा, दूसरों का प्रेम दंभ।

- परंतु ये दोनों प्रकार की असत् भावनाएँ निष्क्रियता में से पैदा होती हैं। जब मनुष्य के पास कोई अच्छा... प्रिय कार्य नहीं होता है, वह निष्क्रिय होता है... तब बैठे हुए ऐसी तुलनाएँ करता रहता है।

इसलिए कहता हूँ कि बिना प्रयोजन दूसरों की संपत्ति मत देखो, दूसरों का परिवार मत देखो, दूसरों का व्यक्तित्व मत देखो, आप तो अपने ही कार्यों में निमग्न रहो जीवनपर्यंत! जब कार्य न हो तब परमात्मा के जाप-ध्यान में निमग्न हो जाना।

स्वस्थ... प्रसन्न और संतुलित जिंदगी जीने का क्या यह सही रास्ता नहीं है?





आचार्य श्री कैलाससागरसूरि ज्ञानमंदिर
कोबा तीर्थ

Acharya Shri Kailassagarisuri Gyanmandir
Sri Mahavir Jain Aradhana Kendra
Koba Tirth, Gandhinagar-382 007 (Guj.) INDIA
Website : www.kobatirth.org
E-mail : gyanmandir@kobatirth.org

ISBN : 978-81-89177-11-9